भीष्म साहनी का कथा साहित्य: एक अध्ययन
A STUDY OF THE FICTION OF BHISHAM SAHNI

THESIS SUBMITTED TO
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
FOR THE DEGREE OF
DOCTOR OF PHILOSOPHY

by
RAVI P.

Supervising Teacher
Prof. (Dr.) P. V. VIJAYAN

Head of the Department
Prof. (Dr.) N. RAMAN NAIR

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
COCHIN - 682 022

1990

C E R T I F I C A T E

This is to Certify that this **THESIS** is a bonafide record of work carried out by **P.RAVI**, under ision for Ph.D. Degree and no part of this is has hitherto been a degree in any University.

Department of Hindi,

Cochin University of
Science & Technology,

COCHIN - 682 022.

Date:

Dr.P.V.VIJAYAN

Professor

(SUPERVISING TEACHER)

A C K N O W L E D G E M E N T

This work was carried out in the Department of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Cochin-682022 during the tenure of fellowship awarded to me by the Cochin University of Science and Technology. I sincerely express my gratitude to the Cochin University of Science and Technology for this help and encouragement.

P. RAVI.

Department of Hindi,

Cochin University of
Science & Technology,

COCHIN - 682 022.

Date:

पुरोवाक्

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य में भीष्म साहनी का शीर्षस्थ स्थान है । उनकी रचनायात्रा स्वाधीनता के साथ शुरु हुई । नई कहानी से शुरु हुई उनकी रचना-यात्रा उसकी काल सीमा का उल्लंघन करके उसकी सामाजिक सजगता को बनाए रखने का काम करती रहती है । कहानी के क्षेत्र में अनेक वाद एवं आन्दोलन उमडकर आये हैं और सब अल्पायु रहे हैं । लेकिन भीष्म जी कहानी-विधा पर अपने प्रगतिशील विचार के बल पर अचंचल रहें । साथ ही साथ वे उपन्यास साहित्य के प्रगतिशील चिन्तन के समर्थक के रूप में शीर्षस्थ हो रहे हैं । "चीफ की दावत" का प्रकाशन 1956 में हुआ जिसके साथ नई कहानी आन्दोलन में उनका नाम अंकित हुआ है । "तमस" के पहले उनके दो उपन्यास प्रकाशित हुए हैं परन्तु 'तमस" के प्रकाशन के बाद ही उपन्यासकार के रूप में उनका नाम चर्चित होने लगा । फिर एक छोटी अवधि से उनका नाम एवं उनकी रचनायें जनता के आकर्षण केन्द्र बन गए हैं ।

स्वातंत्र्योत्तर अन्य रचनाकारों की रचनाओं के बारे में शोधपरक अध्ययन एवं आलोचनात्मक अध्ययन हो चुके हैं । भीष्म जी के कथा साहित्य के बारे में अभी तक कोई मौलिक अध्ययन नहीं निकला है, चाहे शोधपरक हो या आलोचनापरक । "भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना" नामक एक संकलित ग्रंथ मात्र अभी तक निकला है । उसमें ही तीन कहानियाँ, भेट-वार्तायें आदि भी संकलित हुई हैं । इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर युग के प्रमुख रचनाकार अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता एवं कलात्मक संयमिता के बावजूद अनदेख गया है । भारतीय समाज के अभिशाप सांप्रदायिक समस्यायें, नारी शोषण एवं आर्थिक विपन्नता को इतनी सूक्ष्म एवं संयमित दृष्टि के साथ संवारने में उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में भीष्म साहनी के कथा-साहित्य का अध्ययन, विशेषकर प्रगतिशील दृष्टि से किया है । प्रथम अध्याय में भीष्म जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के अध्ययन विश्लेषण करने का प्रयास किया है । क्योंकि कृतियों की वास्तविक पहचान और परख केलिए लेखकीय व्यक्तित्व एवं परिवेश की जानकारी अनिवार्य है । व्यक्तित्व एवं परिवेश के अलावा रचना-प्रक्रिया पर भी ध्यान देना और भी लाभदायक सिद्ध होगा । इसलिए मैं ने पहले अध्याय में उनके जीवन परिवेश, शिक्षा एवं धंधा, उनप पडे प्रभाव आदि के साथ उनकी रचना प्रक्रिया, साहित्यिक मान्यतायें और राजनीतिक संबन्ध का अध्ययन प्रस्तुत किया है ।

दूसरे अध्याय में तीनों उपन्यास - झरोखे, कडियाँ और बसन्ती-का अध्ययन है । इसकी भूमिका के रूप में उपन्यास और यथार्थ, हिन्दी उपन्यास की परम्प और सामाजिक दृष्टि और उपन्यासों में सामाजिक जीवन का संश्लिष्ट अध्ययन जोड दिया गया है । उपन्यास और सामाजिक यथार्थ, दोनों का जन्म आधुनिक काल में एक साथ ही हुआ है । सामाजिक यथार्थ को उसकी पूर्णता एवं समग्रता के साथ अभिव्यक्ति देने को ही उपन्यास का विकास हुआ है । इस प्रकार उपन्यासों में सामाजिक जीवन कं अभिव्यक्ति मिलती है । हिन्दी उपन्यास अपने आरंभ से ही सामाजिक यथार्थ की पटर पर ही चलता रहता है और उसकी मुख्य चेतना सामाजिक ही है । झरोखे उपन्यास आत्मकथात्मक है । इसमें लेखक के बचपन एवं परिवेश का सही चित्र है । आर्यसमाजी अनुशासन एवं ढाँचाबद्ध चिन्तन के कारण स्वतंत्र व्यक्ति चरित्र नहीं विकसित होता है । कडियाँ में आधुनिक पति-पत्नी संबन्ध एवं पारिवारिक विघटन के साथ उसके कारण हुए विभिन्न संस्कारों का भी अध्ययन प्रस्तुत किया है । बसन्ती भारत की राजधानी दिल के नव निर्मित कॉलनियाँ और उसके बगल की गली की झोंपडियों के जीवन के जरिए सामाजिक जीवन के वैषम्य को परखा है, साथ ही नारी स्वतंत्रता केलिए छटपटाती बसन्ती को परिवेश के अन्तर्गत प्रस्तुत किया है । इस प्रकार इन उपन्यासों में समाज के विभिन्न क्षेत्रों के सामाजिक जीवन को आंका गया है ।

तीसरा अध्याय "तमस" के विशेष सन्दर्भ में है। इसमें भारत विभाजन ए विघटनावाद के कारणों एवं परिणामों का अध्ययन किया गया है । भारत विभाजन अ तत्संबन्धी विभीषिकाओं के चित्रण करनेवाले अनेक उपन्यास हिन्दी में प्रकाशित हुए हैं । "तमस" के अध्ययन के पहले उनमें मुख्य उपन्यासों का संक्षिप्त विवरण देकर मैं ने "तमस" । विशेषताओं एवं सफलताओं पर ज़ोर दिया है । उसकी कथा सुगठित न होने पर भी कथानक सशक्त एवं प्रासंगिक है । तमस के हेतु राजनीतिक या धार्मिक हैं, इसके अन्वेषण में मुझे उसका मुख्य कारण राजनीतिक ही नज़र आया है, जिसके पोषक रूप में आर्थिक, धार्मिक स्वार्थ भी देख सकते हैं । इसके बाद "तमस" की कारुणिक चित्रों के अध्ययन द्वा उसमें निहित मानवीयता को और उसकी त्रासदी को भी पकडने की कोशिश की है । अध्याय के अन्त में आज के सन्दर्भ में तमस की असंदिग्ध प्रासंगिकता का उल्लेख किया है भारत में मौजूद मध्यकालीन परिवेश में "तमस" की प्रासंगिकता बढती ही रहती है ।

चौथा अध्याय भीष्मजी की कहानियों पर आधारित है । इसमें नई कहानी का सामान्य परिचय देते हुए, उसकी सामाजिक चेतना पर विशेष बल दिया है आगे भीष्मजी की कहानियों का वस्तुपरक अध्ययन चार उपशीर्षकों में करने का प्रयास है उनकी कहानियों में मध्यवर्ग को विशेष स्थान मिला है क्योंकि वे खुद मध्यवर्ग के जीवन । परिचित हैं । कहानियों में उनका ध्यान सबसे अधिक उक्त मध्यवर्गीय जीवन की विकृति एवं विसंगतियों पर है । उसकी पकड में वे काफी-कुछ सफल हुए हैं । उनकी कहानियों की और एक विशेषता है उसमें अन्तर्लीन व्यंग्य । कहानी पढते समय व्यंग्य कहानी नहीं लगता है, परन्तु पढने के बाद सोचते वक्त उसके व्यंग्य क्षमता से हम परिचित होंगे । उनका व्यंग्य सतही न होकर वह गहरा एवं अर्थ व्यंग्य है । "तमस" में सांप्रदायिकता संबन्धी उनका दृष्टिकोण स्पष्ट किया गया है । उन्होंने अपनी कहानियों में इसे कैसे और भी व्यक्त करना चाहा है, इसपर भी मैं ने प्रकाश डाला है । इस अध्याय के अन्त में उनकी कहानियों की दशा और दिशा की ओर ध्यान दिया है ।

पाँचवें अध्याय में उनके कथा साहित्य की प्रगतिशील चेतना को संवारने का प्रयास है । इसकी भूमिका के रूप में प्रगतिशील चेतना का स्वरूप एवं विकास और हिन्दी कथा साहित्य की प्रगतिशील परम्परा का संक्षिप्त अध्ययन किया है । साम्राज्यवा पूंजीवादी, सामन्तवादी और धर्मिक शक्तियों के पारस्परिक गढबन्धन के बीच तड़पते मानव को धार्मिक शोषण के प्रति असन्तोष उपशीर्षक के अन्दर निरूपित किया है । धर्म एक तरह की अफीम है, उसकी नशा में लोगों को सुलाकर शोषक वर्ग अपना काम सीधा करते हैं । उनकी नारी संवेदना विशेष ध्यान देने योग्य है । बसन्ती, कड़ियाँ जैसे उपन्यासों और अनेक कहानियों में उनकी नारी संवेदना प्रकट हुई है । अन्तिम भाग में निम्नवर्ग के प्रति भीष्म जी की सहज संवेदना को व्यक्त करने की कोशिश की है मोटे तौर पर इस अध्याय में आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक शोषण के विविध परतों पर प्रकाश डाला गया है और उसमें भीष्म जी की सफलता की ओर संकेत भी है ।

छठे अध्याय में कथा शिल्प की विवेचना करके भीष्म जी के कथा साहित्य की शिल्पगत अध्ययन किया है । इसमें पहले उनके उपन्यासों के शिल्प पर और बाद में कहानियों की शिल्पविधि पर भी प्रकाश डाला है । उनके औपन्यासिक शिल्प में कथानक, पात्र-संकल्पना और भाषिक संरचना मुख्य हैं तो कहानियों के सन्दर्भ में कथा विन्यास, भाषा एवं सांकेतिकता ही मुख्य हैं । उपन्यास एवं कहानी में उनकी अनलंकृत शिल्प पद्धति विशेष ध्यान देने योग्य है ।

उपसंहार में प्रगतिशील कथा साहित्य और भीष्म साहनी के संबन्ध एवं उसकेलिए उनके योगदान पर भी विचार किया है । प्रगतिशील कथा साहित्य में भीष्म ज का नाम अद्वितीय है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध कोचिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय के हिन्द विभाग के प्रोफसर विजयन जी के सारस्वत निर्देशन में सम्पन्न हुआ है । विजयन जी जैसे प्रगम्य आचार्यवर की छत्रछाया में काम करने का अवसर जो मिला उसे मैं अपने जीवन का परम सौभाग्य समझता हूँ । मेरे चिन्तन को उन्होंने समय-समय पर संवारा है ।

उनकी विनम्रता का मुझ पर गहरा असर भी रहा है । विजयन जी के प्रति मैं बडी श्रद्धा के साथ मेरी हार्दिक कृतज्ञता अर्पित करता हूँ ।

हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा. रामन नायर जी के प्रति भी मैं आभारी हूँ, जिन्होंने इस शोधकार्य में मुझे प्रेरणा दी है । उनके प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ ।

विभाग के प्रोफसर आदरणीय अरविन्दाक्षन के प्रति भी मेरी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ । उन्होंने समय समय पर मुझे प्रोत्साहन एवं सुझाव दिए हैं ।

विभाग के दूसरे अध्यापकों, कार्यालय के कर्मचारियों, लाइब्रेरी के अधिकारियों एवं मेरे कुछ दोस्तों के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ ।

प्रस्तुत शोधकार्य के सिलसिले में मेरा श्री भीष्म साहनी के साथ पत्र-व्यवहार हुआ था । उनके द्वारा भेजे गए पत्र इस शोधकार्य केलिए बडे मूल्यवान सिद्ध हुए हैं । इनके अलावा डा. कमलकिशोर गोयनका और डा. विश्वनाथप्रसाद तिवारी की ओर से भी मुझे बडी सहायता मिली है । इनके प्रति भी मेरा निश्छल कृतज्ञता अर्पित करता हूँ ।

रवि. पी.

विषय सूची

पृष्ट-संख्या

अध्याय : एक .. 1 - 37

भीष्म साहनी का व्यक्तित्व और कृतित्व

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य में भीष्म साहनी - जीवन परिस्थितियाँ - साहित्यिक परिवेश - आर्यसमाजी प्रभाव - प्रभाव ग्रहण - प्रगतिशील साहित्य की ओर - विदेश प्रवास एवं विदेशी साहित्य-परिचय - साहित्यिक मान्यतायें - सामाजिक दृष्टि - भीष्म जी की रचना प्रक्रिया - संपादक एवं अनुवादक - अन्य रचनायें - हानूश, कबिरा खडा बाज़ार में, माधवी ।

अध्याय : दो .. 38 - 106

भीष्म साहनी के उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ

हिन्दी उपन्यास परम्परा और सामाजिक दृष्टि - उपन्यास और यथार्थ - उपन्यासों में सामाजिक जीवन - भीष्म साहनी के उपन्यासों में मध्यवर्गीय जीवन की गतिविधियाँ - धार्मिक रूढिवादिता से मुक्ति - झरोखे : कथाफलक - आत्मनिर्वासन से मुक्ति - मध्यवर्गीय संस्कार का संघर्ष : कड़ियाँ - कड़ियाँ : कथा फलक - साँचाबद्ध चिन्तन एवं कालांकित संस्कार की परिणति - निम्नवर्गीय जीवन का चित्रण : बसन्ती - कथा फलक - जिजीविषा का टकराहट ।

पृष्ट-संख्या

अध्याय : तीन .. 107 - 173

विभाजन की त्रासदी और मानवीय करुणा का व्यापक प्रसंग - तमस का विश्लेषण

भारत विभाजन का राजनीतिक परिदृश्य - विभाजन और सांप्रदायिकता का असर:सामाजिक जीवन में - आर्थिक स्थिति - हिन्दी उपन्यासों में विभाजन का प्रभाव और दृष्टि - झूठा सच - लौटे हुए मुसाफिर - काले कोस - आधा गाँव - एक पंखुड़ी की तेज़धार - गुज़रा हुआ ज़माना - सत्ती मैया का चौरा - अन्य उपन्यास - तमस का कथा फलक - तमस की मनोभूमि - तमस लिखने की प्रेरणा - तमस लिखने का कारण क्या राजनीतिक है या सांप्रदायिक' - नत्थू - जरनैल सिंह - हरनाम सिंह एवं बन्तो - इक्बाल सिंह - बख्शी जी - तमस के कट्टरवादी : रणवीर - मुहमूद साहिब - तेजासिंह - तमस की प्रासंगिकता ।

अध्याय : चार .. 174 - 218

भीष्म साहनी की कहानियों का वस्तुपरक अध्ययन

नई कहानी की अन्वेषित दिशायें - भीष्म साहनी की कहानियों का वस्तुपक्ष - सामाजिक अन्तर्विरोध एवं विडंबनायें - मध्यवर्गीय जीवन परिवेश - व्यंग्य की विद्रूपता - विभाजन की कारुणिकता - भीष्म साहनी की कहानियों की दिशा और दृष्टि ।

पृष्ट-संख्या

अध्याय : पाँच .. 219 - 291

भीष्म साहनी के कथा साहित्य में प्रगतिशील चेतना

प्रगतिशील चेतना का स्वरूप - कथा साहित्य में प्रगतिशील चेतना - धार्मिक शोषण के प्रति असन्तोष - साम्राज्यवादी सांप्रदायिक राजनीति का खरा अनुभव - नारी शोषण का वैविध्य - सामन्ती - पूँजीवादी शोषण के प्रति गहरा असन्तोष ।

अध्याय : छः .. 292 - 327

भीष्म साहनी के कथा साहित्य की शिल्पगत विशेषतायें

उपन्यास की शिल्प संरचना - पात्र संकल्पना - उपन्यासों की भाषिक संरचना - कहानियों की शिल्प विधि - कथानक का ह्रास - कथा विन्यास अथवा शैली - पात्र संकल्पना - भाषा - सांकेतिकता - बिंब और प्रतीक योजना ।

उपसंहार .. 328 - 332

प्रगतिशील कथा साहित्य और भीष्म साहनी

सहायक ग्रंथ सूची .. 333 - 353

अध्याय - एक

भीष्म साहनी : व्यक्तित्वऔर कृतित्व

आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य में भीष्म साहनी

आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य का संबन्ध सिर्फ स्वाधीनता प्राप्ति के बाद की घटनाओं से ही नहीं है । उसकी एक परम्परा है और उस परम्परा से स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य ने अवश्य कुछ ग्रहण किया है । द्वितीय विश्वयुद्ध, भारत-विभाजन और स्वाधीनता प्राप्ति ने तत्कालीन भारतीय परिस्थिति को थोडा-बहुत प्रभावित किया है । साथ ही भारतीय समाज और जनमानस में भी तेज़ी से कुछ परिवर्तन दिखाई पडे । इस प्रकार के नये परिवेश में हिन्दी कथा-साहित्य ने विगत सांस्कृतिक विरासत को स्वीकारते हुए एक नयी दृष्टि अपनायी है । इस नयी दृष्टि से बदलते परिवेश और उसमें मानवीय स्थिति को महसूस करना आधुनिक दृष्टिकोण है । डा. जगदीश गुप्त ने आधुनिक बोध के बारे में लिखा है कि "आधुनिकता का अर्थ मेरे निकट पुरातन को गाली देना नहीं है वरन् सारग्रहिणी तत्व-दृष्टि के साथ विगत सांस्कृतिक समृद्धि को आत्मसात करते हुए मानव की वर्तमान नियति एवं उसके भावी विकास के प्रति अपने दायित्व का विशिष्ट एवं सक्रिय अनुभव करना है ।"[1] डा. इन्द्रनाथ मदान ने इससे कुछ भिन्न ढंग से आधुनिकता की व्याख्या की है । "आधुनिकता एक मूल्य न होकर एक प्रक्रिया है, जिसके मूल में वैज्ञानिक जीवन दृष्टि है जो समसामयिक जीवन को उसकी गति के रूप में ग्रहण करती हैं, प्रश्न-चिह्न को उसकी निरंतरता के रूप में आत्मसात् करती है । इसलिए इसमें विसंगतियों की संभावना है , परस्पर विरोध की स्थिति है ।"[2] दोनों दृष्टियों का तात्पर्य आधुनिक जीवन की जटिलता से है और उसे सही दृष्टि से आत्मसात् करने की या अनुभव करने की बात से है ।

---

1. नयी कविता : स्वरूप और समस्यायें - पृ:20 - डा. जगदीश गुप्त ।
2. नयी कहानी सन्दर्भ और प्रकृति - पृ:185 - सं. देवीशंकर अवस्थी ।

हिन्दी के कथाकारों ने इसे दो विचारधारा के आधार पर स्वीकार किया है । कथाकारों के एक वर्ग ने मानव जीवन में प्राप्त घुटन, व्यर्थता एवं अकेलापन-बोध का अंकन व्यक्तिगत स्तर पर किया है । और दूसरे वर्ग ने औद्योगिक विकास की इस दौड में उपेक्षित मानव को ध्यान में रखकर, समाज में प्राप्त अन्तर्विरोधों को पकडने का प्रयास किया है । आधुनिकता बोध की बात को प्रेमचन्द की अन्तिम कहानियों - "कफ़न" और "पूस की रात" - से शुरू कर सकते हैं । उन्होंने सामाजिक ढाँचा और वर्ग-स्थिति के माध्यम से मानवीय स्थिति को पकडा है । इसका विकास, यशपाल, रांगेय राघव आदि से गुज़रकर भीष्मसाहनी, अमरकांत, मार्कण्डेय, शेखर जोशी और रामदरश मिश्र में परिमार्जित दीखता है । दूसरी धारा अज्ञेय, जैनेन्द्र आदि के बाद निर्मल वर्मा, रामकुमार, कृष्णबलदेव वैद और उषा प्रियंवदा में अधिक विस्तार पाती है । डा. इन्द्रनाथ मदान ने इसे यों व्यक्त किया है कि "इन दो दिशाओं का आभाव प्रेमचन्द की "कफ़न" और अज्ञेय की 'रोज़' में मिल जाता है ।"[1] भीष्म साहनी, अमरकांत और शेखर जोशी ने सामाजिक यथार्थ पर अधिक बल दिया है । उन्होंने मध्यवर्गीय जीवन का चित्रण करके उसमें निहित अन्तर्विरोधों को पकडने का प्रयास किया है । प्रगतिशील कथाकारों की दृष्टि में परिवर्तित समाज में प्राप्त अन्तर्विरोधों का अनुभव करना आधुनिकता है । स्वयं - भीष्म साहनी ने लिखा है कि "बदलते परिवेश में मनुष्य और समाज के जीवन में पाये जानेवाले अन्तर्विरोधों को महसूस कर पाना ही मेरी नज़र में आधुनिकता है ।"[2]

हिन्दी कथा साहित्य में प्रगतिशील चेतना का प्रारंभ, सही अर्थ में प्रेमचन्द से होता है । उन्होंने सामाजिक वैषम्य और प्रस्तुत समाज में मानव की विसंगतियों को पकडने का प्रयास किया है । प्रेमचन्द की यथार्थवादी दृष्टि को यशपाल, रांगेय राघव, भैरव प्रसाद गुप्त आदि कथाकारों ने विकसित किया है ।

---

1. नयी कहानी सन्दर्भ और प्रकृति - पृ:185 - सं. देवीशंकर अवस्थी ।
2. सारिका - दिसंबर 1970 - पृ:85 - सं. कमलेश्वर ।

लेकिन ये कथाकार मार्क्सवादी विचारधारा से अधिक प्रभावित हैं । इनकी दृष्टि वर्ग-वैषम्य पर अडिग होने की वजह से रचनायें बीच बीच में प्रचारवादी लगती हैं । मगर स्वातंत्र्योत्तर कथाकारों ने इससे मुक्त होकर सामाजिक यथार्थ का पल्ला पकडा है । इनमें वैचारिक परिपक्वता है और कलात्मक संयम भी है ।

भीष्म साहनी स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य की प्रगतिशील परम्परा के बहुचर्चित कथाकार हैं । वे प्रगतिवादी कम और प्रगतिशील अधिक हैं । समाज के मध्यवर्ग एवं निम्न-मध्यवर्ग के जीवन की छानबीन करने में वे सफल रहे हैं । उन्होंने परिवेश की समग्रता में वस्तु और पात्र के अन्तर्विरोधों को प्रस्तुत करके मध्यवर्ग को अपने रूढ एवं अप्रासंगिक संस्कारों से मुक्त करने का रचनात्मक कार्य किया है । उन्होंने सामन्तवाद और पूँजीवाद का, वर्ग और वर्ण का, मध्यवर्ग के आन्तरिक तथा पुनरुत्थान एवं आधुनिकतावाद के अन्तर्विरोधों का चीरफाड किया है । कथाओं के माध्यम से आज की धर्मनिरपेक्षता का भंडाफोड करके यथार्थ धर्मनिरपेक्षता क्या है; इसका उद्घाटन किया है । अपने भौतिक परिवेश के प्रति सतर्क एवं बौद्धिक होना तथा सामाजिक आर्थिक स्तर पर कर्म को महत्व देना ही सही रूप में धर्म निरपेक्षता है । मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित होने पर भी उन्होंने वैचारिक परिपक्वता से अपनी रचनाओं को रूप दिया है । डा. शिवकुमार मिश्र के अनुसार "आधुनिक जीवन के यथार्थ को खरे मानवीय सरोकारों के साथ कलात्मक अभिव्यक्ति देने में भीष्म की कलम बेमिसाल है । उनके पास वह वैचारिक परिपक्वता भी है जो उन्हें यथार्थ के अन्तर्विरोधों के बीच से उसके सारतत्व को अलगा सकने की समझ देती है तथा उनकी मानवीय संवेदना को बराबर मनुष्यता के उस अभिशप्त हिस्से से जोडे रखती है जिसे उसकी ज़रूरत है ।"[1] इस प्रकार भीष्म साहनी अपने उपन्यासों एवं कहानियों के माध्यम से आधुनिक मानव को युगबोध के साथ दायित्वशील एवं कर्मरत मनुष्य की निर्मिति का उद्बोधन देते हैं ।

---

1. प्रेमचन्द : विरासत का सवाल - पृ:147 - डा. शिवकुमार मिश्र ।

जीवन परिस्थितियाँ

भीष्म साहनी का जन्म 8 अगस्त 1915 में, रावलपिंडी में हुआ। एक सनातन धर्मावलंबी परिवार में छठे बच्चे के रूप में जन्मा भीष्म साहनी अन्त में नियति के कारण दूसरा बन गए। पिताजी श्री हरबंसलाल साहनी, कर्म से व्यापारी और मानसिकता से आर्यसमाजी थे। वे आर्यसमाजी समाजोन्मुखता एवं कठोर अनुशासन के नियंता थे। माँ, श्रीमती लछमी देवी, सनातन धर्मावलंबी थी। पर वे सभी देवताओं की उपासिका थी। घर में सदा विराग के गीत गाती थी तब पिताजी का आर्यसमाजी बोध उसका एतराज करता था। इसके अलावा घर के नौकर तुलसीराम के जीवन का निरीक्षण भी वे करते थे। घर में दो बहिनें बन्द थीं, पर दूसरी ओर बडे भाई उत्साही, चुस्त एवं स्वतंत्र भी। रावलपिंडी मुसलमान इलाका होने के कारण हिन्दु-मुस्लिम मन-मुठाव एवं मैत्री का अनुभव उन्हें सीधे ढंग से मिला था। "दोनों बडी बहनें कभी ऊँचा हँस देती या खिडकी से बाहर झांक लेती तो पिताजी डाँट देते थे और वे दोनों सहमकर चुप हो जाती थीं। आस-पास दूर-दूर तक मुसलमानों के घर थे हम एक तरह से समुद्र के बीचोंबीच एक द्वीप पर रहे थे।"[1] इसके कारणों में मुसलमानों की असहयोगी प्रवृत्ति और हिन्दुत्व विरोधी दृष्टि है।

भीष्मजी का बचपन नित्य बीमारी का था। उन दिनों उनकी आकांक्षायें वायवीय बनी रही थीं। बीमारी से छुटकारा पाते ही उनके सभी गुण-दोष एक साथ उमडने लगें। खेल-कूद, सैर-सपाट और शरारतें करने में वे कुछ आगे थे। इन सबके अलावा अभिनय-कला भी उनमें बचपन से देखने को मिलती थी। घर में बडे भाई के साथ बालकपन में ही नाटक खेलते थे। शहर में दोस्तों के साथ घूमना और वापस आकर घर में दंड मिलना रोज़ की बात बन गयी थी। इस प्रकार उन्होंने

---

1. आइने के सामने - पृ: 175 - सं. मोहन राकेश।

छोटी आयु में ही बहुत कुछ भोगा और साथ ही धर्मभीरू बन गए।"इसी समय दिल के अन्दर लालसाओं - इच्छाओं के अंकुर फूटने लगे थे, कुछेक झुलसने लगे थे । बचपन के झुटपुटे में बहुत कुछ देखा-भोगा, पर जो ले-देकर पाया, वह था पाप-पुण्य के उपदेश, अंधेरे का डर, बडों का डर, भगवान का डर और अनगिनत अवसादपूर्ण तथा उल्लासपूर्ण यादें ।"[1]

शिक्षारंभ घर में ही संपन्न हुआ था । घर में संस्कृत और हिन्दी पढाने केलिए अध्यापक आते थे । घर में पढने केलिए बडे भाई के अलावा नौकर तुलसीराम भी था । दूसरे जमात से आठवीं कक्षा तक आर्यसमाजी स्कूल §डी.ए.वी. स्कूल§ में पढा। वहाँ से अंग्रेज़ी और उर्दू के अध्ययन का भी श्रीगणेश हुआ । स्कूल में वे औसत स्तर के थे । स्कूली दिनों में उनकी एक विशेषता मित्रता की है । अधिकांश मित्र निम्न परिवार के थे । उनमें से अधिकांश शिक्षा की पूर्ति करने में असमर्थ निकले । और कुछ अल्पायु भी थे । इसका कारण मुख्य रूप से आर्थिक विपन्नता ही थी, जिससे उसके मन में एक विशेष प्रकार की सहानुभूति पनपने लगी । "बचपन की दोस्तियाँ मन पर अपना अमिट प्रभाव छोड ही जाती हैं, पर मैत्री के भीतर के अन्तर्विरोध और विडम्बनायें भी बार-बार मैत्री के कोमली तंतुओं को झटकती रहती है । ये विडम्बना भी दिल पर कटु यथार्थ का भास छोड गयी हैं ।"[2] बचपन की यह सहानुभूति उनमें अन्त तक बनी रही और उसने बाद में उन्हें एक विनम्र एवं निरीह व्यक्तित्व का अधिकारी बना दिया है ।[3]

---

1. आइने के सामने - पृ: 175 - सं. मोहन राकेश ।
2. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना - पृ:55 - सं. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठ
3. "उनका अन्दाजेबयाँ कुछ इतना सधा-बँधा है, बोलने में वह इतने ज़्यादा कामा-फुलस्टाप लगाते हैं, मैं तो समझता हूँ - भई, मेरे ख्याल में तो - जैसी क्षमायाचक विद्यालंकारी शब्दावली का कुछ इतना ज़्यादा प्रयोग करते हैं कि हिन्दी कथा साहित्य की आवेशमय और आक्रामक बहस में बडे निरीह मालूम होते हैं ।"
   बातों बातों में - पृ: 77 - मनोहर श्याम जोशी ।

बचपन में मुसलमान बच्चों के साथ खेलना तक निषिद्ध था । स्कूली शिक्षा के बाद कालेज की दोस्तियों में मुसलमान मित्र थे, तब वे घर में आते थे और उनके साथ खेलते भी थे । "कालिज की दोस्तियाँ बहुत गहरी दोस्तियाँ थीं, हाँ इल्ताफ हुसैन नाम के एक दोस्त के साथ बहुत प्यार था । . . . देश के बटवारे के दिनों में वह मुस्लिम लीगी था और मैं कांग्रेस में काम करता था । हमारी दोस्ती में कुछ तनाव भी आ गया था ।"[1] इसप्रकार प्रौढों के बीच की मित्रता को तोडने में दल या संप्रदाय समर्थ हुआ ।

इस बीच वे भाई के साथ जुलूस, उपवास आदि में भागीदार रहे थे । "तिलक" की मृत्यु के वक्त उन्होंने जुलूस में भाग लिया था । अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध और भगतसिंह की फांसी के दिन में भी वे उपवास में भाग ले रहे थे ।

भीष्मजी के जीवन की सबसे मर्मभेदी एवं दारुणिक घटना इस अवधि में ही घटित हुई थी । घर में एक बहिन के विवाह की तैयारियाँ चल रही थीं । पर फौरन एक दिन उसकी मृत्यु हो जाती है और उसी दिन बडी बहिन माँ बन जाती है । "बडे अनूठे और हृदयविदारक माहौल में यह मौत हुई । पिताजी, माँ, मेरी मौसी, बुआ, सभी घर पर थीं, और उसके कमरे में बैठी, धीमी आवाज़ में वेदमत्रों का उच्चारण कर रही थीं । माँ किसी किसी वक्त उठकर, दूसरे कमरे में चली जाती जहाँ हमारी बडी बहिन-जिसकी शादी हो चुकी थी - प्रसूत की पीडा में छटपटा रही थी । एक ही समय में एक जीव घर से विदा हो रहा था, और दूसरा जीव घर में जन्म ले रहा था । बहिन की मृत्यु लगभग उसी समय हुई जिस समय बडी बहिन ने बेटी को जन्म दिया । एक ओर क्रंदन तो दूसरी ओर नवजात शिशु की आवाज़ एक साथ सुनाई पडने लगा ।"[2] इस प्रकार उत्साह और अवसाद एक साथ आना मानव

---

1. भीष्म साहनी व्यक्ति और रचना - पृ: 35 - सं. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर
2. वही - पृ: 54 - वही ।

जीवन की विडंबना है । बी.ए. के बाद 1937 में लाहौर के छात्रावास में रहकर भीष्मजी ने अंग्रेज़ी में एम.ए. पास किया । कुछ वर्ष बाद सन् 1958 में पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ से उन्होंने "हिन्दी उपन्यास में नायक की अवधारणा" नामक शोध प्रबन्ध पर पी.एच.डी. की उपाधि ग्रहण की ।

शिक्षा के बाद भीष्मजी ने कुछ समय तक पिताजी के साथ व्यापार का कार्य संभाला था । व्यापार में उन्हें शौक नहीं था । लेकिन भाई के घर, छोड जाने के कारण ऐसा करने में वे मजबूर हो गए । "एम. ए. पास करने के बाद मैं व्यापार करने लगा था, पर मेरा मन इस काम में नहीं था । मैं इसे छोड भी नहीं सकता था । मुझसे पहले मेरे भाई व्यापार करते थे और तीन साल तक करते रहने के बाद छोडकर शांतिनिकेतन चले गए थे । . . . फिर व्यापार की घुटन नाटक खेलने, कांग्रेस में काम करने और कालिज में पढाने से बहुत कुछ कम हो गयी थी ।" व्यापार के साथ उन्होंने एक स्थानीय कालिज में आरजी तौर पर अध्यापन कार्य भी किया था । बंटवारे तक वे कांग्रेस के कार्यकर्ता थे । बंटवारे के दिनों में उन्होंने रिलीफ कमेटी केलिए आंकडा इकट्ठा किया था । "मैं उन दिनों रिलीफ सोसायटी केलिए आंकडे इकट्ठे करता था - कहाँ कितने मरे, कितने घर जले । उसी समय से मन पथराने लगा था ।"[2] कांग्रेस में काम करते समय वे गाँधीजी और नेहरुजी के दर्शन केलिए सभी कठिनाइयाँ सहने केलिए भी तैयार थे । फिर भी बंटवारे के बाद वे वामपंथ की ओर मुडने लगे ।

उनका एक प्रिय विषय रहा था भाषण । डिबेटिंग में वे दो-एक मैडल का अधिकारी बन बैठे थे । बहसों में वे भाग लेते थे । बडे भाई और उनके साथियों के साथ घंटों तक बहस करते थे । बहस में कला, साहित्य, राजनीति सबकुछ आते थे । इतिहास, समाजशास्त्र और साहित्य पढने में रुचि रखते थे । मूर्तिकला में

---

1. भीष्म साहनी व्यक्ति और रचना - पृ:31 - सं. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर ।

उन्हें बडा आकर्षण था और ढाई महीने तक मूर्तिकला सीखने गए थे । इसप्रकार वे खेल-कूद में भाग लेते थे । गुल्ली-डंडा खेलने में आरंभ करके हॉकी तक पहूँचे । स्कूल और कालिज में वे हॉकी खेलते थे । कालिज के कप्तान तक बन चुके थे । हॉकी में दो-एक मैडल भी मिला था । स्कूली दिनों में कुत्ता, घोडा आदि को पालने में वे रुचि रखते थे । सेना केलिए चुने जाने से इनके घोडे पर डिप्टी कमीश्नर से पुरस्कार भी मिला था ।

घर के बाहर भी वे रंगमंच और नाटक से जुडते रहे । स्कूल और कालिज के दिनों में उन्होंने मंच पर अपने शौक और दक्षता का प्रदर्शन किया था । स्कूल के समान कालिज के दिनों में भी नाटक खेलना उनके अध्ययन का हिस्सा बना था । रंगमंच पर उन्होंने विद्रोह भी किया है । बीसवीं सदी के चौथे दशक तक मुसलमान इलाका रावलपिंडी में स्त्रियों का मंच पर अभिनय मात्र वायवीय कल्पना थी । इन्होंने कालिज में लडकियों को रंगमंच पर लाने का दृढ प्रस्ताव रखा, परन्तु कालिजवालों ने इन्कार कर दिया । भीष्मजी ने एक दूसरी जगह में उसके मंचन का प्रबन्ध किया और बडा बावैला होने पर भी नाटक खेला गया । इसप्रकार के प्रतिकूल वातावरण में भी वे अभिनय कला से जुडे रहे थे । बंटवारे के बाद वे भाई के साथ बंबई पहूँचे और अप्रत्याशित ढंग से पहले दिन ही एक नाटक खेलने की नौबत मिली । लेकिन संवाद नहीं पढा था । इसके अलावा एक ही नाटक में एक ही मंच पर तीन पात्रों का वेष-धारण करना पडा । संवाद भूल जाने के कारण अपनी ओर से कुछ जोड दिया और बाद में वह नाटक में जोडा गया । बंबई के दिनों में भाई के साथ कुछ दिन बेरोज़गार के रूप में रहना पडा । प्रेमधवन के "गुंजन" फिल्म में रोल दिलाने केलिए भाई ले गए थे । सब कुछ ठीक होने पर भी सिनेमा में अभिनय नहीं किया था । इसके बाद पत्रकारिता शुरू की, पर "बंबई का पानी रास नहीं" आने के कारण उसमें अधिक देर तक टिक नहीं पाये । इसलिए बंबई छोडकर पंजाब में फिर भी व्यापार में व्यापृत होने लगे ।

इस बीच अंबाला के एक कालिज में उन्हें नौकरी मिली । वहाँ वे उस्तादों की यूनियन बनाने में शामिल हुए । यूनियन को फैलाव आया, हडताल चलाया गया और वे सेक्रटरी चुने गए । शहर-शहर घूमकर पैम्फलैट चिपकाना मीटिंग बुलाना आदि में वे व्यस्त हुए । अतः कालिजवालों ने छुट्टी कर दी । कुछ महीने बाद खालसा कालिज अमृतसर में भरती हो गए । चार-पाँच महीने के बाद वहाँ से पहला रास्ता ही चुनना पडा। उस समय वे जन-नाट्य संघ से गहरा संबन्ध रखते थे और कुछ दिन तक उसमें काम भी करते थे । अध्यापन के वक्त भी अभिनय को उन्होंने छोड नहीं दिया । वहाँ पुलिस के साथ लुका-छिपी चलने के कारण एक जगह नाटक खेलते फौरन भागकर दूसरी मंच की तैयारी में कार्यरत थे । इसप्रकार उन्हें पंजाब में रहना और नौकरी मिलना नामुमकिन हो गया । इस समय पत्नी के वेतन से जीवन बिता रहे थे और अन्त में दिल्ली कालिज में अध्यापन कार्य में जुडे रहे ।

कथाकार की पहली कहानी का प्रकाशन कालिज के दिनों में कालिज की "रावी" में हुआ था जो स्कूली दिनों में लिखी थी । पहली एवं असली कहानी "नीली आँखें", "हंस" नामक पत्रिका में छपकर आयी । इसे बडा प्रोत्साहन भी मिला था । शिक्षा के बाद उन्होंने यदा-कदा लिखना शुरू किया था । इस दौरान में वे साहित्यक एवं सांस्कृतिक विषयों पर भी लेख लिखते थे । "शरत और समाज" नामक निबन्ध उनमें उल्लेखनीय है, जिसका प्रकाशन "विशाल भारत" में हुआ था । उस समय अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी वे लिखते थे । इस बीच वे प्रेमचन्द के पत्र इकट्ठे करने का प्रयत्न कर रहे थे । वे लगभग चालीस पत्र इकट्ठा कर सके थे ।

सन् 1953 में भीष्म साहनी का प्रथम कहानी संग्रह "भाग्य रेखा" प्रकाशित हुआ । तीन वर्ष के अन्तराल में उनका दूसरा संग्रह "पहला पाठ" नाम से छपकर आया । दोनों में कुल उन्नीस कहानियाँ थीं, परन्तु नई कहानी की उपलब्धियों में ये सारी कहानियाँ नहीं गिनाई जाती हैं । इनमें अधिकांश कहानियाँ प्रेमचन्द और यशपाल की रचनात्मकता के करीब रखने योग्य कहानियाँ हैं । इन दोनों संग्रहों के प्रकाशन में कुछ कठिनाइयाँ महसूस करनी पडी थीं ।

भीष्मजी का रूसी प्रवास सन् 1957 से शुरू हुआ और 1963 में वे रूस से वापस आए । लगभग सात वर्ष तक वे "विदेशी भाषा प्रकाशन गृह" मॉस्को में अनुवादक के रूप में रहे थे । रूसी प्रवास के समय उन्होंने रूसी भाषा सीखी, रूसी जीवन, संस्कृति और समाज एवं साहित्य का अध्ययन भी किया । सन् 1960 में वे चेक की राजधानी प्राग गए थे । उस समय निर्मलवर्मा द्वारा दिखायी गयी मीनारी घडी एवं उसकी कथा को साहनी जी ने "हानूश" नाटक का आधार बना लिया । उन्होंने 1965 से 67 तक "नई कहानी" का संपादन किया । इस बीच 1966 में "भटकती राख" नामक बीस कहानियों का संग्रह प्रकाश में आया । प्रारंभिक कहानियों की अपेक्षा इनमें प्रौढता एवं व्यंग्यात्मकता अधिक है । कहानीकार का प्रथम उपन्यास "झरोखे" 1967 में छपकर आया, जिसपर उन्हें पुरस्कार भी मिला था । यह आत्म-कथात्मक उपन्यास है और उसमें लेखक के जन्म से यौवन काल तक का जीवन वर्णित है । आधुनिकता बोध से युक्त उनका दूसरा उपन्यास "कडियाँ" 1970 में पाठकों के सम्मुख आया । इसमें पारिवारिक एवं संबन्ध विघटन का चित्रण किया गया है । सन् 1973 में बहुचर्चित कहानियों का संकलन "पटरियाँ" प्रकाशित हुआ । हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में भीष्म साहनी को प्रतिष्ठित करनेवाला उपन्यास "तमस" है जिसका प्रकाशन 1973 में हुआ । यह उपन्यास 1975 में "साहित्य अकादमी" द्वारा पुरस्कृत हुआ । 'तमस' बंटवारा और सांप्रदायिकता को आधार बनाकर लिखा गया उपन्यास है । पंजाब सरकार के भाषा विभाग की ओर से "शिरोमणि लेखक" पुरस्कार भी उन्हें इसी वर्ष मिला था । कथाकार भीष्मजी का प्रथम नाट्य प्रयास 1977 में "हानूश" नाम से दर्शकों एवं पाठकों के सम्मुख एक साथ आया । इसमें रचनाकार के अन्तर्द्वन्द्व एवं तत्कालीन शासन काल में रचनाकार की स्थिति को आंका गया है । इस पर भी इन्हें पुरस्कार मिला, साथ ही नाटककार का नाम भी । "वाङ्चू" नामक ग्यारह कहानियों का संग्रह 1978 में प्रकाश में आया । इसमें साहनीजी अधिक व्यंग्यात्मक हो गए हैं । निम्नवर्ग की जीवनेच्छा का दस्तावेज़ "बसन्ती" उनका चौथा उपन्यास है,

जिसका प्रकाशन 1980 में हुआ । इसी वर्ष वे "ऐफ्रो-एशियाई लेखक संघ" की ओर से "लोटस" पुरस्कार से सम्मानित हुए । मध्यकालीन संत महात्मा कबीर के विद्रोही पक्ष एवं तत्कालीन जड समाज के परिदृश्य में "कबिरा खडा बाज़ार में" नाटक 1981 में प्रकाशित हुआ । इसका मंचन दिल्ली के खुले मंच पर उसी वर्ष में हुआ था । "झरोखे" और "हानूश" के समान इसपर भी पुरस्कार मिला था । 1981 में "शोभायात्रा" नामक कहानी-संग्रह और 1983 में "निशाचर" नामक कहानी-संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं । नारी संवेदना की उद्घोषक नाट्यकृति "माधवी" को 1984 में साहनीजी ने पाठकों एवं दर्शकों के सम्मुख रखा है । इस अवधि में वे दिल्ली प्रदेश साहित्य कला-परिषद् द्वारा सम्मानित एवं पुरस्कृत हुए हैं । उनका नवीनतम उपन्यास "मैयादास की माडी" 1988 में प्रकाशित हुआ और उसके बाद "पाली" कहानी संग्रह भी । बाल-साहित्य में उन्होंने अपना योगदान दिया है । "गुलेल का खेल" उनकी बालोपयोगी कहानियों का संग्रह है । अंग्रेज़ी ज्ञान का सदुपयोग करके उन्होंने भाई की जीवनी लिखा है, जिसका प्रकाशन "मेरे भाई : बलराज" नाम से हुआ है । हाल ही में "अपनी बात" नामक एक निबन्ध संग्रह भी प्रकाशित किया है । इन सबके अलावा अनेक आलोचनात्मक एवं विचारात्मक लेख भी लिख चुके हैं, जिनमें "संत्रास का आतंक" उल्लेखनीय है ।

साहित्यिक परिवेश

भीष्मजी का जन्म एक साहित्यिक परिवार में हुआ था । उन्हें एक ऐसा माहौल मिला जिसमें एक सहृदय मन को पनपने की सारी सुविधायें थीं । "कभी-कभी ऐसा लगता है कि मैं एक ऐसे परिवार में जन्मा, जिसके कई सदस्यों ने पहले ही लेखन को अपनाया था । मेरे भाई ने भी इसे अपनाया और मेरे चचेरे भाइयों ने भी । वातावरण तो था ही । कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि अंग्रेज़ी साहित्य के मेरे एक अध्यापक ने इसमें बडी भूमिका निभाई है, .मगर कुछ भी कह पाना बडा मुश्किल है ।"[1]

---

1. भीष्मसाहनी : व्यक्ति और रचना - पृ:27 - सं. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर

पिताजी पेशे से व्यापारी होने पर भी स्वतंत्र प्रतिभा के विरोधी नहीं थे । स्वयं पिताजी ने एक छोटा उपन्यास लिखा था । दूसरी ओर माँ के विराग-गीत और फुटकल कथाओं ने भी अपना असर छोड दिया था । उसकी ओर इशारा करते हुए भीष्मजी लिखते हैं कि "हाँ, माँ के मुँह से सुनी कहानियाँ - बोंबी की कहानी, तोता-तोती की कहानी और उसके मुँह से सुने कवित्त और बारह मासे-ज़रूर मन पर अमिट छाप छोड गए हैं ।"[1]

सत्यवती मल्लिक हिन्दी की प्रतिष्ठित कहानीकार रही हैं । वे भीष्मजी की फुफेरी बहिन थीं । उनके पति चन्द्रगुप्त विद्यालंकार एक कथाकार के अलावा नाटककार के रूप में भी जाने जाते हैं । इन दोनों की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन ने भीष्मजी की सृजनात्मक प्रतिभा को प्रस्फुटित होने में मदद दी है । इन सबके अलावा बडे भाई बलराज साहनी और अंग्रेज़ी के प्रोफसर जसवंतराय का प्रभाव भी भीष्मजी की साहित्यक चेतना को जगाने में अधिक सिद्ध हुए हैं । प्रसिद्ध फिल्मी अभिनेता बलराज साहनी एक जाने-माने लेखक भी हैं । कहानी, जीवनी, संस्मरण, यात्रा-विवरण आदि लिखने में वे कुशल रहे थे । इसके सिवा भीष्म साहनी की धर्मपत्नी शीला साहनी ने भी प्रोत्साहित किया है । भीष्मजी स्वयं स्वीकार करते हैं कि मेरी रचनाओं का पहला पाठक एवं आलोचक मेरी धर्मपत्नी है । इसप्रकार के एक समृद्ध एवं सुथरा हुआ वातावरण भीष्मजी को मिला था । इसलिए कृष्णा सोबती ने लिखा है कि "जीने के स्तर पर भीष्म के पास एक सुथरा, सुरक्षित, मज़बूत चौखटा है जिसने भीष्म के समूचे लेखन और काफी हद तक जीवनदृष्टि को भी प्रभावित किया है । उनकी अपनी राजनीतिक आस्थायें हैं । "इन्टलैक्चुअल" कमिटमेंट" है । मोटे तौर पर भीष्म को अपने कितने ही साथियों से कहीं ज़्यादा सुविधा और समग्रता ज़िन्दगी में मिली है । छोटी-मोटी सुविधायें, अच्छा घर, पढी-लिखी बीवी, किताबों से भरी शेल्फें और रचनाओं को एकसार करती एक बंधी - बंधाई ज़िन्दगी ।"[2]

---

1. आइने के सामने - पः 176 - मोहन राकेश ।

आर्यसमाजी प्रभाव

राष्ट्रीय आन्दोलन का समय था । उस समय नये-नये विचार समाज को आन्दोलित करते थे । इसमें आर्यसमाजी एवं ब्रह्मसमाजी विचार भी सम्मिलित थे । स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह आदि का प्रोत्साहन, बाल-विवाह, सती-प्रथा आदि को मिटाने की कोशिश इन दोनों की ओर से हुई थी । भीष्मजी पर आर्यसमाज का प्रभाव अवश्य पडा है । आर्यसमाज के विरोधी होने पर भी उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व दोनों पर आर्यसमाज के अच्छे गुण मौजूद हैं । उनमें समाजोन्मुखता और नारी संवेदना मुख्य हैं । पिताजी उस समय आर्यसमाज द्वारा चालित अस्पताल, स्कूल, कालिज, वनिता-आश्रम आदि से संबद्ध होने के कारण इनमें भी बचपन से ही समाजोन्मुखता की भावना पनपने लगी थी । आर्यसमाज की कर्मशीलता एवं आशावादिता का प्रभाव भी इन पर पडा है । माँ घर में विराग के गीत गाती थी । लेकिन आर्यसमाजी बाप निराशा के विरोधी थे, खुशी और आशा के वक्ता थे । "वह आशावादी पुरुषार्थप्रेमी आर्य-समाजियों में से थे, जो उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण की उपज माने जाते हैं । उनका विश्वास था कि मनुष्य का चरित्र अच्छा हो, तो अपने भाग्य का निर्माण स्वयं कर सकता है ।"[1] इसका असर भीष्मजी पर भी पडा है । इसकी स्वीकृति देते हुए उन्होंने लिखा है कि "मेरे पिता कट्टर आर्यसमाजी थे । स्वभाविक है कि हम उस वातावरण में रहे और फलस्वरूप उसका मेरे मस्तिष्क पर बडा गहरा प्रभाव पडा है ।"[2] वे आर्यसमाज के हिन्दू पुनरुत्थानवाद के विरोधी हैं । लेकिन फिर भी उसके अच्छे गुणों का स्वागत भी करते हैं ।

प्रभाव ग्रहण

मनुष्य पर अपने परिवेश का असर पडता है । अलावा उसके समसामयिक विचार, दर्शन, चिन्तन का तथा अपनेलिए महान लगनेवाले व्यक्तियों का प्रभाव भी पडता है, यह स्वाभाविक है । भीष्मजी पर स्थानीय विशेषताओं का प्रभाव भी

---

1. आइने के सामने - पृ: 174 - मोहन राकेश ।
2. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना - पृ: 25 - सं. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर ।

देखा जा सकता है । काश्मीर की सुन्दरता, मॉस्को की जनता की विशालता और रावलपिंडी के सांप्रदायिक तनाव ने उनपर गहरा असर छोड दिया है ।

व्यक्तिगत स्तर पर उनपर बलराज साहनी का प्रभाव सबसे अधिक है । बलराज साहनी उनके बडे भाई थे । पुरानी मान-मर्यादाओं के कारण बडे भाई के पीछे उन्हें चलना पडा । और भाई को एक आदर्श नायक के रूप में उन्होंने देखा है । "अपने बडे भाई बलराज साहनी का प्रभाव भी मुझपर गहरा पडा । उनके व्यक्तित्व का भी और उनकी साहित्यिक रूचि का भी मुझपर गहरा पडा । उन्हीं के साथ बचपन से ही नाटक भी खेलता रहा ।"[1] बडे भाई की छाया बचपन व यौवन तक नहीं थी । एक सीमा तक साहित्य और अभिनय जीवन पर भी व्याप्त रही है । यह उनके मौलिक चिन्तन की अडचन बन गयी है । इसपर भीष्मजी की प्रतिक्रिया द्रष्टव्य है । "बचपन में वह नए-नए दरवाज़े खोलते चले जा रहे हैं । धीरे-धीरे मैं ने छोटे भाई का दृष्टिकोण अपना लिया, जिसकी आँखें सदा बडे भाई पर लगी रहती हैं, और जब बडा भाई बना लेने पर विवश हो जाती है । मुझे एक बना-बनाया दृष्टिकोण मिल गया था - अपने भाई का दृष्टिकोण जो मेरे मानसिक विकास में बाधक था ।"[2]

साहित्य की ओर भीष्मजी में दिलचस्पी बढानेवालों में और एक अंग्रेज़ी के प्रोफसर जसवंतराय हैं । उनके सुन्दर एवं आकर्षक चेहरा और उनका व्यक्तित्व एवं विषय की परख ने भीष्मजी की भीतरी साहित्यिक रुचि को जगाया था ।

साहित्यकारों में उन्हें सबसे पहले सुदर्शन का दर्शन मिला था । वे उस समय के चर्चित कथाकार हैं । भीष्मजी केलिए सबसे आकर्षक व्यक्तित्व एवं कृतित्व प्रेमचन्द का है । प्रेमचन्द के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से प्रेमचन्द परम्परा से जोडना चाहते हैं ।

---

1. सारिका - नवंबर 1978 - सं. कमलेश्वर ।
2. आइने के सामने - पृ: 176 - मोहन राकेश ।

इस आकर्षण का कारण है "उनका समाजोन्मुखी और यथार्थोन्मुखी होना । उनके साहित्य की परिधि का फैलाव ।"[1] यशपाल के क्रान्तिकारी व्यक्तित्व और रचनाओं से भी वे अछूत नहीं रह सकें । यशपाल की क्रान्तिकारिता एवं समाजोन्मुखता उन्हें अधिक पसन्द हैं । जैनेन्द्रकुमार और अज्ञेय का प्रभाव भी इन पर पड़ा है । मोहन राकेश, राजेन्द्रयादव, अमरकान्त और मार्कण्डेय की रचनाओं का अध्ययन भी किया है । उन्हें विदेशी लेखकों में सबसे प्रिय चेखव है । "अंग्रेज़ी कथाकारों में कैथरीन मेन्सफील्ड ने प्रभावित किया, फ्रांसीसी लेखक मोपासां तथा रूसी लेखकों में गोर्की और तोल्स्तोय ने ।"[2] भीष्मजी की कहानियों पर कैथरीन मेन्सफील्ड और चेखव का प्रभाव अधिक है, इसे वे स्वयं मानते ही हैं ।

साहित्यिकों के अलावा भगतसिंह, लोकमान्य तिलक, गाँधीजी और सुभाषचन्द्र बॉस जैसे महापुरुषों के व्यक्तित्व के प्रति भी उनका आकर्षण रहा है । इनमें से इन्हें भगतसिंह अत्यधिक प्रिय है ।

प्रगतिशील साहित्य की ओर

प्रगतिशील चेतना आधुनिक हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं में लक्षित होती है । हिन्दी साहित्य में प्रगतिशील चेतना का पुट मध्यकाल के अन्त से दिखाई पड़ने लगी । आधुनिक युग में स्वाधीनता संग्राम का आन्दोलन, कई समाजसुधारक संस्थाओं के कार्यकलाप इन सब ने प्रगतिशील लेखन को विकसित करने में योग दिया है । परन्तु इस समय की प्रगतिशील चेतना में आदर्शवादी मानवता का स्वर मुख्य रहा ।

सन् 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ का प्रथम सम्मेलन के बाद साहित्य में प्रगतिशील धारा एक संघठित एवं उद्देश्यवादी रूप में बहने लगी । प्रगतिशील साहित्य की संभावनाओं को स्वीकारते हुए आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि

---

1. सारिका - नवंबर 1978 - सं. कमलेश्वर ।
2. वही ।

"प्रगतिवादी आन्दोलन बहुत महान उद्देश्य से चालित है । इसमें सांप्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी संभावनायें अत्यधिक हैं । भक्ति के महान आन्दोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य दृढ आदर्शनिष्ठा दिखाई पडी थी, जो समाज को नये जीवन-दर्शन से चालित करने का संकल्प वहन करने के कारण अप्रतिरोध शक्ति के रूप में प्रकट हुई थी, उसी प्रकार यह आन्दोलन भी हो सकता है ।"[1] जड धार्मिक एवं पूँजीवादी वर्ग के सामाजिक एवं आर्थिक आधार या वर्तमान व्यवस्था का पर्दा-फाश करने में प्रगतिशील आन्दोलन कार्यरत है । उसका मूल संबन्ध आर्थिक एवं राजनीतिक समता एवं मानवीयता से है । "जिस तरह हमारा सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य भी समाज के आर्थिक संकट से अभिन्न है, उसी तरह हमारा सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य भी समाज के आर्थिक राजनीतिक विकल्प से जुडा हुआ है । इस आर्थिक राजनीतिक परिप्रेक्ष्य से टूटकर किसी सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य की कल्पना नहीं की जा सकती ।"[2] इसप्रकार अर्थ सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास के मूल का एक बिन्दु है । इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर प्रगतिशील लेखक अपनी रचनाओं को आकार देते हैं । वे सामाजिक यथार्थ का अंकन करते हैं । कोरी राजनीति से मुक्त होकर वे कलात्मक ढंग से समाज के अन्तर्विरोधों को पहचानते हैं । "प्रगतिशील लेखकों की सक्रियता का लक्ष्य है भविष्य का निर्माण, ऐसे भविष्य का जिसमें मानवता धन की अमानुषिक शक्ति से बिलकुल मुक्त हो और समाज में अज्ञान, धर्मान्धता और अन्धविश्वास जैसी कोई चीज़ न रहे ।"[3] वे पहले से ही "भारतीय जन नाट्य संघ" जैसे संस्थाओं से संबद्ध रहे हैं । फिर "प्रगतिशील लेखक संघ" से भी जुडने लगे । उनके नेतृत्व में प्रस्तुत संघ और भी बढ रहा है । आजकल वह पूरे भारत में फैला हुआ है ।

भीष्मसाहनी प्रगतिशील कथासाहित्य के बहुचर्चित कथाकार हैं । वे मनुष्य को समाज के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखना चाहते हैं । वे सिद्धांत के पक्षपाती नहीं है

---

1. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास - पृ: 288 - आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी
2. आलोचना - 77 अप्रैल - जून, 1986 - पृ: 86 - सं. नामवर सिंह ।

उनके अनुसार साहित्य सैद्धांतिक होने पर कलात्मकता खतरे में पडती है । सिद्धांत से लेखक प्रेरणा एवं मार्ग स्वीकार करता है । भीष्मजी की मान्यता है कि "जीवन ही सिद्धांत को जुटाता" है । वे साहित्य में प्रगतिशील चेतना का आरंभ सन् 1936 के प्रगतिशील लेखकों के प्रथम अधिवेशन से नहीं मानते हैं । वे यह मानकर चलते हैं कि 19 वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हमारी प्राचीन मानवतावादी परम्परा समाजोन्मुखी होने लगी थी । "ऐसा अकारण नहीं हुआ । इसके पीछे सचेत प्रयास भी थे और वातावरण में पायी जानेवाली एक नई दायित्व-भावना भी थी । इसे नवजागरणकाल कहना गलत न होगा । इसमें प्राचीन संस्कृति का गौरव भी था । समाज में पायी जानेवाली कुरीतियों और कुप्रथाओं की कटु आलोचना भी थी । देश-प्रेम भी था ।"[1] भीष्मजी के साहित्य में भी सैद्धांतिकता कम है । उनकी प्रारंभिक कहानियों में सामाजिकता राजनीतिक मताग्रह के निकट पहूँचती है । रूसी प्रवास एवं विदेशी साहित्य का परिचय और बदलते परिवेश के अनुसार उनकी परवर्ती रचनाओं में प्रौढता आयी है । साथ ही वे राजनीति (विचारधारा) को उपागम के रूप में स्वीकारते हैं । "विचारधाराओं ने निश्चय ही महान साहित्य को उत्प्रेरित किया है । ... पर उसकी प्रेरणा से तभी उत्कृष्ट साहित्य रचा जा सका जब वह संवेदन का, लेखक के समूचे रचनात्मक व्यक्तित्व का अंग बनी, जब रचनाकार उसके रंग में रंग गया, वह उसकी दृष्टि में रच-बस गयी । इसी रूप में, परिवर्तन और संघर्ष में, मैं लेखक की मानसिकता को देख पाता हूँ ।"[2] प्रगतिशील चेतना से युक्त कहानीकार एवं उपन्यासकार हिन्दी साहित्य में अनेक हैं । परन्तु उनमें भीष्मजी की जो विशेषता है, उसका अंकन डा. नन्दकिशोर नवल ने यों किया है कि "इन कहानीकारों में भीष्मसाहनी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि उन्होंने धीरे-धीरे नई कहानी के प्रगतिशील यथार्थवादी कहानीकारों की सीमाओं को जीता और सच्चे अर्थों में एक प्रगतिशील यथार्थवादी कहानीकार के रूप में अपना विकास किया ।"[3] इसप्रकार की रचनात्मक विशेषताओं से परे वे साहित्य की प्रगतिशील संस्थाओं से भी जुडे हुए हैं ।

---

1. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना - पृ:43 - सं. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर
2. अपनी बात - पृ:78 - भीष्म साहनी ।
3. प्रेमचन्द का नया - सौन्दर्यशास्त्र - पृ:119 - डा. नन्दकिशोर नवल ।

भीष्मजी का संबन्ध वर्षों पहले ही भारतीय जन नाट्य संघ से है। आइन्दा उनका कर्मक्षेत्र और भी विस्तार प्राप्त किया गया है। जैसे उनका संबन्ध ऐ. एस. सी. वी. एस, ऐफ्रो-एशियाटिक लेखक संघ और प्रगतिशील लेखक संघ तक बढा सन् 1975 के राष्ट्रीय प्रगतिशील लेखक संघ के सम्मेलन में वे उसका महासचिव के पद केलिए मनोनीत किए गए। उनके निर्देशनकाल में पूरे देश में राष्ट्रीय प्रगतिशील लेखक संघ की सैकडों इकाइयाँ सक्रिय रही थीं। प्रगतिशील लेखक संघ के उद्देश्य को व्यक्त करते वक्त उनकी आकांक्षाओं का प्रस्फुटन भी हुआ है। उनकी इच्छा है कि प्रगतिशील लेखक संघ की ओर से नगरों, कस्बों और गाँवों में छोटे-छोटे आयोजनों के माध्यम से जनता को बोधगम्य करना है। मनुष्य के भीतर की सृजनशीलता को मचलना है और एक सही मनुष्य का रास्ता दिखाना है। वे प्रगतिशील लेखक संघ से रचनाकारों के प्रयोजनों के बारे में अपना मत यों प्रकट करते हैं कि "मैं ने अभी कोई ऐसा लेखक नहीं देखा जिसका संगठन से जुडने पर ह्रास हो। रचना के स्तर पर निश्चय ही लेखक को लाभ पहूँचता है, उसका दृष्टिक्षेत्र फैलाता है। आत्मविश्वास बढता है, अपने तंग घेरे में से निकलने में सहायक होता है और एक प्रकार की स्फूर्ति और प्रेरणा भी मिलती है, अपनी दृष्टि के बहुत सारे नकारात्मक तत्व झरने लगते हैं, पर संगठन से जुडने पर यदि कोई लेखक लिखना छोड दे और मात्र संगठनात्मक काम ही करने लगे तो ज़रूर नुक्सान पहूँचता है। लेखक केलिए सबसे बडी प्रेरणा इस बात में होती है कि वह लेखक को जीवन के और अधिक निकट जाने को बाध्य करता है।"[1]

इसप्रकार भीष्मजी प्रगतिशील लेखक संघ एवं प्रगतिशील चेतना को लेखक केलिए लाभदायक मानते हैं। प्रगतिशील साहित्य के माध्यम से जनता को बोधगम्य बनाना चाहते हैं। साथ ही उन्हें यह भी मालूम है कि साहित्य के माध्यम से समाज परिवर्तन आसान नहीं है।

---

1. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना - पृ: 46 - सं. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर।

विदेश प्रवास एवं विदेशी साहित्य से परिचय

भीष्म साहनी का विदेशों एवं विदेशी साहित्य से भी गहरा संबन्ध है। उन्होंने अंग्रेज़ी साहित्य में एम. ए. की उपाधि लेकर अंग्रेज़ी साहित्य से अपना संबन्ध बहुत पहले ही स्थापित किया था। फिर अंग्रेज़ी के अध्यापक का कार्य करके उसे और भी गहरा बना दिया है। साथ ही राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय लेखक संघों से जुडे रहने के कारण विदेशी लेखकों एवं साहित्यों से और जुडने की नौबत उन्हें मिली। इन सबके बावजूद वे लगभग सात वर्ष तक रूस में "विदेशी भाषा प्रकाशन गृह" मॉस्को में अनुवादक के पद में कार्यरत थे। इस अवधि में उन्होंने कई रूसी रचनाओं का अनुवाद भी किया था। स्वतंत्र पाठक, अध्यापक, अनुवादक और अन्तर्राष्ट्रीय लेखक संघ का संबन्ध इन सबके कारण भीष्मजी को विदेशी साहित्य का संपर्क सबसे अधिक मिला। वे विदेशी साहित्यिक संबन्ध से अपनी रचनाओं को और समूचे आधुनिक हिन्दी साहित्य को भी लाभान्वित मानते हैं। इसके बारे में उनका मत है कि "विदेशी क्लासिक्स से हम सदा प्रेरणा लेते रहे हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास में पश्चिमी साहित्य का प्रभाव एक महत्वपूर्ण तत्व रहा है। हमने अनेक विधायें उनसे ली हैं, यथार्थ की ओर हम उन्हीं के प्रभावाधीन उन्मुख हैं। परन्तु साहित्य सृजन के क्षेत्र में जहाँ ये प्रभाव हमारे दृष्टि क्षेत्र को विशालता देते हैं, जिन्दगी को देखने का एक नज़रिया देते हैं, शैली और शिल्प में नये-नये प्रयोग सामने लाते हैं, वहाँ हमारे मस्तिष्क पर अत्यधिक छा जाने पर साहित्य-सृजन के क्षेत्र में वे हमें पंगु भी बना सकते हैं।"[1] इस प्रकार के संपर्क के कारण स्वयं भीष्मजी के परवर्ती साहित्य में प्रौढता एवं कलात्मकता दृष्टिगोचर होती है।

---

1. सारिका - दिसंबर, 1970 - सं. कमलेश्वर।

साहित्यिक मान्यतायें

किसी भी विचारधारा से संबद्ध रचनाकार की अपनी स्पष्ट साहित्यिक धारणायें होती हैं । उस साहित्यिक मान्यता के अन्तर्गत वह अपने अनुभव और अपनी राजनीतिक आस्थाओं के ज़रिए परिवेश और व्यवस्था के बीच मानवीय स्थिति को व्यक्त करने का प्रयास करता है । भीष्म साहनी की साहित्यिक मान्यताओं के पीछे मार्क्सवादी जीवनदर्शन है याने वे वामपंथी विचारधारा से संबद्ध रचनाकार हैं । पर उनके जीवन-दर्शन एवं साहित्यिक मान्यतायें राजनीतिक वैचारिकता के जकड़न से बन्धी हुयी नहीं है । वे लिखते हैं कि "मानवीय सद्‌भावना मेरी समझ में कला का नैसर्गिक गुण है । इसके बिना मैं उत्कृष्ट साहित्य की कल्पना नहीं कर सकता । इसी में, किसी हद तक साम्य की बात भी आ जाती है ।"[1] गिरीश रस्तोगी ने भीष्मजी के जीवन-दर्शन एवं साहित्यिक मान्यताओं को यों स्पष्ट किया है कि "उनका जीवन-दर्शन, उनके साहित्यिक मूल्य मुख्यतः मार्क्सवाद और विभाजन के बाद की परिस्थितियों से प्रभावित हैं । मार्क्सवादी दर्शन ने उनके जीवन-जगत् संबन्धी दृष्टिकोण और धारणाओं को निर्धारित किया है, लेकिन जीवन अनुभवों की विविधता और व्यापक संघर्ष जैसे-जैसे उनके सामने ज्यादा खुलता गया, वैसे-वैसे मार्क्सवादी दर्शन की वैचारिक जकड़न कम होती गयी है ।"[2] उनके जीवन-दर्शन और साहित्यिक मान्यताओं में अन्तर नहीं है । दोनों के मूल में उनके सामाजिक चिन्तन ही है । उन्होंने इन दोनों की निकटता यों व्यक्त किया है कि "साहित्य के क्षेत्र में भी मेरे अनुभव वैसे ही स्पष्ट और सीधे सादे रहे, जैसे जीवन में । मैं समझता हूँ, अपने से अलग साहित्य नाम की कोई चीज़ भी नहीं होती, जैसा मैं हूँ, वैसी ही मैं रचनायें भी रच पाऊँगा, मेरे संस्कार, अनुभव, मेरा व्यक्तित्व मेरी दृष्टि सभी मिलकर रचना की सृष्टि करते हैं इनमें से एक भी झूठ हो तो सारी रचना झूठी पड जाती है ।"[3] इसप्रकार वे जीवन और साहित्य को अभिन्न मानते हैं ।

---

1. कथारंग - पृ: 77 - सं. सुरेन्द्र तिवारी ।
2. समकालीन नाटककार - पृ: 96 - गिरीश रस्तोगी ।
3. सारिका - अप्रैल, 1973 - पृ: 33 - सं. कमलेश्वर ।

देश, काल, राजनीति, समाज और व्यक्ति के साथ लेखकीय रिश्ते के बारे में भीष्मजी की अपनी स्पष्ट धारणा है । वे लेखक के इतिहासबोध पर भी ध्यान देते हैं । उनके अनुसार "जितना अधिक कोई लेखक अपने देश और काल से, अपने देश के जन-जीवन से जुडता है, उतना ही अधिक मेरी समझ में, वह निखरता भी है, लेखक के नाते उसके व्यक्तित्व का विकास होता है ।"[1] भीष्मजी अपनी रचनाओं में देश काल और वातावरण को स्थान देते हैं और उनके परिप्रेक्ष्य में सामाजिक यथार्थ को स्थापित करते हैं । राजनीति को वे साहित्य में वर्जित नहीं मानते हैं । वे लेखक की प्रतिबद्धता जीवन और अपनी कला से मानते हैं न कि राजनीतिक सिद्धांत या ढाँचे से । वे साहित्य की सामाजिक-सापेक्षता पर ज़ोर देते हैं । उनके अनुसार "मनुष्य को उसके समाज के परिप्रेक्ष्य में देखना उसे अधिक स्पष्टता और पूर्णता से देखना है । इसतरह लेखक जीवन की परतों को हमारे सामने खोलता है, एक नज़रिया देता है, समाज के भीतर सक्रिय शक्तियों की भूमिका समझने में मदद देता है । हमें सजग और सचेत करता है । और इस तरह साहित्य अपनी सामाजिक भूमिका निभाता है ।"[2] भीष्मजी का रचना संसार जन-जीवन का संसार है जिसमें जनसाधारण के संघर्ष, और सुख-दुख मौजूद हैं । वे सामाजिक जडताओं और विसंगतियों के विरुद्ध लडना चाहते हैं । "लेखक का विरोध उन विसंगतियों को निरावृत करना ही है, जो व्यवस्था के कारण समाज में पैदा हो जाती हैं । लेखक की विशिष्टता समाज के अन्दर पाये जानेवाले अन्तर्विरोध को ही पहचानने में और उनके कारण लोगों की जिन्दगी में पैदा होनेवाले दुख-दर्द को महसूस करने में है । उसका संवेदन इन विसंगतियों को महसूस करता है और उन्हें सामने लाता है ।"[3]

भीष्म साहनी साहित्य के मूल में मानवीय स्थिति को देखते हैं । वे मानवता के बिना श्रेष्ठ साहित्य की कल्पना नहीं करते हैं । उनकी मार्क्सवादी दृष्टि साहित्य में मानवतावादी बन जाती है । इसके बारे में उन्होंने लिखा है कि

---

1. संचेतना - 43-44 - सं. महीपसिंह ।
2. सारिका - नवंबर, 1978 - सं. कमलेश्वर ।
3. विद्रोह और साहित्य - पृ: 91 - सं. नरेन्द्र मोहन, देवेन्द्र इस्सर ।

किसी सत्ता अथवा पार्टी अथवा सिद्धांत का समर्थन अथवा विरोध वह जीवन के ही परिप्रेक्ष्य में करता है, इससे हटकर नहीं करता ।"[1] वे साहित्य के मूल में व्यक्ति को मानते हैं, पर उसके परिवेश को ध्यान में रखकर ही । क्योंकि आज के ज़माने में व्यक्ति के जीवन में समाज की भूमिका निर्णायक साबित हो रही है । व्यक्ति अपना विधिकर्त्ता नहीं बन सकता, उक्त समाज का हिस्सा मात्र होता है ।

साहित्य में आधुनिकता को विभिन्न दृष्टि से आंकता है । बदलते परिवेश में मनुष्य और समाज के जीवन में पाये जानेवाले अन्तर्विरोधों से अभिभूत होना उनके अनुसार आधुनिकता है । इसप्रकार वे साहित्य में अकेलापन का तिरस्कार नहीं करते हैं । वे यह मानकर चलते हैं कि एक हद तक समाज से कटकर देखने से ही अकेलापन का बोध महसूस करना पडता है । और वे इसे स्थायी सत्य के रूप में नहीं मानते हैं ।

सामाजिक दृष्टि

भीष्म साहनी साम्यवादी दल और प्रगतिशील लेखक संघ से संबद्ध व्यक्ति हैं । उनकी सामाजिक दृष्टि का विश्लेषण अनिवार्य है । सामाजिक दृष्टि के विश्लेषण से हम उनके मूल चिन्तन तक पहुँच सकते हैं । राजनीति भीष्मजी केलिए आलंकारिक वस्तु नहीं, उनकेलिए शक्ति एवं आस्था प्रदान करती है । भीष्मजी के राजनीतिक संबन्ध के बारे में कृष्णा सोबती ने लिखा है कि "भीष्मजी की राजनीति उसकी क्षमताओं को सिर्फ उकेरनेवाली सहायक पूर्ति नहीं - वे मूल्य और आस्थायें हैं जिन्होंने भीष्म का पूरा दृष्टिकोण स्थिर किया है ।"[2] व्यक्तिगत जीवन में वे जहाँ तक हो सके, समाज से जुडकर ही जीते हैं । वे समाज के नाना कार्य-कलापों से जुडे रहते हैं । समाज के अन्तर्विरोधों की छानबीन करके लोगों को बोधगम्य बनाने के वे इच्छुक हैं । इन अन्तर्विरोधों को पहचानने में वे मनुष्य का मनुष्य बनना समझते हैं ।

---

1. संचेतना - 43-44 - पृ: 40 - सं. महीप सिंह ।
2. हम हशमत - पृ: 30 - कृष्णा सोबती ।

"बचपन में मनुष्य विरोधाभासों को नहीं देख पाता । बचपन और धर्म-भेद' शायद मनुष्य के मानसिक विकास का अर्थ ही इन विरोधाभासों को देख और समझ पाना है ।"

भीष्मजी की सामाजिक दृष्टि गहरी एवं पैनी है । सामाजिक, राजनैतिक एवं वैज्ञानिक मामलों के बारे में विचार करते वक्त उनकी दृष्टि सत्य की खोज करती है । इसप्रकार की समस्याओं के बहसों में उनकी दृष्टि समाज की मिथ्या धारणा को तोडने का प्रयास करती है । विज्ञान और राजनीति यहाँ की अवनति का एक कारण है, ऐसी धारणा कहीं कहीं प्रचलित है । वास्तव में विज्ञान और राजनीति मानव कल्याण के पोषक हैं । "कल तक विज्ञान हमें ठीक तरह से सोचने का ढंग सिखा रहा था, हमारे अन्धविश्वास और पूर्वग्रह तोड रहा था, हमारे दिमागी जाले साफ कर रहा था, प्रबुद्ध चिन्तन की प्रेरणा दे रहा था और कहा जाता था कि विज्ञान की सहायता से हम जीवन को ज़्यादा सही ढंग से समझ पायेंगे, समाज की तह में काम करनेवाले कारणों को समझ पायेंगे आदि आदि । विज्ञान या तो नियमों की खोज है या फिर खोजों के आधार पर, व्यावहारिक जीवन में इस्तेमाल किए जानेवाले साधनों का आविष्कार । विज्ञान का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है । विज्ञान को अच्छे या बुरे की संज्ञा देना एक तरह से पुराने ढंग से ही सोचना है ।"[2] राजनीति के क्षेत्र में वे किसी की परवाह के बिना समाज के पुंसत्वहीन वर्ग पर चोट करते हैं । यह वर्ग मौजूद व्यवस्था का वक्ता है और परिवर्तन का कामी नहीं है । यह वर्ग पूँजीवाद और समाजवाद दोनों की बुराई एक साथ करता है । प्रगतिशील रचनाकार भीष्मजी इस जडता के विरोधी हैं । वे समाज परिवर्तन के साथ मूल्य परिवर्तन को भी मानते हैं । वे परम्परागत रूढ मूल्य के वक्ता नहीं है । साथ ही मूल्यहीनता के वक्ता भी नहीं हैं । "यदि मनुष्य में संकल्पशक्ति नाम की कोई चीज़ है, यदि वह अपनी संकल्पशक्ति के आधार पर कोई निर्णय कर सकता है, कोई कदम उठा सकता है तो मूल्यों का जन्म उसी समय होने लगता है ।"[3]

---

1. आइने के सामने - पृ: 175 - सं. मोहन राकेश ।
2. आलोचना, अक्तूबर - दिसंबर, 1968 - सं. नामवर सिंह ।

भीष्म साहनी की सामाजिक तथा साहित्यिक दृष्टि में ऐसा कोई अन्तर्विरोध नहीं है। उनके मूल में मनुष्योन्मुखता की भावना गतिशील है। वह प्रगतिशील भी है। इसलिए रूढियों एवं रुग्ण रीतियों से मुक्त होकर आगे बढने में, भी वह सूक्ष्म है।

भीष्मजी की रचना-प्रक्रिया

"रचना प्रक्रिया एक यात्रा है, निजी उद्वेगों को परोक्ष, वस्तुपरक सच में बदलने की। यह साहित्य का नैसर्गिक गुण है। यही कला है।"[1]

साहित्य में रचना प्रक्रिया रचनाकार अपने परिवेश से संवेदनाएँ ग्रहण करने से लेकर भाषा द्वारा उसकी अभिव्यक्ति तक की यात्रा है। इस बीच ग्रहण की गयी संवेदनाओं को लेखक के व्यक्तित्व, विचारधारा, आस्था इत्यादि से गुज़रना पडता है। साधारणतया रचना प्रक्रिया के तीन क्षण होते हैं। पहले क्षण में लेखक अपने अनुभवों से सामग्रियाँ ग्रहण करता है। दूसरे क्षण में ये संवेदनायें पकती हैं। यह क्षण एकदम लेखक के अन्तर्मन की प्रक्रिया है। "संवेदना से जीवन-मूल्यों में बदलने तक की रचनात्मक यात्रा रचनाकार के आन्तरिक जगत में चलनेवाली यात्रा होती है।"[2] रचना प्रक्रिया का तीसरा क्षण अभिव्यक्ति का है। उसमें वह समाज से गृहीत यथार्थ का पुनःसृजन करता है। "इस अर्थ में, लिखने की प्रक्रिया, निश्चय ही लेखक के आन्तरिक भावना जगत से निकलकर, बाहर की ओर जानेवाली बाह्योन्मुख प्रक्रिया होती है। बाहर की दुनिया के अक्स पकडते हुए, अक्स, बिंब और प्रतीक पकडते हुए उसे रचना का वस्तुपरक रूप मिलने लगता है। इस तरह यह लेखक के संवेदन में से जन्म लेनेवाली कथावस्तु भी है, और जीवन की कोख में से जन्म लेनेवाला सत्य भी है।'

---

1. अपनी बात - पृ: 78 - भीष्म साहनी।
2. परिवेश की चुनौतियाँ और साहित्य - पृ: 18 - हेतु भरद्वाज।
3. अपनी बात - पृ: 78 - भीष्म साहनी।

रचनाकार अपने समाज या परिवेश से उसकी संवेदनायें ग्रहण करता है । रचना के मूल में वही संवेदनायें हैं ही । रमेशचन्द्र शाह के अनुसार "परिवेश भी तो बहुत सारे व्यक्तियों की - समूहगत मानव की - निर्मिति है । हम अपनी प्राथमिक संवेदनायें परिवेश से ही ग्रहण करते हैं, व्यक्तियों से नहीं ।"[1] भीष्मजी ने भी इससे मिलता-जुलता मत प्रकट किया है । "अपने आसपास के जीवन ही में घटी कोई बात मन को चुभ जाती है और कहीं मन को उद्वेलित करती रहती है । कहीं कोई बहुत मामूली-सी बात मन में अटक-सी जाती है । कभी उसमें जीवन की किसी विडम्बना की झलक मिलती है । कहीं जीवन का सत्य झलकता है । बीज रूप में कहानी अक्सर वहीं से शुरू होती है ।"[2] इसप्रकार मन को चुभनेवाली घटनायें अन्तर्मन में पकती रहती हैं और समय एवं प्रसंग के अनुसार उसका पुनःसृजन होता है । काल का विलंब सही सृजन केलिए अनिवार्य है । अनुभव को उसी दम अभिव्यक्त करने से कलात्मकता का अभाव रहता है । "क्षुब्ध मन में सृजन करने का सामर्थ्य नहीं होता है । सृजन केलिए भोगनेवाले प्राणी को अपने क्षोभ से बाहर आना होगा ।"[3] भीष्मजी की रचनायें इसकेलिए प्रमाण है । विभाजन की विभीषिकायें एवं सांप्रदायिक दंगों का अनुभव वर्षों बाद "तमस" तथा कुछ कहानियों के रूप में प्रसंगानुसार रूप ग्रहण किया है । अपने प्रवास के वक्त प्राग से मिली घडी की कथा वर्षों बाद आपात्काल के दौर में "हानूश" बन गया । उसी तरह अपने बचपन का जीवन "झरोखे" उपन्यास बन गया है । उनकी अन्य रचनायें जैसे सरदारनी, जहूरबख्श, खण्डहर, पहला पाठ इस प्रकार का सबूत देती हैं ।

---

1. समानान्तर - पृ: 161 - रमेशचन्द्र शाह ।
2. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना - पृ: 20 - सं. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर ।
3. काव्यालोचन की समस्यायें - पृ: 19 - डा. विजेन्द्र नारायण सिंह ।

रचना प्रक्रिया के तीसरे क्षण में लेखकीय व्यक्तित्व, विचारधारा एवं अन्य प्रभावों के साथ संवेदनाओं को आकार मिलता है । इस वक्त लेखक का अवचेतन ही अधिक कार्यरत होगा । उन्हीं के अनुसार लिखने की प्रक्रिया में चेतन मन इतना सक्रिय नहीं होता, जितना लेखक का अवचेतन । लेखक का संवेदन, उसके संस्कार, उसकी कल्पना, उसकी दृष्टि और मान्यतायें सभी घुलमिलाकर, एकाकार होकर ही सक्रिय होती है । ज़िन्दगी के साथ उसका लगाव, उसके अन्दर की तडप-सभी कुछ । मात्र विचारों और मान्यताओं के बल पर कहानी नहीं लिखी जाती, विचार और मान्यता उसके रचनात्मक व्यक्तित्व में खपकर ही कला का रूप लेते हैं ।"[1] इस प्रकार भीष्मजी की रचना प्रक्रिया दार्शनिक संकेतों के जाल में नहीं पडती है और क्लिष्टता एवं दुरूहता से मुक्त है । वे सरल एवं सहज ढंग से मानव जीवन को, याने "मानवीय स्थिति" को पकडना चाहते हैं ।

संपादक एवं अनुवादक

संपादन कार्य साहित्यिक क्षेत्र का एक अभिन्न अंग रहा है । प्राय: आधुनिक युग के सभी साहित्यकार संपादन कार्य से संबद्ध रहे हैं । संपादन से नई रचनायें प्रकाश में आती हैं । इससे नए साहित्य को प्रोत्साहन एवं मार्गदर्शन भी मिलता है । संपादक सभी विधाओं एवं रचनाओं को बढावा दे सकता है । साथ ही नए आन्दोलन को भी ।

भीष्मजी भी संपादन कार्य से जुडे रहे थे । उन्होंने 1965 से ढाई वर्ष तक "नई कहानी" का संपादन कार्य संभाला था । इसकेलिए उन्होंने किसी भी प्रकार का पारिश्रमिक नहीं स्वीकार किया । वे संपादक की अपनी सीमाओं को जानते हैं । परन्तु उन सीमाओं के अन्तर्गत संपादक के रूप में उन्होंने अवश्य कुछ किया ।

---

1. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना - पृ: 13 - सं. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर ।

उनके अनुसार संपादक नए हस्ताक्षरों की खोज कर सकता है, मानवीय लेखन को प्रोत्साहन दे सकता है, बढ़िया साहित्य जुटा सकता है, विचार मंच व गोष्ठियों का आयोजन कर सकता है । साथ ही वे संपादक को पूर्वग्रह से मुक्त होने का आह्वान देते हैं । "नई कहानी" के अलावा उन्होंने "आधुनिक हिन्दी उपन्यास" नामक किताब का संपादन, किया जिसकेलिए डा. रामजी मिश्र एवं डा. भगवतीप्रसाद निदारिया का सहयोग मिला है ।

अनुवादक के रूप में भीष्म साहनी ने एक महत्वपूर्ण स्थान निभाया है । लगभग सात वर्ष तक उन्होंने विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, मॉस्को में अनुवाद कार्य किया था । उनमें मुख्य हैं - तात्स्तॉय के "पुनरुत्थान" और उनकी लम्बी कहानियाँ । चगीज़ आइत्मातोव का "पहला अध्यापक" और निकोलाई आस्त्रोवस्की का "जनजीवन" का भी अनुवाद उन्होंने रूस में रहकर किया था । हिन्दी साहित्य में यशपाल का उपन्यास "दिव्या" और उनकी कुछ कहानियों का भी अनुवाद किया था । इन सबके अलावा और भी कई रचनाओं का अनुवाद भी उन्होंने किया था । उन्होंने अपनी रचनाओं का अंग्रेज़ी रूपान्तरण भी प्रस्तुत किया है ।

अन्य रचनायें

हानूश

कुछ लोगों को विस्मय हो सकता है कि कथाकार भीष्म साहनी ने अपने 62 वर्ष की अवस्था में नाट्य क्षेत्र में प्रवेश किया है । पहले ही विस्तार से सूचित किया जा चुका है कि उनका संबन्ध रंगमंच एवं अभिनय के साथ था । पर वे नाटककार के रूप में सन् 1977 में सामने आये । अपना प्रथम नाटक "हानूश" लिखकर ही वे हिन्दी नाट्य क्षेत्र में आकर्षण केन्द्र बन गए । "हिन्दी नाट्य लेखन की सारी पृष्ठभूमि, समस्याओं और आशंकाओं के बीच अपनी विशेष मानवीय संवेदनाओं के कारण साहनी के इस अकेले नाटक ने सभी निर्देशकों - रंगकर्मियों का ध्यान आकृष्ट किया । आज जबकि

हिन्दी नाटक प्रयोग के नाना प्रपंचों के बीच से गुज़रता हुआ एक खास रुचि के वर्ग के देखने – समझने की कला बन रह गया है, यह नाटक अपने शिल्प की सादगी, कथ्य के पैनेपन और तीव्र घनीभूत तनावपूर्ण मानसिक स्थितियों के भावात्मक चित्रण के कारण प्रभावित करता है और सुखद आश्चर्य की अनुभूति करता है ।"[1] आगे उन्होंने और भी दो नाटक लिखकर हिन्दी नाटक को महत्वपूर्ण योग दिया है ।

"हानूश" चेकस्लोवाकिया की राजधानी प्राग में स्थित एक पुरानी मीनारी घडी के बारे में प्रचलित जनश्रुतियों एवं दन्तकथाओं को आधार बनाकर लिखा गया नाटक है । इतने पर इसे ऐतिहासिक नाटक ठहराया नहीं जा सकता है । यह एक "मानवीय स्थिति" को अभिव्यक्ति देने का प्रयास है । अपना मंतव्य व्यक्त करते हुए लेखक ने लिखा है कि "यह नाटक ऐतिहासिक नाटक नहीं है, न ही इसका अभिप्राय घडियों के आविष्कार की कहानी कहना है । कथानक के दो एक तथ्यों को छोडकर लगभग सभी कुछ ही काल्पनिक है । नाटक एक मानवीय स्थिति को मध्ययुगीन परिप्रेक्ष्य में दिखाने का प्रयास है ।"[2] इस प्रकार यह नाटक एक दृष्टि से एक रचनाकार के अन्तर्द्वन्द्वों एवं छटपटाहट को मध्ययुगीन परिप्रेक्ष्य में दिखाने की सफल कोशिश है ।

"हानूश" में एक मध्ययुगीन घडीसाज हानूश के चिरन्तन स्वप्न-साक्षात्कार की कथा परिकल्पित है । याने तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं पारिवारिक खींच – ताव के बीच एक सृजनकार की उत्कट अभिवांछा को अभि-व्यक्ति मिली है । एक मामूली कुफ्लसाज हानूश कहीं परदेश की एक घडी की बात सुनता है । महत्वाकांक्षी हानूश अपने पेशे से हटकर सत्रह साल की कठिन तपस्या के बाद घडी का निर्माण करता है । इस अवधि में वह आर्थिक कठिनाइयों एवं पारि-वारिक समस्याओं के कारण कई बार अपने काम से हाथ धोने को बाध्य होता है ।

---

1. समकालीन नाटककार – पृ: 97 – गिरीश रस्तोगी ।
2. हानूश (भूमिका) – पृ: 2 – भीष्म साहनी ।

फिर पादरी भाई, सौदागर, बूढा लोहार एवं अन्य शुभेच्छुओं की सहायता एवं प्रेरणा के फलस्वरूप वह घडी का काम पूरा करता है । सौदागरों की शर्त के अनुसार घडी शहर के व्यस्त चौराहे पर लगाई जाती है, जिसका उद्घाटन बादशाह द्वारा होता है । उद्घाटन के अवसर हानूश कुफ्लसाज दरबारी घोषित किया जाता है और साथ ही उसकी आँखें निकालने का आदेश भी । हानूश को अजीब ढंग का पुरस्कार देकर बादशाह यह दिखाना चाहता है कि मैं सर्वशक्तिमान हूँ और वह यह भी चाहता है कि इसका आतंक लोग अनुभव करें । इसप्रकार पुरस्कृत हानूश, कई बार घडी का, तथा अपना अन्त भी करना चाहता है । क्योंकि घडी की आवाज़ उसे असह्य महसूस होती है, जिसकेलिए उसने वर्षों तक कष्ट झेला था । मगर घडी बन्द हो जाने के बाद वह एक पल विचलित हो जाता है और अन्त में उसकी मरम्मत भी करता है । इसी बीच हानूश जेकब को अपने सहायक के रूप में रखता है, जिससे यान्का प्रेमबद्ध हो जाती है । एक ओर जेकब और बूढे लोहार को प्रेरणा एवं सहायता और दूसरी ओर हानूश की अदम्य इच्छा घडी के निर्माण में सहायक होती है ।

"हानूश" एक संघर्षशील कलाकार की सिसृच्छा और संकल्प की तीव्रता को सहज संवेदना के साथ प्रस्तुत करनेवाला नाटक है । भीष्मजी ने एक सामान्य घडीसाज के माध्यम से एक संवेदनशील रचनाकार के व्यक्तित्व की छटपटाहट और उसकी निरीहता एवं दमन को प्रस्फुटित किया है । उसकी आर्थिक विपन्नता एवं कठिनाइयों को अतियथार्थ के धरातल पर प्रस्तुत किया है । हानूश की पत्नी अपने देवर के आगे कहती है कि "जो आदमी अपने परिवार का पेट नहीं पाल सकता, उसकी इज़्ज़त कौन औरत करेगी ।"[1] इस प्रकार "हानूश" में साधारण मनुष्य एवं कलाकार मन की संकटापन्न स्थिति को एक साथ अभिव्यक्ति मिली है । इसके बारे में गिरीश रस्तोगी ने लिखा है कि "यहाँ एक रचनाकार की दुर्दमनीय सृजनेच्छा, उसकी विवशता, निरीहता और संकटापन्न स्थिति को पूरी तरह पहचाना है । मोहन राकेश के "आषाढ का दिन

---

1. हानूश - पृ: 27 - भीष्म साहनी ।

में सत्ता के बीच एक साहित्यकार के अन्तर्द्वन्द्व का मूल प्रश्न तो उठाया गया था लेकिन उसकी सृजनेच्छा की आन्तरिक आकुलता और पीडा को इतनी सघनता और तीव्रता से चित्रित नहीं किया जा सकता था ।"[1] नाटक के इस मूल तथ्य के साथ व्यवस्था की कूटनीति, स्वार्थपरता और आशंका-ग्रस्त दुर्बल मानसिक स्थिति का चित्रण भी किया गया है । इस शंकाग्रस्त मानसिकता के कारण शासक धर्म और सौदागर दोनों को संतुलित रखना चाहता है । साथ दोनों की प्रीति भी चाहता है । इसी मन:स्थितिवश वह कभी-कभी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर हस्तक्षेप करता है । प्रस्तुत नाटक का प्रकाशन 1977 में हुआ जब आपात्काल का अन्तिम समय था । इसलिए शायद इसके पीछे लेखकीय अनुभव का निशान भी होगा । कभी-कभी शासन की भांति कला पर भी धर्म एवं सौदागर की काली छाया मंडराती रहती है । सौदागर वक्त की प्रतीक्षा करनेवाले हैं । घडी को नगरपालिका के हाल पर लगाकर वह नगर तथा व्यापार एवं उद्योग की वृद्धि करना चाहता है । एक सौदागर जार्ज सौदागरों की बैठक में कहता है कि "व्यापारी वह है जो वक्त पहचानता है ।"[2] धर्म व चर्च भी शोषण में पीछे नहीं है । हानूश इससे रुष्ट होकर कहता है कि "गलत भी क्या है, कात्या? क्या गिरजेवाले ने बेहद दौलत इकट्ठी नहीं कर ली? कोई ऐसा ऐब है जो पादरीलोग नहीं करते? अगर वे लोग अच्छे और नेक हो तो क्योंकर उनपर कोई ऊँगली उठाएगा? जान हुक्स भी यही कहता है ।"[3] इसप्रकार सत्ता, धर्म व संप्रदाय और सौदागर के बीच याने व्यवस्था से उत्पन्न आर्थिक, सामाजिक धार्मिक परिवेश में "मानवीय स्थिति" को नाटककार ने "हानूश" में अभिव्यक्ति दी है । इस नाटक के बारे में नेमीचन्द्र जैन ने ठीक ही लिखा है कि "व्यंजना और विडंबना (आयरनी) का ऐसा सूक्ष्म और कलात्मक उपयोग हिन्दी नाटक केलिए एकदम अनूठा और विरल है ।"[4]

---

1. समकालीन नाटककार - पृ: 98 - गिरीश रस्तोगी ।
2. हानूश - पृ: 63 - भीष्म साहनी ।
3. वही - पृ: 45 - वही ।
4. भाषा (मार्च-जून) 1983 - सं. जगदीश चतुर्वेदी ।

कबिरा खड़ा बज़ार में

"कबिरा खड़ा बज़ार में" भीष्म साहनी की दूसरी नाट्य कृति है। इसमें मध्यकालीन संत कवि महात्मा कबीरदास के विद्रोही व्यक्तित्व एवं तत्कालीन परिवेश पर ज़ोर दिया है। "नाटक में उनके काल की धर्मान्धता, अनाचार, तानाशाही आदि के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उनके निर्भीक, सत्यान्वेषी प्रखर व्यक्तित्व को दिखाने की कोशिश है। उनके अध्यात्मपक्ष को नकारना अथवा उसकी उपेक्षा करना अपेक्षित नहीं था, उस आधारभूमि को स्थिर कर पाना ही अपेक्षित था, जिसमें उनके विराट् व्यक्तित्व का विकास हुआ।"[1] लेखक ने इतिहास के ज़रिए समकालीन समाज पर भी प्रकाश डाला है। कबीर और उनके साहित्य की प्रासंगिकता आज बढ़ रही है। याने आज के समाज में कबीर जैसा व्यक्तित्व और कृतित्व की आवश्यकता है। लेखक ने संवादों के माध्यम से इसकी ओर इशारा भी किया है। इसलिए भीष्मजी ने कबीर के मानवतावादी विचार पर अधिक ज़ोर दिया है। वास्तव में कबीर के विचार के मूल में मानव ही है।

कबीरदास नूरा-नीमा नामक जुलाहा दम्पति का इकलौता बेटा है। उनका जन्म एक ब्राह्मण युवती की कोख में हुआ पर जीवन से एक जुलाहा बन गए। एक साधारण जुलाहे के रूप में जीवन बितानेवाले कबीर के मन में तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक जडता की वजह से प्रश्न उठते ही रहते हैं। अतः उनका मन बेचैन हो जाता है। यहाँ से उनका संघर्ष भी शुरू होता है। माँ-बाप उसे बहुत पसन्द करते हैं परन्तु परिस्थिति से विवश होकर कहीं जाने की सलाह भी देते हैं। लेकिन कबीर माँ से पूछते हैं कि क्या वहाँ तुर्क और हिन्दू नहीं होंगे? क्या वहाँ मन में प्रश्न नहीं उठेगा? और कबीरदास काशी में ही अडिग रहता है। कबीर और उनके साथी सत्संग और भंडारा चलाने में व्यस्त होते हैं। शोषितों और

---

1. कबिरा खड़ा बज़ार में - पृ: 8 - भीष्म साहनी।

पीडितों के प्रति कबीर की सहानुभूति अदम्य हैं । सत्संग में हिन्दु-मुस्लिम धर्म के भ्रष्टाचार, बाह्याडंबर, राजनीतिक तानाशाही सबका खुलकर विरोध करते हैं । इससे प्रभावित होकर निम्नजाति एवं वर्ग के लोग इसमें भाग लेते हैं और उनके कवित्त गाकर घूमने - फिरते हैं । इससे धार्मिक आडंबरों एवं भ्रष्टाचारों का पर्दा-फाश होता है और रुष्ट होकर महंत, मौलवी आदि कोतवाल के यहाँ शिकायत करते हैं । शासन और धर्म की ओर से कबीर को दण्डित किया जाता है । उन्हें गंगा में डुबोया, मस्त हाथी के आगे डाला गया, उनकी चमडी उधेड डाली , घर-गृहस्थी जला दिया और अनुयायियों को मार डाला । फिर भी कबीर अडिग रहते हैं । इस बीच उनकी शादी लोई के साथ होती है । वृद्धप्रज्ञ कबीर को सत्संग और भण्डारे से हटाने केलिए कायस्थ आता है, परन्तु कोई फर्क नहीं पडता है । वह उपदेश और धमकी भी देता है । इस अवधि में बादशाह सिकंदर लोदी शेख तक्की के मुँह से कबीर के बारे में सुनता है । कबीर और बादशाह के बीच वाद-विवाद चलता है और अन्त में बादशाह रुष्ट होकर कबीर पर कडी निगरानी रखने का आदेश देकर चला जाता है ।

इस अतीत में समकालीन समाज के संकेत की परख में दोनों परिवेश की निकटता मुख्य बात है । कबीर का समय मध्ययुगीन तानाशाही धार्मिक व सांप्रदायिक कटमुल्लावाद का था । उक्त परिवेश में कबीर के निडर, सत्यभाषी और अन्याय के खिलाफ लडनेवाले व्यक्तित्व उजागर होता है । दूसरी ओर समकालीन समाज और उसमें मुद्रत, गैर-सांप्रदायिक, फासिज़्म विरोधी शक्तियों की महत्वपूर्ण अवधारणा और उसमें कबीर जैसे फकीर की माँग की ओर संकेत है । इसमें वर्ग-विभक्त, धर्म व संप्रदाय विभक्त विषम समाज की समकालीनता को व्यंजित करता है । आज का भारतीय समाज भी मध्यकालीन समाज से मिलता-जुलता है । धर्म-व-संप्रदाय देश के भविष्य केलिए खतरा बन गया है । सिकंदर लोदी तत्कालीन शासक का और महंत धर्म का भी प्रतीक है । कोतवाल आज की अफसरशाही का और कायस्थ सैकोफैन्टस का प्रतीक भी हैं

पुजारी, मौलवी, पंडे आदि आज भी ज्यों-का-त्यों वर्तमान है । कबीर, रैदास, पीपा, बशीरा आदि निस्वार्थ कर्मरत समाजसेवी है । भारत में सांप्रदायिकता भयानक बन गयी है । समकालीन समाज की मध्यकालीन अवस्था की ओर नाटक में इसप्रकार संकेत है । "जब तक किसी की नज़र में एक ब्राह्मण है और दूसरा तुर्क, तब तक वह इन्सान के नाते गले लगाने केलिए मन्दिर के सारे पूजा-पाठ और विधि अनुष्ठान छोडता हूँ, और मस्जिद के रोज़-नमाज़ भी छोडता हूँ । मैं इन्सान को इन्सान के रूप में देखना चाहता हूँ ।"[1] यहाँ नाटक का मूल तथ्य व्यक्त होता है - तत्कालीन परिवेश की धार्मिक जडता और उसके बीच कबीर का मानववादी विचार भी । कबीर के चिन्तन के मूल में मानवीय सद्भावना की धुरी मिलती है । लेखक ने इसे अपने वक्तव्य में यों व्यक्त किया है कि "मेरी समझ में कबीर का अध्यात्म मूलत: उनकी मनुष्य मात्र के प्रति समदृष्टि, प्रेमभाव, भक्तिभाव और व्यापक धर्मेतर दृष्टि से ही पनपकर निकला है । उनके बाह्याचार विरोधी पद भक्तिभाव के पद और आध्यात्मिक पद एक ही भूमि से उत्पन्न हुए हैं, एक ही मूल दृष्टि की उपज है, इस तरह वे एक दूसरे से अलग न होकर एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुडे हुए हैं ।"[2] शासन धर्म और पूँजीपतियों के दोहरे चक्र में घूमता है । मध्यकाल से आज वह स्थिति और भी बढ रही है । "मजहब के नाम पर सल्तनतें बनती हैं, और सल्तनतों के साये में मजहब पनपते हैं, हाकिम की तलवार दीन की खिदमत करती है ।"[3] मध्यकाल के समान शासक दिमाग से और मजहब भाव से अपना काम चलाते हैं । और आम-आदमी को जीने केलिए धर्म व संप्रदाय से समझौता करने को बाध्य करता है । इस प्रकार के विकल परिवेश मध्यकाल के समान आज भी वर्तमान है । इस वातावरण में लेखक कबीर के व्यक्तित्व -

---

1. कबिरा खड़ा बज़ार में - पृ: 81 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 9 {भूमिका}
3. वही - पृ: 40

"कबीरा खडा बाज़ार में, लिए लुकाठी हाथ
जो घर फूँके आपना, चले हमारे साथ ।"[1] - की माँग करते हैं ।

"कबिरा खड़ा बज़ार में" के मूल में भीष्मजी ने मानवीय सद्भावना को ढूँढा है । प्रस्तुत नाटक के ज़रिए नाटककार ने ऐतिहासिक पुरुष कबीर की अनछुयी मानवीय दृष्टि को पकडने की कोशिश की है । दूसरी ओर उस मध्यकालीन परिवेश के माध्यम से समकालीन परिवेश और उसमें कबीर जैसे मानवतावादी विद्रोही व्यक्तित्व की अपेक्षा करते हैं ।

माधवी

समसामयिकता की अभिव्यक्ति अधिक प्रभावात्मक एवं आकर्षक ढंग से करने केलिए मिथक सबसे पुष्ट माध्यम है । भीष्म साहनी ने अपने तीसरे नाटक "माधवी" में पुराण का भली-भांति प्रयोग किया है । महाभारत से उन्होंने इसकी कथा ग्रहण ली है । महाभारत के माधवी-गालव प्रसंग के माध्यम से नाटककार ने नारी संवेदना को बडी सहजता के साथ प्रस्तुत किया है ।

गालव महर्षि विश्वामित्र का शिष्य है । वह गुरुदक्षिणा देने केलिए हठी और स्वभाव से महत्वाकांक्षी है । इसलिए गुरु विश्वामित्र गालव को गुरु-दक्षिणा के रूप में आठ सौ अश्वमेधी घोडे सौंपने का आदेश देता है । इस असंभव गुरुदक्षिणा की बात सुनकर गालव विचलित होता है और आत्महत्या करने का प्रयास करता है । यह जानकर भगवान विष्णु गालव को आत्महत्या से विमुख करने केलिए गरुड को भेजता है । गरुड गालव को कर्तव्यपरायण दानवीर ययाति के पास जाने का उपदेश देता है । राजा ययाति ने राजपाट छोडकर सन्यास ग्रहण किया है ।

---

1. कबिरा खड़ा बज़ार में - पृ: 83 - भीष्म साहनी ।

इसलिए निर्धन, परन्तु कर्तव्य को सर्वोपरि माननेवाले ययाति अपनी इकलौती गुणवती बेटी माधवी को गालव को सौंप देता है । माधवी चक्रवर्ती राजा को जन्म देने की क्षमता रखती है, साथ ही उसे अनुष्ठान के माध्यम से हर समय यौवन धारण करने का वर भी प्राप्त है । रूप और गुण से युक्त माधवी से गालव की मनोकामना की पूर्ति होती है । गालव उसे भुनकर गुरुदक्षिणा समेटने में कामयाब होता है । माधवी दो सौ-दो सौ घोडों के बदले एक-एक वर्ष अयोध्या नरेश, काशी के दिवोदास और भोजनगर के वृद्ध राजा उशीनर के अन्तःपुर में रहती है और तीनों राजाओं को एक-एक पुत्र भी अपनी कोख में जन्म देती है । इस प्रकार छः सौ अश्वमेधी घोडे इकट्ठा करता है । पूरे आर्यावर्त में मात्र 600 अश्वमेधी घोडे हैं । इसलिए गालव चिन्तित हो जाता है । माधवी भोजनगर से विश्वामित्र के आश्रम पहूँचती है और शेष 200 घो के बदले एक वर्ष आश्रम में रहकर विश्वामित्र की सेवा करने का वादा करती है । इस प्रकार गालव की गुरुदक्षिणा की पूर्ति होती है, साथ ही विश्वामित्र की लालच की भी । आगे राजा ययाति के आश्रम में धूम-धाम से गालव की के "दीक्षांत-समारोह" और माधवी के स्वयंवर का आयोजन भी चलता है । आश्रम के बाहर कुछ क्षणों केलिए गालव और माधवी की भेंट होती है । माधवी उसे वरने का अपना निश्चय बताती है । लेकिन गालव उससे पुनः यौवन स्वीकारने का प्रस्ताव रखता है । गालव में उसे स्वीकार करने की इच्छा है और साथ ही उससे स्वतंत्र होने केलिए "गुरु पत्नी" का बहाना भी है । प्रेम को अटल और सबसे ऊपर माननेवाली माधवी पुनः यौवन धारण करने से इन्कार कर देती है । अन्त में वह स्वयंवर में भाग न लेकर अपना रास्ता पकड लेती है ।

इस पौराणिक कथानक के माध्यम से भीष्मजी ने अतिआधुनिक समाज में नारी शोषण के बहु आयामी स्तर और पुरुष वर्ग की भोंडी कर्तव्यपरायणता, स्वार्थता एवं अवसरवादिता का भंडाफोड किया है । "वस्तुतः भीष्म साहनी की मर्मभेदी दृष्टि सामाजिक व्यवस्था में नारी के साथ हो रहे शोषण की परतों के

अनावरण में सफल रही है । इसलिए माधवी की अनुभव यात्रा आज की जीवन स्थितियों से भिन्न नहीं है ।"[1] आज भी वास्तव में नारी की कोई स्वतंत्र इयत्ता नहीं है । वह मात्र निमित्त होती है । समाज में नारी के चारों ओर पिता, भाई, पति नहीं है । इसकी ओर माधवी कहती है "कभी-कभी मुझे लगता है मैं कोई दुःस्वप्न देख रही हूँ, और मेरे चारों ओर राक्षस और दानव घूम रहे हैं, कर्तव्यपरायण दानव . . . तीनों राजा मेरे बच्चों को साथ लेकर यहाँ पहुँच गये हैं । जैसे मछली पकडने केलिए काँटे में छोटी मछली लगा दी जाती है, वे मेरे बच्चों को मेरे सामने लाकर मुझे प्रलोभन देंगे । सभी कर्तव्य के पक्के, सभी महामानव । तुमने मेरे यौवन की आहुति देकर अपनी गुरु-दक्षिणा जुटायी है ।"[2] गालव अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए हर प्रकार के समझौते को तैयार है । अपनी प्रेयसी को, गुरु को या बूढे राजा को सौंप देने में उसे हिचक नहीं है । उसे माधवी के प्रति मोह है, पर उसकेलिए अपना उद्देश्य ही सबकुछ है । इष्ट-सिद्धि प्राप्त होने तक उसमें सतीत्व, नीतिबोध और प्रेम नहीं है, मात्र "कर्तव्य" निष्ठा है । सबकुछ मिलने के बाद वह माधवी का बाहरी सौंदर्य मात्र माँगता है । प्रेमी या पति के समान पिता भी अपनी यश-लिप्सा की पूर्ति केलिए पुत्री को निमित्त बना देता है । राजा ययाति अपना नाम सत्य हरिश्चन्द्र और दानवीर कर्ण की कोटि में रखना चाहता है । इसलिए अपनी पुत्री माधवी को वह दान देता है । गुरु विश्वामित्र अपने शिष्य की प्रेयसी को पहचानकर भी उसे अपनाता है और मार्ग भूलकर सारी संपत्ति भी अपनाना चाहता है । इस प्रकार के शोषण में मात्र नारीत्व खो जाती है । इस बहु आयामी शोषण के बारे में माधवी का कथन है "और संसार तुम्हें ही तपस्वी और साधक कहेगा, मेरे पिता को दानवीर कहेगा, और मुझे' चंचल वृत्ति की नारी, जिसका विश्वास नहीं किया जा सकता ।"[3] पुराण में ये सब गुरुदक्षिणा, दानशीलता, कर्तव्य -

---

1. दीर्घा - 33 - पृ: 42 - सं. विनय ।
2. माधवी - पृ: 93 - भीष्म साहनी ।
3. वही ।

परायणता और उपदेश धर्म के नाम पर चलते थे। आज भी जीवन धर्म में इन सबका परिवर्तित रूप विद्यमान है। समयानुसार धर्म में भी परिवर्तन आया है।

नाटक का अन्त भी महत्वपूर्ण है। वहाँ सबकुछ समझकर नारी पुरुष से हटकर अपना स्वतंत्र मार्ग स्वीकार करती है। वह पुरुषवर्ग के छल-कपट, भोंडी कर्तव्यपरायणता सब पर प्रहार करती हुई अपना रास्ता साफ कर देती है।

भीष्म साहनी कथाकार और नाटककार के अलावा एक आलोचक भी हैं। "अपनी बात" उनके आलोचनात्मक लेखों का संग्रह है। हिन्दी उपन्यास में नायक की अवधारणा उनका शोध प्रबन्ध है, जिसमें भी उनकी आलोचनात्मक दृष्टि का परिचय मिलता है। इसके अलावा अनेक आलोचनात्मक लेख भी प्रकाश में आये हैं। "संत्रास का आतंक", "गोर्की और यथार्थवाद", "कफन : आर्थिक चेतना के जटिल आयाम", "लेखक और प्रतिबद्धता" इत्यादि उसमें उल्लेखनीय हैं। "मेरे भाई : बलराज" नामक जीवनी उन्होंने अंग्रेज़ी में लिखी है। "गुलेल का खेल" उनका बालोपयोगी कहानी संग्रह है। अपने लेखन के आरंभिक दिनों में उन्होंने कुछ कवितायें लिखी थीं।

भीष्म साहनी का व्यक्तित्व सरल किन्तु सुदृढ है। उनकी मानवीयता सतही हमदर्दी न होकर एक गहरी सामाजिक दृष्टि की उपज है। यह दृष्टि विशाल है अर्थात् सामाजिक है। भीष्म साहनी बन्द कमरे के रचनाकार ही नहीं है। उनका कर्मक्षेत्र इतना विशाल है, और स्वयं उन्होंने अपने कर्मक्षेत्र को विस्तृत किया है। कभी संपादक, कभी रंगकर्मी, कभी अभिनेता - इस प्रकार वे हर क्षेत्र में अपना सुदृढ व्यक्तित्व का परिचय देते चलते हैं।

अध्याय - दो

भीष्म साहनी के उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ

उपन्यास मूलतः सामाजिकता से जुड़ा रहता है । उपन्यास में सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्ति मिलती है । उसमें समाज के सूक्ष्म एवं संश्लिष्ट यथार्थ से लेकर बाहरी यथार्थ तक, समकालीन बोध के साथ रचनाकार अपनाता है और उसे एक नया धरातल देता है । उपन्यास में सामाजिक यथार्थ का काम यही होता है । साहित्य में सामाजिक यथार्थ की चर्चा उपन्यास के आविर्भाव के साथ शुरू होती है । "उपन्यास अपने आरंभ से माध्यमगत रूप में समाज के यथार्थ चित्रण से जुड़ा हुआ है ।"[1] इससे दोनों का संबन्ध व्यक्त होता है । सामाजिक होने की वजह उपन्यास में समाज और व्यक्ति से संबन्धित सारी बातें आती है, चाहे अर्थ, संस्कृति, इतिहास, मनोविज्ञान, राजनीति इत्यादि । इसलिए प्रासंगिक तौर पर इन सबकी चर्चा सामाजिक यथार्थ में वर्ज्य नहीं है । "सामाजिक यथार्थ दार्शनिक दृष्टि से प्रत्यक्ष जगत् से बिलकुल भिन्न है । प्रत्यय मानव मस्तिष्क से संबन्धित है, किन्तु सामाजिक यथार्थ के भीतर वे शक्तियाँ आती है, जो मानव मस्तिष्क के बाहर है । आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों का समुच्चय ही सामाजिक यथार्थ है । ये शक्तियाँ मिलकर उस सामाजिक वातावरण का निर्माण करती हैं, जिनसे हमारे संस्कारों की सर्जना होती है ।"[2]

---

1. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - पृः 160 - डा. रामस्वरूप चतुर्वेदी ।
2. हिन्दी साहित्य कोश - पृः 914 - सं. धीरेन्द्र वर्मा आदि

सामाजिक यथार्थ हिन्दी उपन्यास के आरंभिक काल में छिटपुट ढंग से दर्शनीय था । प्रेमचन्द के आगमन के बाद उसमें व्यापकता आती है, परन्तु आदर्श का आवरण कहीं-कहीं मौजूद था । प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास साहित्य में मनोविज्ञान एवं मार्क्सवाद का प्रभाव दिखाई पडता है । साथ ही उसकी यथार्थ दृष्टि में भी परिवर्तन नज़र आता है । फलत: एक ओर उपन्यास में संश्लिष्टता एवं वैयक्तिकता का स्वर उभरने लगा तो दूसरी ओर सामाजिकता का ज्वार भी । फिर भी स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास का मुख्य स्वर सामाजिक यथार्थ का ही है । भीष्म साहनी स्वातंत्र्योत्तर कथाकार हैं, जिनकी रचनाओं में मार्क्सवाद का प्रभाव पडा है । यह प्रभाव लेखकीय दृष्टिकोण के अनुसार रचनाओं में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में दिखाई पडता है । भीष्मजी की रचनाओं में सामाजिक यथार्थ अधिक बल पकडता नज़र आता है । उनके उपन्यासों की ज़मीन भारतीय समाज ही है ।

हिन्दी उपन्यास परम्परा और सामाजिक दृष्टि

आधुनिक काल को हिन्दी साहित्य में गद्यकाल मानते हैं, क्योंकि गद्यसाहित्य का सर्वतोन्मुखी विकास इसकाल में हुआ है । उपन्यास गद्य साहित्य की प्रमुख विधा है, जिसका आविर्भाव पूर्णत: आधुनिक युग में हुआ है । इसी कारण उसे "पूँजीवादी युग की देन"[1] कहा है । वह "आधुनिक काल की उपज है । आधुनिक काल में जो औद्योगिक विकास हुआ है, उसके कारण मनुष्य के सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक जीवन में जो परिवर्तन आए हैं और उनसे जो नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं, उपन्यास अनिवार्यत: उन्हीं की उपज है ।"[2] उपन्यास एक व्यक्ति को नहीं, पूरे समाज को प्रस्तुत कर सकता है । "उपन्यासकार एक व्यक्ति-वृत्त-चरित्र या घटना-की अपेक्षा एक पूरा जगत् पेश करता है ।"[3]

---

1. साहित्य: विधाओं की प्रकृति - पृ: 92 - सं. देवीशंकर अवस्थी ।
2. हिन्दी उपन्यास : पहचान और परख - पृ: 11 - सं. डा. इन्द्रनाथ मदान ।
3. [illegible]

उपन्यास का जन्म, समाज को अपने व्यापक एवं विस्तृत रूप में अभिव्यक्ति देने केलिए हुआ है । पूर्ववर्तीकाल में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति महाकाव्य में हुई थी । आज के यथार्थ एवं जटिल जीवन की अभिव्यक्ति में महाकाव्य की अपेक्षा उपन्यास अधिक समर्थ निकला । उपन्यास में सामाजिक जीवन का यथार्थ अंकन होता है । वह "अपने जन्म से ही जुडा है सामाजिक यथार्थ से । अगर सामाजिक यथार्थ से न जुडता तो शायद हर देश में उपन्यास रोमांस रह जाता, किस्सा रह जाता । उपन्यास तभी हुआ जब वह सामाजिक यथार्थ की भावना से जुडा हो, चाहे किशोरीलाल गोस्वामी के यहाँ, चाहे यूरोपीय उपन्यासकारों के यहाँ ।"[1]

हिन्दी के प्रथम उपन्यास के बारे में कुछ विवाद तो रहता है । परन्तु हिन्दी उपन्यास का वास्तविक आरंभ अंग्रेज़ी एवं बंगला उपन्यासों के प्रभाव से हुआ है । "हिन्दी कथा साहित्य की प्राचीन परम्परा तथा हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय तथा विदेशी भाषाओं के प्रभाव ने मिलकर हिन्दी उपन्यास का स्वरूप निर्धारण किया है ।"[2] इसके पूर्व यहाँ कुछ कथाख्यायिकाओं और लंबी कथाओं की रचना हुई थी । किन्तु इनमें आधुनिक उपन्यास के लक्षण का अभाव था । "इनमें और उपन्यास में समानता का तत्व दोनों की कथात्मकता थी । परन्तु इनमें सुगठित घटनाचक्र, नाटकीय स्थितियाँ और संवाद , जीवन की व्यापक और जटिल समस्यायें, चरित्र-चित्रण की आधुनिक पद्धतियाँ, कलात्मक-सृजनात्मकता आदि का सर्वथा अभाव था ।"[3] इसलिए आचार्य शुक्ल ने "परीक्षागुरु" को अंग्रेज़ी ढंग का पहला उपन्यास माना था । इस समय हिन्दी में ही तिलस्मी-ऐय्यारी एवं जासूसी उपन्यासों की रचना होती थी । उनमें भी साहित्यिक गुण के अभाव के कारण उसे भी हिन्दी उपन्यास की वास्तविक

---

1. साहित्य और समाज : परिवर्तन की प्रक्रिया में - पृ: 160 - सं. अज्ञेय ।
2. हिन्दी उपन्यास का परिचयात्मक इतिहास - पृ: 21 - डा.प्रतापनारायण टंडन
3. आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य - पृ: 51 - डा. हरदयाल ।

परम्परा में नहीं रख सकते । आचार्य शुक्ल की मान्यता है कि "ये वास्तव में घटना प्रधान कथानक या किस्से हैं जिसमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं । इससे वे साहित्यिक कोटि में नहीं आते ।"[1]

भारतेन्दु युग में हिन्दी उपन्यास की परम्परा शुरू होती है । स्वयं भारतेन्दु ने मौलिक एवं पूर्ण उपन्यास नहीं लिखा, फिर भी उनके सहयोगियों ने उनसे प्रेरणा लेकर उपन्यासों की रचना की है । कुछ विद्वान इस समय के उपन्यासों पर संस्कृत प्रभाव को मानते हैं । "हिन्दी के भारतेन्दुयुगीन मौलिक उपन्यासों पर संस्कृत के कथा-साहित्य एवं परवर्ती नाटक-साहित्य के प्रभाव के साथ ही बंगला उपन्यासों की छाप भी लक्षित की जा सकती है ।"[2] आधुनिक पूँजीवादी समाज में उपन्यास का आविर्भाव हुआ था । ऐसे वातावरण बनाने में अँग्रेज़ी शिक्षा, शासन एवं सभ्यता हेतु बन निकले । इनके फलस्वरूप समाज में मध्यवर्ग का अवतरण हुआ । "इस काल तक आते देश की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों ने उपन्यासों के उद्भव एवं विकास केलिए अनुकूल वातावरण निर्मित कर दिया था ।"[3] ऐसी "सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण की आवश्यकताओं ने ही साहित्य में उपन्यास को जन्म दिया, जिसके आरंभ में सामाजिकता से परे उपन्यास की कोई अन्य कल्पना ही नहीं की जाती थी ।"[4]

हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासों में यथार्थ बहुत क्षीण एवं आदर्श सबके ऊपर थे । उपन्यासों में धार्मिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक आदर्श प्रमुख रहने की वजह सामाजिकता को भी इनके अनुशासन में रहना पडा । - "नीतिपरक सामाजिकता का शिलान्यास तो बाबु श्रीनिवासदास ने किया, जबकि इस धारा को गति देने का

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ: 499 - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ।
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ: 482 - सं. डा. नगेन्द्र ।
3. हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास - पृ: 36 - डा. सुरेश सिन्हा ।
4. [illegible]

श्रेय सर्वश्री बालकृष्ण भट्ट, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मेहता लज्जाराम, ठाकुर जगमोहन सिंह, किशोरीलाल गोस्वामी तथा उन सैकडों गौण कथाकारों को है जिनका नाम भी अभी तक पाठकों के समक्ष नहीं आया ।"[1] इस प्रकार प्रायः अधिकांश प्रारंभिक उपन्यासकार नीति, धर्म, संस्कार इत्यादि के आदर्श लेकर चलते थे । हिन्दुत्व, वर्णाश्रम-व्यवस्था, आर्यसमाज, सनातन धर्म इत्यादि उनके आदर्श थे । इस समय मन्नन द्विवेदी ने इनसे अलग रहकर यथार्थ एवं सामाजिक व्यंग्य को अपनाकर रचनायें की हैं । "रामलाल" और "कल्याणी" इसका उदाहरण मात्र है । डा. हरदयाल के अनुसार "समाज के यथार्थ चित्रण की दृष्टि से राधाकृष्ण दास का "निस्सहाय हिन्दू" §1890§ संभवतः अपनी तरह का प्रथम उपन्यास है । इस उपन्यास की रचना गोवध की समस्या को सामने रखकर हुई हैं, और इसमें बनारस का सामाजिक जीवन साकार हो उठा है ।"[2] इस प्रकार राधाकृष्णदास से शुरू होकर मन्नन द्विवेदी से उपन्यास की सामाजिक धारा प्रेमचन्द तक पहूँचती है । इस समय के अधिकांश उपन्यास उपदेशप्रधान एवं आदर्शात्मक होने पर, एकाध उपन्यास सामाजिक यथार्थ को मुखरित करने का प्रयास अवश्य किया है ।

"सेवासदन" के प्रकाशन से हिन्दी उपन्यास को एक नया मोड मिला । प्रेमचन्द में आकर हिन्दी उपन्यास अधिक सामाजिक बन गया, फिर भी आदर्श की पकड़ से पूर्णतः मुक्त नहीं हुआ । प्रेमचन्द के औपन्यासिक क्षेत्र ने शहर की अपेक्षा गाँव में अधिक उर्वरता महसूस की । उनकेलिए उपन्यास सामाजिक जीवन ही है । डा. नगेन्द्र के अनुसार "उनकेलिए उपन्यास सामाजिक जीवन का निर्माण करनेवाला एक चेतना-प्रवाह है ।"[3] डा० शिवकुमार मिश्र की राय में प्रेमचन्द के उपन्यासों में "सम्पूर्ण समाज अपनी सारी भास्वर रेखाओं के साथ उभरा है ।"[4] "गोदान" में आकर प्रेमचन्द से आदर्श

---

1. हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष - पृ: 33 - सं. डा. रामदरश मिश्र ।
2. आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य - पृ: 53 - डा. हरदयाल ।
3. हिन्दी उपन्यास : सिद्धांत और विवेचन - पृ: 16 - सं. डा. महेन्द्र,

कुछ हट गया है और यथार्थ ने अपनी पकड को मज़बूत बना दिया है । उनके समकालीन में जयशंकर प्रसाद, पांडेय बेचैन शर्मा "उग्र" और विश्वंभरनाथ शर्मा "कौशिक" मुख्य हैं । प्रसाद और कौशिक प्रेमचन्द परम्परा के यथार्थवादी हैं तो "उग्र" अपने व्यंग्य एवं यथार्थ की दृष्टि से एक पग आगे ही थे ।

प्रेमचन्दोत्तर काल में हिन्दी उपन्यास पर मुख्यत: दो विद्वानों का प्रभाव पडा है । फ्रायड के प्रभाव के कारण उपन्यास में मनोविज्ञान का स्वर और मार्क्स के प्रभावस्वरूप मार्क्सवाद का स्वर भी दिखाई पडता है । इसलिए इस काल में एक उपन्यास में सामाजिकता का अभाव और दूसरी ओर अधिकता भी दिखाई पडती है । जैनेन्द्र, अज्ञेय, जोशी और देवराज के उपन्यासों में सामाजिक जीवन की अपेक्षा व्यक्तिगत जीवन पर अधिक बल दिया गया है । उसमें सामाजिकता का एकदम अभाव तो नहीं है "नदी के द्वीप" मूलत: मनोवैज्ञानिक उपन्यास है किन्तु प्रकारांतर से वह समकालीन सामाजिक परिवेश को भी स्पर्श करता है ।"[1] जैनेन्द्र के उपन्यासों में नारी उत्थान का स्वर है । स्वयं जैनेन्द्र उपन्यास को "आज के जीवन की अभिव्यक्ति का सच्चा माध्यम" मानते थे । दूसरी ओर यशपाल, रांगेय राघव, नागार्जुन, भैरवप्रसाद गुप्त आदि मार्क्सवाद से प्रभावित सामाजिक जीवन के अधिक निकट पहूँचते हैं । वे अर्थ को जीवन के मूल में मानते हैं । अत: उनमें भौतिकता की प्रधानता है । यशपाल के अनुसार "आज हमें आवश्यकता इस बात की है कि भ्रमजाल से निकलकर जीवन की भौतिकता और सामाजिकता को स्वीकार करें ।"[3] मगर इन दोनों से अलग, लेकिन दोनों से संबन्ध रखकर लिखनेवाले इस समय के प्रमुख रचनाकार हैं उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर और भगवती प्रसाद वाजपेयी । इन्होंने भारतीय मध्यवर्ग को अपना प्रमुख मुद्दा बनाकर सामाजिक जीवन को अधिक विस्तार से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । इसके साथ ही हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यास की परम्परा भी

---

1. आधुनिक हिन्दी उपन्यास - पृ: 58 - सं. डा. नरेन्द्र मोहन ।
2. विचार और अनुभूति - पृ: 30 - डा. नगेन्द्र ।

चलती आ रही है । उसका भी लक्ष्य मानव जीवन ही है । आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "जो साहित्य अपने आपकेलिए लिखा जाता है, उसकी क्या कीमत है, मैं नहीं कह सकता, परन्तु जो साहित्य मनुष्य समाज को रोग-शोक, दारिद्र्य, अज्ञान तथा परमुखापेक्षिता से बचाकर उसमें आत्मबल का संचार करता है, वह निश्चय ही अक्षय निधि है । उसी महत्वपूर्ण साहित्य को हम अपनी भाषा में ले आना चाहते हैं ।"[1] इस परम्परा के मुख्य उपन्यासों में "बाणभट्ट की आत्मकथा", "दिव्या", "मुर्दों का टीला" और "फणिपुत्री सोमा" आते हैं ।

सन् चालीस के बाद हिन्दी में आँचलिक उपन्यास की जो धारा चलती है, वह मूलतः ग्रामीण जीवन से जुड़ी हुई है । इसमें ग्रामीण जीवन, जो औद्योगिक विकास एवं शहरीकरण की वजह से कलंकित एवं बेरोज़गार और सांप्रदायिकता की वजह से अशान्त एवं विद्वेषी, छल-कपट आदि की वजह शंकालु बन गया है, का वर्णन है । डा. रामदरश मिश्र के मत में "वह सही अर्थों में अपनी भारतीय जिन्दगी को भी उजागर करता है क्योंकि नगरों और महानगरों की सारी टीमटाम के बावजूद भारत की पहचान उसके गाँवों और अन्यान्य अंचलों से ही हो सकती है ।"[2] इन सबके अलावा परवर्ती हिन्दी उपन्यास की मुख्य प्रवृत्ति सामाजिक ही है । इसका मुख्य विषय पारिवारिक विघटन हो या मूल्य परिवर्तन, सांप्रदायिक आतंक हो या सांस्कृतिक विपन्नता और शहरीय वैषम्य हो या ग्रामीण यथार्थ सबकी दृष्टि सामाजिक है । इसलिए डा. रमेश तिवारी ने लिखा है कि "उपन्यास वह विधा है जो यथार्थ जीवन का यथार्थवादी दृष्टि से अध्ययन करे, जिसकाल में लिखा जाय उस काल के जीवन को स्थापित करे और तत्कालीन जीवन मूल्यों का निर्माण तथा उनका महत्व प्रतिपादित करें ।"[3]

---

1. अशोक के फूल - पृ: 150 - डा. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ।
2. आधुनिक हिन्दी उपन्यास - पृ: 61 - सं. डा. नरेन्द्र मोहन ।
3. हिन्दी उपन्यास साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन - पृ:57 - डा. रमेश तिवारी

उपन्यास साहित्य सामाजिक जीवन के यथार्थ चित्रण के बल पर आगे बढ रहा है । अपनी शैशवावस्था में ही हिन्दी उपन्यास सामाजिक जीवन को अपनाके चलता था । उसमें तब आदर्श यथार्थ के आगे था परन्तु प्रेमचन्द के समय में वह आदर्श, उपदेश एवं हिन्दुत्व से मुक्त होने का प्रयास करने लगा । प्रेमचन्दोत्तर काल में कुछ समय तक मनोविज्ञान के पीछे जाने पर भी वह समाज से पूर्णतः नहीं बिछुडता था। आगे भी हिन्दी उपन्यास ने सामाजिक जीवन को अपना मुख्य विषय बनाये रखा और सन् पचास के बाद उसमें सूक्ष्मता एवं गहनता भी अधिक नज़र आती रहती हैं ।

उपन्यास और यथार्थ

अंग्रेज़ी के "नावेल" शब्द के रूप में हिन्दी में "उपन्यास" शब्द प्रचलित है । उसके पहले संस्कृत में "उपन्यास" शब्द तो मिलता है मगर यहाँ उपन्यास का तात्पर्य आधुनिक उपन्यास से नहीं है । हिन्दी साहित्य कोश में उपन्यास का अर्थ इसप्रकार दिया गया है कि "वह वस्तु या कृति जिसको पढकर ऐसा लगे कि यह हमारी ही है, इसमें हमारे ही जीवन का प्रतिबिंब है, इसमें हमारी ही कथा हमारी ही भाषा में कही गयी है । आधुनिक युग में जिस साहित्य विशेष केलिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है उसकी प्रकृति को स्पष्ट करने में यह शब्द सर्वथा समर्थ है ।"[1] कथा साहित्य गद्य की मुख्य विधा है । कथा साहित्य से ही उसको कथा-कथन की प्रवृत्ति स्पष्ट होती है । कथा साहित्य में कहानी और उपन्यास दोनों आते हैं मगर यहाँ उपन्यास की चर्चा चलती है । कथा कथन की प्रवृत्ति पुरानी कथाओं और रोमांसो का काम है । उनमें यथार्थ की शर्त नहीं और कल्पना की प्रधानता भी है । इसलिए उपन्यास की पहचान उसके यथार्थ पर आधारित है । पाश्चात्य विद्वान जार्ज लुकाच - उपन्यास की पूरी आन्तरिक क्रिया समय की शक्ति के विरुद्ध संघर्ष[2] - मानते हैं ।

---

1. हिन्दी साहित्य कोश - पृः153 - सं. धीरेन्द्र वर्मा आदि ।
2. "उपन्यास में, अर्थ को जीवन से और इसलिए सारवस्तु को सामायिक से पृथक्कर

उपन्यास जीवन है । जीवन केलिए एक परिभाषा समीचीन नहीं लगता । ठीक उसीप्रकार उपन्यास को एक परिपूर्ण परिभाषा में बाँधना भी असंभव होगा । उसमें एक दिन की, एक घंटे की एक युग की, एक व्यक्ति की, एक परिवार या समाज की कथा कही जा सकती है । उसमें घटनायें ही घटनायें, दृश्य ही दृश्य या चरित्र-चित्रण मात्र है, ऐसा भी नहीं है । कथा तटस्थ होकर कही जाती है कभी उत्तम पुरुष के रूप में, कभी एकाधिक पात्रों को सम्मिलित करके भी कही जा सकती है । अतः उपन्यास में असमानता व विविधता की गुंजाइश अधिक है । इतना होने पर भी उपन्यास के लिए अनेक परिभाषायें उपलब्ध है । भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा इसकेलिए काम किए गए हैं । परिभाषायें अनेक मिलेंगी, लेकिन सभी परिभाषाओं में "उपन्यास" के कोई न कोई गुण व भाग अछूता रहता है । जीवन परिवर्तनशील है । उसके साथ उपन्यास साहित्य भी नये मान की ओर कदम रखता है । मोटे तौर पर कहा जाता है कि उपन्यास आधुनिक युग का महाकाव्य है । इसका कारण उसकी समग्रता एवं संपूर्णता के प्रति आग्रह है । उपन्यास की कुछ प्रमुख परिभाषायें निम्नलिखित हैं ।

राल्फ के अनुसार "यह वह पहली गद्य विधा है जिसमें मानव को उसकी संपूर्णता में समझने का प्रयत्न है ।"[1] आर्नाल्ड केटल की मान्यता है कि "उपन्यास शब्द से मेरा मतलब यह है कि वह एक यथार्थपरक गद्य रचना है, जो अपने में सम्पूर्ण हो सके जिसका निश्चित दैर्घ्य भी हो ।"[2] क्लारा रीव के अनुसार "उपन्यास यथार्थजीवन तथा तत्कालीन सामाजिक व्यवहार का चित्र है । उपन्यास की कसौटी यह है कि

----

1. The novel is not merely a fictional prose, it is the prose of man's life, the first art to attempt to take the whole man and give him expression - p.52 - Novel and the people - Ralf F

2. The novel - as I use the term in this book - is a realistic prose fiction complete in itself and of a certain length - p.26 - An Introduction to the English Novel - Arnold Kettle.

वह हमारी परिचित वस्तुओं और दृश्यों का चित्रण इस ढंग से करे कि वह सामान्य हो जाय और कम से कम उपन्यास पढते समय पाठक को यथार्थ का भ्रम उत्पन्न हो जाय - पाठक उन्हें अपना समझने लगे ।"[1]

भारतीय लेखक भी उपन्यास का आविर्भाव पश्चिम में मानते हैं । शिवदान सिंह चौहान के अनुसार - "आधुनिक उपन्यास साहित्य का एक नया और संश्लिष्ट रूप-विधान है, जिसका विकास सबसे पहले यूरोप में हुआ, भारत में नहीं ।"[2] डा॰ एस. एन गणेशन के शब्दों में "उपन्यास मनुष्य के सामाजिक, वैयक्तिक अथवा दोनों प्रकार के जीवन का रोचक साहित्यक प्रतिरूप है, जो प्राय: एक कथासूत्र के आधार पर निर्मित होता है ।"[3] डा॰ रणवीर रांग्रा के अनुसार "मानव जीवन के उत्तरोत्तर जटिल होते जाने से उसकी समस्यायें कविता और नाटक में न समा सकी और मनुष्य की अनुभूति - धारा सब प्रकार के बाँध तोड, कविता और नाटक की शास्त्रीय सीमाओं को लांघकर अपने प्रकृत रूप में बह निकली । अनुभूति की इस प्रकृत अभिव्यक्ति को उपन्यास की संज्ञा मिली ।"[4] डा. श्रीनारायण अग्निहोत्री की राय में "उपन्यास मानवता का अतिरिक्त वेद है । जो मनुष्य केलिए करणीय है वही उपन्यास में बतलाया जाता है । करणीय एवं अकरणीय दोनों ही के उल्लेख के द्वारा जो मनुष्य का अतीत है वह उपन्यास में संवारा जाता है, भविष्य का उसमें संकेत होता है और वर्तमान तो मानो

---

1. The novel is a picture of real life and manner and of times in which is written . . . that all in real untill we are affected by joy or clistresses of persons in the story as if they were our own - p. - The Progress of Romance - Clara Reave.
2. हिन्दी साहित्य का अस्सी वर्ष - पृ: 163 - शिवदानसिंह चौहान ।
3. हिन्दी उपन्यास साहित्य का विकास - पृ:25 - डा. एस. एन. गणेशन ।
4. हिन्दी वाङ्मय : बीसवीं शती - पृ: 176 - सं. डा. नगेन्द्र ।

उसके पृष्टों पर सधा-ही-सा रहता है ।"[1] "काव्य के रूप" में लिखा गया है कि "उपन्यास कार्य-कारण श्रृंखला में बन्धा हुआ वह गद्य कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक व काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है ।"[2] उपर्युक्त उद्धरणों में कुछ विद्वान उपन्यास के यथार्थ पक्ष पर ज़ोर देते हैं, कुछ मानवीयता एवं उसके सामाजिक होने पर और कुछ उपन्यास की समाहरण शक्ति पर भी ज़ोर देते हैं । वास्तव में उपन्यास ये सबकुछ है । उसमें आधुनिक युग के व्यक्ति एवं समाज जीवन का उसकी समग्रता एवं सम्पूर्णता के साथ लेखकीय धारणाओं के बल पर पुनःसृजन होता है । उसपर यथार्थ और प्रामाणिकता की शर्त भी रहती है ।

आगे यथार्थ क्या है और उपन्यास का उसके साथ क्या संबन्ध है, इसपर विचार करना है ।

जो दृश्यमान होता है वही यथार्थ है । यथार्थ मात्र दिखाई नहीं पडता, कभी सुन सकता है, कभी भोग सकता है । दूसरे शब्दों में जीवन में अनुभूत सच्ची अनुभूतियाँ यथार्थ है । "यथार्थ एक होगा । पर यथार्थ केवल सुना नहीं जाता, केवल देखा भी नहीं जाता, कितनी इन्द्रियों से ग्रहण किया जा सकता है जिनमें से प्रत्येक के ग्रहीतत्व के हज़ार हज़ार तरीके हैं ।"[3] मानव जीवन से यथार्थ का अस्तित्व होगा । मगर यहाँ यथार्थ की चर्चा उस अर्थ में नहीं की जाती है । डा॰ विश्वंभरनाथ उपाध्याय के अनुसार "यथार्थ शब्द, अपने व्यापक अर्थ-क्षेत्र में, समूचे जीवन, प्रकृति और समाज को समेटे हुए हैं, अर्थात इस सम्पूर्ण दृश्यमान, अनुभूयमान वास्तविक जगत को, जो अणु-परमाणुओं से लेकर मानव चेतना तक इन्द्रियों और बुद्धि द्वारा समग्रतः चेतना द्वारा

---

1. हिन्दी उपन्यास साहित्य का शास्त्रीय विवेचन - पृ:31 - डा.श्रीनारायण अग्निहोत्री ।
2. काव्य के रूप - पृ: 161 - डा. गुलाब राय ।
3. शाश्वती - पृ: 12 - अज्ञेय ।

अनुभूत या ज्ञेय है, यथार्थ कहते हैं या कह सकते हैं ।"[1] अमृतराय ने इससे थोडा भिन्न होकर यथार्थ को समझाने की कोशिश की है । उनके शब्दों में "प्रकृति के बाह्य रूप का यथातथ्य चित्रण भी एक प्रकार के सत्य को प्रस्तुत करना है, पर वह आरंभिक स्तर का सत्य है, सम्पूर्ण यथार्थ नहीं है । साहित्य का वास्तविक सत्य वह है जो समाज-देह के भीतर एक दूसरे मनुष्य से बाँधनेवाले संबन्ध-सूत्रों का उद्घाटन करता है, समाज की सजीव देह के भीतर कार्यशील अन्तर्विरोधों को चित्रित करता है, और संघर्षों तथा उनके समाहार की उस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को स्थापित करता है, जिसका दूसरा नाम इतिहास की गति है ।"[2] इन दोनों से भिन्न होकर रामदरश मिश्र ने यथार्थ को अधिक व्यापक दृष्टि से देखने का प्रयास किया है । "यथार्थ सतह पर फैली हुई गन्दगी नहीं है बल्कि मानव जीवन के बुनियादी प्रश्न, उसके अनेकानेक बाहरी-भीतरी स्वरूपों को बनानेवाली, बदलनेवाली शक्तियाँ, समस्यायें, आपसी रहस्यमय सत्य यथार्थ है । . . . यथार्थ एक व्यापक और संश्लिष्ट वस्तु है जिसमें मानव समाज के सामूहिक और व्यक्तिगत बाहरी-भीतरी, परिस्थितिगत और मानसिक अंधकारमय और प्रकाशमय सभी प्रकार के सत्य एक दूसरे से मिले जुले होते हैं ।"[3] इसप्रकार यथातथ्य या बाहरी कुरूप यथार्थ नहीं बनता । मानवजीवन को नियंत्रित व मोडनेवाले परिवेश, उसके बाहरी एवं भीतरी कारण, तत्कालीन स्थिति, उसके ऐतिहासिक कारण सब यथार्थ के अन्तर्गत आते हैं । वास्तव में यथार्थ केलिए स्थल-काल बन्धन नहीं, वह विस्तृत एवं सूक्ष्म, बाहरी एवं भीतरी है ।

साहित्य के साथ यथार्थ को जोडते ही वह यथार्थवाद बन जाता है । याने उपन्यास और यथार्थ यथार्थवाद के अन्तर्गत आते हैं । साहित्य में यथार्थ की उपस्थिति पश्चिमी देन है । वहाँ उन्नीसवीं सदी के आरंभ में यथार्थ की चर्चा शुरू होती है । फ्रांस की राज्यक्रान्ति से यूरोपीय जीवन में बदलाव आने लगा था ।

---

1. बिन्दु प्रति बिन्दु - पृ: 57 - डा. विश्वंभरनाथ उपाध्याय ।
2. सह: चिन्तन - पृ: 77 - अमृतराय ।

ब्रिटन की औद्योगिक क्रांति ने उसे और भी बढ़ावा दिया । फलस्वरूप व्यक्ति-स्वातंत्र्य एवं पूँजीवाद का भी उदय हुआ । इसी बीच साहित्य में यथार्थ का स्वर भी मुखरित होने लगा । साथ ही उपन्यास का आविर्भाव भी । "साहित्यक आन्दोलन के रूप में यह वाद पश्चिम में, 1830 ई. की फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद अस्तित्व में आया ।"[1] साहित्य में यथार्थवाद के आविर्भाव के बारे में मौडर्ण रफ़रन्स एनसैक्लोपीडिया में यों लिखा है कि "मानव जीवन के वस्तुनिष्ठ यथार्थ को यथातथ्य रूप में प्रस्तुत करना साहित्य में यथार्थवाद का लक्ष्य होता है । अब तक यथार्थ सभी कलाओं के आवश्यक कच्चामाल होने की वजह यथार्थवाद की उपस्थिति साहित्य के आरंभ से है । लेकिन पूर्ववर्ती साहित्यिक मान्यतायें, स्वप्नजीवियों की व्यक्तिनिष्ठता एवं आदर्शवाद और उसकी संकुचित सामाजिक दृष्टि के खिलाफ लगभग 1850 में यथार्थवाद पाश्चात्य साहित्य में साहित्यिक सौंदर्यशास्त्र की एक संगत योजना के रूप में फूट पडा है इसप्रकार यथार्थवाद मनुष्य के दैनिक जीवन के कुत्सित एवं अशुभ पक्षों पर बल देता है और उसके अनुरूप उसने एक गंभीर और निर्वैयक्तिक शैली को भी अपनाया है । यह एक ऐसे युग की शर्तों को निभानेवाली कला थी जो युग विज्ञान की तेज़ प्रगति से और सामाजिक संगठन के प्रचंड परिवर्तनों से आवृत था ।"[2]

---

1. भारतीय साहित्यकोश - पृ: 1026 - सं. डा. नगेन्द्र ।

2. Realism in literature has its goal, the faithfull sendering of the objective reality of human life. Since reality is the necessary raw-material of all art, realism has certainly existed since literature began. But realism as a cober exit programme of literary aesthetics emerged in western literature about 1850 in reaction against the subjectivity of the romanti and against the idealism and the narrow social range of earlie literary attitudes. Thus realism tended to stress the devily life of common man, often concentrating on the Sordid and disagreeable and it employed a style to match; Sober and impersonal. It was an art that suited an age marked by the rapid growth of science and by drastic changes in Social Organisation - p.206 - Modern Reference Encyclopedia, Vol.16.

यथार्थवाद की, अनेक विद्वान अपनी अपनी परिभाषायें देते हैं तो कुछ लोग उसके विचारात्मक पक्ष पर भी बल देते हैं । उनमें अधिकांश प्रामाणिकता एवं वास्तविकता पर बल देते हैं । वास्तव में यथार्थवाद केलिए अपने प्रारंभ में कोई दार्शनिक पक्ष नहीं था । बाद में कार्ल मार्क्स और फ्रायड के प्रभाव स्वरूप यथार्थवाद केलिए दार्शनिक बल मिले । "हिन्दी साहित्यकोश" के अनुसार यथार्थवाद "साहित्य की एक विशिष्ट चिन्तन पद्धति है जिसके अनुसार कलाकार को अपनी कृति में जीवन के यथार्थ रूप का अंकन करना चाहिए ।"[1] डा. मुकुन्द द्विवेदी की मान्यता भी इससे मिलती जुलती है । "यथार्थ का मतलब बाह्यार्थ निरूपक तथ्यात्मक वास्तविकता नहीं है बल्कि उसे प्रस्तुत करने का ढंग और दृष्टिकोण है ।"[2] इन दोनों का मंतव्य किसी विचारधार से अवश्य है । जार्ज-जे-बेकन के अनुसार "यथार्थवाद कला का एक रूप है जो यथार्थ को एक निश्चित ढंग का रूप देता है और उसका प्रतिरूप प्रस्तुत करता है ।"[3] हावर्ड फास्ट के अनुसार "यथार्थवाद साहित्य में स्वयं जीवन का प्रतिबिंबन है ।"[4] डा. शशिभूषण सिंहल यथार्थवाद को एक सार्वभौमिकता देते हैं । "यथार्थवाद वस्तुजगत की प्रतिकृति नहीं, वस्तु संबन्धी द्रष्टा की धारणा है । यह धारणा द्रष्टा के मन में, वस्तुजगत की देश और काल संबन्धी सीमाओं से ऊपर उठकर बनती है ।"[5] एच.लेविन ने यथार्थवाद केलिए आदर्श, निश्चित शिल्प, आध्यात्मिक झुकाव इत्यादि का विरोध करते हुए लिखा है कि "साहित्य में यथार्थवाद उस पद्धति को कहते हैं जिसका उद्देश्य जीवन में सभी वस्तुओं का पूर्ण निष्ठामय चित्रण एवं प्रकृति का प्रतिप्रस्तुतीकरण है । यह प्रकृति

---

1. हिन्दी साहित्यकोश - पृ: 660 - सं. धीरेन्द्रवर्मा आदि ।
2. हिन्दी उपन्यास : युगचेतना और पाठकीय संवेदना - पृ:2 - डा.मुकुन्द द्विवेदी
3. Realism, then, is a formula of art which conceiving of realit in a certain way undertakes to present a simulacircum of it p.36 - Documents of Modern Literary Realism - George.J.Becken
4. साहित्य और यथार्थ - पृ: 30 - हावर्ड फास्ट
5. हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ - पृ: 16 - डा. शशिभूषण सिंहल ।

सौन्दर्य केलिए वास्तविकता के आदर्शीकरण को अभिव्यंजना के शैलीकरण को और आध्यात्मिक तथा अतिप्राकृतिक विषयवस्तु के निर्वाह को अस्वीकार करती है ।"[1] इसमें मार्क्सवाद का प्रभाव स्पष्ट होता है । दरअसल यथार्थवाद का अर्थ दैनंदिन जीवन का ज्यों-का-त्यों प्रस्तुतीकरण नहीं बल्कि यथार्थ के महत्वपूर्ण तत्वों का मार्मिक एवं विशद कलात्मक प्रतिबिंबन में है । उसमें लेखकीय विचार की वजह वह यथार्थ से अधिक वास्तविक बन जाता है । यथार्थ का कलात्मक रूप ही यथार्थवाद है । तथ्य एवं उसकी संवेदना के साथ अभिव्यक्ति को जोडनेवाला तत्व यथार्थ है, अभिव्यक्त रूप यथार्थवाद भी ।

साहित्य में यथार्थ की सही अभिव्यक्ति केलिए उपन्यास का आविर्भाव हुआ है । अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा समाज के यथार्थ को अभिव्यक्ति देने में उपन्यास आगे है । "कविता और नाटक यथार्थवाद से प्रभावित हुए हैं परन्तु उसने उपन्यास में अपनी चरमोन्नति प्राप्त की है ।"[2] "उपन्यास अपने जन्म से ही मिट्टी की यथार्थवादी परम्परा से जुडा है ।"[3] अतः "यथार्थवाद की अभिव्यक्ति उपन्यास साहित्य की सर्वोत्तम विधा है । यथार्थचित्रण की सामाजिक आवश्यकता ने ही उपन्यासों को जन्म दिया है ।"[4] "कविता यथार्थ की उपेक्षा कर सकती है, संगीत यथार्थ को छोडकर भी जी सकता है, पर उपन्यास और कहानी केलिए यथार्थवाद प्राण है ।"[5] डा॰ नवल किशोर यथार्थवाद को 19वीं सदी की एक प्रमुख घटना और

---

1. Realism in literature is an attitude which purports to depict life and to reproduce nature in all its aspects, as faithfull as possible. It rejects the idealising of reality in favour beauty together with stylization in expression and the treatr of transcendental and supernatural subject matter - p.285 - Comparative Literature - H.LEVIN.
2. Poetry and drama were influenced by realism, but it was in th novel that realism achieved greatness - p.206 - Modern Reference Encyclopedia - Vol.16.
3. गद्य की सत्ता - पृः 13 - डा॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी ।
4. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद - पृः 1 - डा. त्रिभुवन सिंह ।

उपन्यास को उसका माध्यम मानते हैं । वे उपन्यास को बुर्जुआ समाज केलिए उचित रचना मानते हैं । "उन्नीसवीं शती के पाश्चात्य साहित्य का प्रमुख फिनोमिना यथार्थवाद था, जिसका प्रधान माध्यम उपन्यास था । उपन्यास तीव्र गति, नगरीकरण और औद्योगीकरण से होनेवाले सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में अनुभव से गुज़रते रहनेवाली सर्जनात्मक प्रक्रिया था । इसलिए आज हम पाते हैं कि उस शक्ति का उपन्यास बुर्जुआ सभ्यता की अनिवार्यता का आलेख है ।"[1]

उपन्यास विधा इटली में पहले विद्यमान थी । वहाँ से जर्मनी और फ्रांस से इग्लैंड तक पहूँची । यूरोप की विभिन्न क्रांतियों के फलस्वरूप वहाँ के जीवन में भयंकर परिवर्तन आया । फलतः साहित्य में रोमांस, आदर्श आदि के स्थान में यथार्थवाद आसीन हुआ । "सामाजिक जीवन के यथार्थ चित्रण की इसी प्रेरणा के फलस्वरूप यूरोप में मध्ययुगीन रम्याख्यान तथा मनोरंजक गल्पमाला से भिन्न उपन्यास का उद्भव और विकास हुआ ।"[2] इसी कारण उपन्यास साहित्य के इतिहासकारों ने यथार्थवाद को एक खास विशेषता के रूप में देखा जो आठारहवीं शती के उपन्यासकारों की रचनाओं को अपने पूर्ववर्ती उपन्यासों से अलग करता है ।[3] दूसरे शब्दों में कहें तो यथार्थवादिता ही उपन्यास की पहचान है । इस समय यह बात ध्यान देने योग्य है कि औपन्यासिक यथार्थ पुनर्रचित यथार्थ है । इसके बारे में अज्ञेय ने लिखा है कि

---

1. आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता - पृ: 2 - डा. नवल किशोर ।
2. साहित्य का समाजशास्त्र - पृ: 13 - डा. नगेन्द्र ।
3. Briefly, they (The historians of the novel) have seen realism as the defining characteristic which differentiates the work of the early eighteenth century novelists from previous fiction - p.10 - The Rise of the Novel - Ian Watt.

"उपन्यास क्योंकि सर्जना है इसलिए वह सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करते हुए भी उसका पुनःसर्जन करके उसे सामने लाता है । रिएलिटि पुनःसर्जित होती है, और ऑब्जेक्टिव होती है तो अपनी शर्तों पर, उस दायरे में जिसमें सर्जना-कर्म-मात्र निरपेक्षीकरण होता है । इस प्रक्रिया में उपन्यासकार के दृष्टिकोण का विशेष महत्व हो जाता है और दृष्टिकोण आधुनिक उपन्यास का लक्षण है ।"[1]

समाज स्थिर नहीं परिवर्तनशील है । जीवन समयानुसार अधिक जटिल एवं यथार्थ बनता रहता है । आधुनिक जीवन के सही खाका खींचने में उपन्यास ही आज भी समर्थ रहता है । वह समय के गत्यानुसार अपनी यथार्थवादी दृष्टि को अधिक वैज्ञानिक एवं सूक्ष्म बना देता है । "बदलती मनुष्य सभ्यता में यथार्थ के जो नवीन स्तर, नये आयाम तथा भौतिकवादी गहरा अन्तर्विमंथन और अनेकानेक समस्यायें उभरीं, उन सबको अभिव्यक्ति की सही गरिमा प्रदान करने में अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा उपन्यास ही पूर्णतः सूक्ष्म दिखायी पडता है ।"[2]

इसप्रकार उपन्यास और यथार्थ का गहरा संबध है । वह जीवन के यथार्थ को लेकर चलता है । आरंभ से आज तक दोनों एक होकर चलते हैं । इनका आविर्भाव भी एक साथ हुआ है और दोनों एक होने से ही उनका अस्तित्व टिकता है । नहीं तो उपन्यास किस्सा या रोमांस रहेगा और उसी तरह यथार्थ भी सही माध्यम न मिल पाने की वजह पंगु बना रहेगा । उपन्यास और यथार्थ दोनों आधुनिक युग की देन हैं ।

उपन्यासों में सामाजिक जीवन

जीवन और साहित्य का घनिष्ठ संबन्ध है । साहित्य में जीवन की अभिव्यक्ति होती है । साहित्यिक विधाओं में उपन्यास सामाजिक जीवन के सबसे निकट है । अतः सामाजिक जीवन की सही अभिव्यक्ति उपन्यास में सबसे अधिक संभव है

---

1. स्मृति लेखा - पः 56 - अज्ञेय ।

"समाज का प्रत्यक्ष रूप या मानव संपर्क का सामाजिक चित्र जिस तरह उपन्यास में वर्णन किया जा सकता है, कविता और नाटक में वैसा संभव नहीं ।"[1] समयानुसार सामाजिक जीवन में बदलाव आता ही रहता है और उसके समान उपन्यास में, उसके रूप एवं प्रकृति में, वैविध्य आता ही रहता है । वह उसका स्वभाव है । क्योंकि उपन्यास केलिए कोई काव्यशास्त्रीय बन्धन नहीं है ।[2] "समाज जो रूप पकड रहा है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकते हैं ।"[3]

समाज और जीवन के रचनात्मक पक्षों और अनुभूतियों को लेकर ही उपन्यास की रचना संभव हुई है । इसप्रकार उपन्यास सामाजिक जीवन का प्रतिबिंबन करता है । "प्रत्येक युग के समाज के जीवन को परिचालित करनेवाली कुछ समस्यायें होती हैं, जिनसे उसे जूझना पडता है । चूँकि उपन्यास आया ही है जीवन का प्रतिनिधित्व करने की प्रतिज्ञा लेकर, अतः उसमें सामाजिकता का रंग गाढ़ा हो जाना स्वाभाविक है ।"[4] हेनरी जेम्स उपन्यास के अस्तित्व का कारण उसके जीवन का प्रतिनिधित्व करने की प्रवृत्ति को मानते हैं ।"[5]

उपन्यासकार समाज में रहकर मानव समाज से ही अपने कच्चे माल इकट्ठा करता है अतः उसमें उसकी भागीदारी संभव है । कभी-कभी उपन्यास में सामाजिक जीवन पात्रों के माध्यम से, कभी-कभी घटनाओं व समस्याओं के माध्यम से प्रस्फुटित होता है । प्रेमचन्द ने चरित्र को प्रधानता देकर - "उपन्यास को मानव

---

1. साहित्य और समाज: परिवर्तन की प्रक्रिया में - पृ:30 - सं. अज्ञेय ।
2. "The fact remains, however, that the novel has had no poetic p.1 - The theory of Novel - Philip Steviek.
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ: 536 - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ।
4. हिन्दी साहित्यकोश - पृ: 168 - सं. धीरेन्द्र वर्मा आदि ।
5. "The only reason for the existence of a novel is that it does attempt to represent life" - p. - The Art of Fiction Henry James.

चरित्र का चित्र"[1] - कहा है । उपन्यास की समाहार शक्ति एवं जीवन की ग्रहणीयता के बारे में अनेक मत उपलब्ध हैं । डा. त्रिभुवन सिंह की राय में "साहित्यिक क्षेत्र में उपन्यास ही एक ऐसा उपकरण है कि जिसके द्वारा सामूहिक मानव जीवन अपनी समस्त भावनाओं एवं चिन्तनाओं के साथ सम्पूर्ण रूप में अभिव्यक्त हो सकता है । मानव-जीवन के विविध चित्रों को चित्रित करने का जितना अधिक अवकाश उपन्यासों में मिलता है उतना अन्य साहित्यिक विधाओं में नहीं ।"[2] "उपन्यास मानव-सभ्यता की महान लोक कला है, मानव जीवन का गद्य है , वह पहली कला है जो सम्पूर्ण मानव को लेकर उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने की चेष्टा करती है । परिस्थितियों से संघर्षरत मानव को और उसकी उपलब्धियों को जितनी पूर्णता और सफलता के साथ उपन्यासकार हमारे सामने रख सकता है उतनी पूर्णता के साथ कवि, नाटककार अथवा अन्य कोई नहीं ।"[3] पाश्चात्य विद्वानों के मत भी इससे मिलते-जुलते हैं । फिलिप स्टेविक ने लिखा है कि "अन्य विधाओं की अपेक्षा उपन्यास मानव के विस्तृत, परिष्कृत एवं स्थिर प्रतीकों को समेटने में समर्थ है और इसी एक कारण हर व्यक्ति उपन्यास पढता है ।"[4] डी. एच. लारेन्स के अनुसार "उपन्यास जीवन का एक श्रेष्ठ ग्रंथ है ।"[5] इन उद्धरणों एवं आशयों की सत्यता का सबूत धर्मवीर भारती के कथनों में द्रष्टव्य है । "उनमें सत्य का इतना अंश अवश्य है कि कविता और नाटक दोनों की अपेक्षा मानव जीवन के चित्रण केलिए उपन्यास का

----

1. कुछ विचार - पृ: 47 - प्रेमचन्द ।
2. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद - पृ: 1 - डा. त्रिभुवन सिंह ।
3. हिन्दी उपन्यास : महाकाव्य के स्वर - पृ: 1 - डा. शान्तिस्वरूप गुप्त ।
4. "The novel, more than any other genre is capable of containing large, developed, consistent images of people, and this is one of the reasons that anyone reads novel". p. 2 - The Theory of Novel - Philip Stevick.
5. "The novel is the one of bright book of life" - p.406 - The Theory of Novel - Philip Stevick.

क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है । गीतिकाव्यों के पुंजीभूत भावसत्य, दुखान्त नाटकों के चिरन्तन संघर्ष और करुणा, गीतिकथाओं की गति और प्रवहमानता, मुक्तकों का उक्तिवैचित्र्य और नीति-सत्य इन सभी पुराने साहित्य रूपों की शिल्पगत और वस्तुगत विशेषताओं को उपन्यास ने व्यापक प्रसार में ग्रहण किया था ।"[1]

समय और परिवेश के अनुसार मानव जीवन में परिवर्तन आता है । उपन्यास भी जीवन के अनुसार नए मोड अपनाता है । आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनैतिक दबाव जीवन पर सदा ही रहता है । इनके अलावा वैज्ञानिक एवं औद्योगिक विकास के फलस्वरूप मानव जीवन संत्रास और तनाव से आतंकित है । इसलिए आज के उपन्यास में मानवीय तनावों, विसंगतियों एवं कठिनाइयों का सही चित्रण मिलता है । उसमें कल्पना और सौन्दर्य केलिए नौबत नहीं । "वास्तव में मानवीय संत्रास और विशद सामाजिक यथार्थ के साथ जुडनेवाली औपन्यासिक रचना ही काल और मूल्यों के सन्दर्भ में जीवन का प्रतिबिंब बनती है तथा अपनी पहचान करती है ।"[2]

"मानव जीवन के अनेक रूपों का परिचय कराना उपन्यास का काम है । यह उन सूक्ष्म घटनाओं को प्रत्यक्ष करने का यत्न करता है जिनसे मनुष्य का जीवन बनता है और जो इतिहास आदि की पहूँच के बाहर है ।"[3] समग्रता और संपूर्णता उपन्यास के मुख्य गुण है जिससे उसकी मान्यता बढती है । जार्ज लुकाच के अनुसार "वह समग्रता उपन्यास को हमारे काल का प्रतिनिधि कलारूप भी बनाती है, इसलिए कि उपन्यास की संरचना श्रेणियाँ आज के संसार की संरचना श्रेणियों से अपनी मूल वस्तुयोजना में मेल खाती हैं ।"[4] जीवन और उपन्यास के इसप्रकार के गढबन्धन को देखकर रमेश तिवारी ने लिखा है कि "उपन्यास और जीवन में पार्थक्य कर पाना

---

1. हिन्दी उपन्यास : पहचान और परख - पृ: 23 - सं. डा. इन्द्रनाथ मदान ।
2. संवाद सेतु - पु: 85 - गिरिराज किशोर ।
3. चिन्तामणि- III - पृ: 102 - आचार्य रामचन्द्रशुक्ल (सं. नामवर सिंह)

कम मुश्किल नहीं है क्योंकि उपन्यास जीवन का पुनःसृजन ही होता है ।"[1] संक्षेप में कहे तो उपन्यास में जीवन ही झलकता है । उसमें वर्तमान जीवन को पकड़ने की कोशिश है, भविष्य केलिए संकेत भी है ।

भीष्म साहनी के उपन्यासों में मध्यवर्गीय जीवन की गतिविधियाँ

राज्यक्रान्ति और औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप यूरोप में जो औद्योगिक प्रगति एवं व्यक्तिचिन्तन की प्रधानता हुई जिसके परिणामस्वरूप समाज में सामन्तवाद का ह्रास और नये पूंजीवाद का उदय भी हुआ । अंग्रेज़ी शासनकाल में इसका असर भारत पर भी पड़ा । सामन्तवाद में मध्यवर्ग की गुंजाइश नहीं थी । "मध्यवर्ग सामन्तवादी व्यवस्था में नहीं पाया जाता, क्योंकि उस समय ज़मीन्दार तथा किसान का संबन्ध सीधा था, किन्तु पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था ने समाज को इतना जटिल बना दिया है कि एक मध्यवर्ग की भी आवश्यकता हुई जो इस जटिल व्यवस्था के संघटन -सूत्र को संभाल सके । इस वर्ग में नौकरी पेशा शिक्षक, क्लर्क और अन्य साधारण लोग आते हैं । मध्यवर्ग विशेषतः बुद्धिप्रधान वर्ग माना गया है और सामाजिक क्रान्ति के प्रायः समस्त विचारों का सर्जन मध्यवर्ग में होता है ।"[2] "मानक हिन्दी कोश" में मध्यवर्ग का स्थान निम्नवर्ग और उच्चवर्ग के बीच में माना है । "मनुष्य समाज के आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से विभाजित वर्गों (उच्च, मध्यम और निम्न) में से बुद्धिप्रधान एक वर्ग जो सामान्य आर्थिक स्थिति तथा सामाजिक स्थिति-वाला समझा जाता है और उच्चवर्ग (धनिक वर्ग) और निम्नवर्ग (श्रमिकवर्ग) के बीच में माना जाता है ।"[3] इस तरह वर्ग भेद का मुख्य आधार अर्थ है । "विकसित

---

1. हिन्दी उपन्यास का सांस्कृतिक अध्ययन - पृ: 56 - डा. रमेश तिवारी ।
2. हिन्दी साहित्य कोश - पृ: 612 - सं. धीरेन्द्र वर्मा ।
3. मानक हिन्दी कोश - पृ: 284 - सं. रामचन्द्र वर्मा ।

पूँजीवाद के युग में मध्यमश्रेणी की स्थिति को समझने केलिए यह याद रखना आवश्यक है कि श्रेणियों का विभाजन और संगठन उनकी आर्थिक स्थिति से होता है ।"[1]

मध्यवर्ग समाज में सबसे विस्तृत है । संख्या और शक्ति दोनों में वह अन्य दोनों वर्गों के आगे हैं । वह तथाकथित नैतिकता कुल-मर्यादा, परम्परा इत्यादि आदर्शों से मुक्त तो नहीं, फिर भी वह सबसे असन्तुष्ट एवं दानों वर्गों की ओर अपने को खींचता रहता है । "इसकी स्थिति त्रिशंकु जैसी है जो न पृथ्वी पर है और न आकाश में । वंश, आय, जीविका, शिक्षा, रहन-सहन, अभिरूचि, कौटुम्बिक तथा सामाजिक मर्यादा के अनुसार यह वर्ग समाज के अन्य दोनों ही वर्गों से पृथक दिखाई देता है ।"[2] इसके अलावा आर्थिक विपन्नता और उससे निसृत झूठी अहं तथा मिथ्याभिमान उसे और भी बेचैन बना देता है । अपनी झूठी शान-शौकत दिखाने केलिए वह कर्ज भी लेता है । इसीलिए वह वर्ग मानसिक अशान्ति, तनाव इत्यादि का शिकार हो जाता है । "मध्यवर्ग की सबसे बडी दुर्बलता है कि वह कुल मर्यादा को निभाने केलिए अनेक प्रदर्शन करता है और वे प्रदर्शन उसकी आर्थिक स्थिति से मेल न खाकर मानसिक संघर्ष का कारण बन जाते हैं । अपनी स्थिति से बढकर अपने को प्रदर्शित करने की प्रवृति ने मध्यवर्ग को खोखला बना दिया है ।"[3]

मध्यवर्ग बुद्धिजीवी का केन्द्र बनने पर भी वह भीड, संघर्ष इत्यादि से अपने को अलग रखना चाहता है । क्योंकि वह कभी भीड से डरता है और कभी भीड में भी अपना अस्तित्व बनाए रखने की कोशिश करता है । "जनता समूह है, वह अज्ञ है, अन्धकार ग्रस्त है, वह जल्दी ही भीड बन जाती है । तुम उसका साथ मत दो । तुम सचेत व्यक्तित्वशाली प्राण केन्द्र हो उसमें अपने आपको विलीन मत करो ।"[4] यह वर्ग सुविधा को बटोरना चाहता है, पर उसकेलिए प्रयास करने में हिचकता है । सत्य की जानकारी, परिवेश का बोध और शक्ति होने पर भी

---

1. मार्क्सवाद - पृ: 173 - यशपाल ।
2. हिन्दी उपन्यास में मध्यवर्ग - पृ:6 - डा. मंजुलता सिंह ।

मध्यवर्ग आलसी एवं चुप रहता है, अतः उसकी बुद्धि एवं कुशलता बेकाम रह जाता है । "यहाँ बुद्धिजीवी न तो जड़ता से विद्रोह करने का साहस बटोर पा रहे हैं, और न ही सौम्य होकर सत्य को खोज रहे हैं । उनकी बुद्धिजीवी चेष्टायें भी अन्ततोगत्वा शक्ति की कृपा तथा तलाश की ओर मुड़ जाती हैं । . . . इस तरह विचार - स्वातंत्र्य अपने तत्व से शून्य हो जाता है तथा बुद्धिजीवी सटीक आत्म-परायीकृत (सेल्फ एलियेनेटेड) हो जाते हैं । वे अपेक्षाकृत अन्य, सुरक्षित और सुविधापूर्ण लक्ष्यों की ओर मुडते जाते हैं, जो तात्कालिक, आत्मस्वार्थी तथा बहुधा अनबौद्धिकतापरक है ।"[1] इसप्रकार उसमें संकल्पहीनता एवं दायित्वहीनता और अन्तर्विरोध भी पाए जाते हैं ।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारतीय समाज में इस वर्ग का बीजवपन हुआ । इसका प्रत्यक्ष हेतु अंग्रेज़ ही है । "भारत में आधुनिक मध्यवर्ग के उद्‌भव और विकास का दायित्व अंग्रेज़ी साम्राज्य पर है । अंग्रेज़ों के आगमन के पूर्व भारतीय गाँव आर्थिक दृष्टि से इकाई होते थे, पर अंग्रेज़ी शासन ने उस आर्थिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन कर दिया जिसे अंग्रेज़ों से पूर्व के विदेशियों के भयंकर से भयंकर आक्रमण, गृहयुद्ध की सर्वग्राही लपटें, दुर्निवार दुर्भिक्ष, निर्मूल लूट-खसोट आदि न बदल सके थे ।"[2] यों ही अंग्रेज़ी शिक्षा, शासन, सभ्यता और औद्योगीकरण एवं शहरीकरण के फलस्वरूप भारतीय मध्यवर्ग का सूत्रपात हुआ ।

भारतीय मध्यवर्ग अपने दैनंदिन जीवन केलिए कमाता है । उसके पास अधिक पूँजी नहीं है । फिर भी वह उच्चवर्ग की ओर ताकता रहता है । उसे यह भी मालूम है कि अपनी प्रगति निम्नवर्ग से जुड़कर काम करने में है, परन्तु झूठी अहं और आदर्श उसे उससे विमुख बना देते हैं । "हमारे समाज का नया मध्यवर्ग परिवार की

---

1. आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण - पृ: 234 - डा. रमेशकुंतलमेघ ।
2. हिन्दी उपन्यास में मध्यवर्ग - पृ: 10 - डा. मंजुलता सिंह ।

मर्यादा और स्तर कायम रखने तथा रोजी कमाने में ही सारी शक्ति लगा रहा है । इस वर्ग की राष्ट्रीय चेतना के ह्रास के साथ उसकी नैतिक शक्ति भी बहुत क्षीण होने लगी है । लोग अपने से ऊँचे स्तर के व्यक्ति को देखते हैं और उनमें किसी प्रकार का चारित्रिक उत्कर्ष, त्याग की भावना तथा अन्य उच्चादर्श न पाकर भी उसी जीवन शैली को अपनाने को प्रेरित हो रहे हैं ।"[1] सामाजिक एवं आर्थिक उलझनों के साथ धार्मिक, नैतिक एवं धार्मिक समस्यायें भी मध्यवर्ग को बराबर आक्रान्त करती रहती हैं । धार्मिक रूढिवादिता का विरोध सबसे अधिक मध्यवर्ग करता रहता है और उसके बीच में ही उसका प्रचलन चलता है तथा अन्तर्विरोध सबसे अधिक विद्यमान है । आर्यसमाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज के साथ कांग्रेस का काम भी मध्यवर्गीय संस्कार को बढाने में सहायक सिद्ध हुए हैं ।

भारत में मध्यवर्ग के बीजवपन मात्र नहीं, बल्कि उसके पालन-पोषण में भी अंग्रेज़ों ने अपना हिस्सा ले लिया था । शासन सुविधा केलिए उन्हें लिपिक वर्ग की आवश्यकता थी । उसकी पूर्ति केलिए शिक्षित बाबुवर्ग की सृष्टि की थी । इसके अलावा वकील, इंजीनीयर, डाक्टर, अध्यापक और अन्य नौकरी पेशा वर्ग तथा राजनीतिज्ञ भी उस वर्ग में जुड गए । गाँवों से रोज़गारी केलिए शहरों में पहूँचा वर्ग भी इससे जुडने की कोशिश करता था ।

बीसवीं सदी के आरंभ में मध्यवर्ग आदर्शवान अधिक था । आदर्श के कारण उसमें आस्था और उद्देश्य का बडा स्वप्न था । "प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारत में मध्यवर्ग का केवल प्रसार ही नहीं हुआ अपितु उसकी एक अपनी सुनिश्चित तथा स्पष्ट इकाई भी बन गई जिसका व्यापक प्रभाव हम आज भारतीय समाज के प्रत्येक अंग पर देख सकते हैं । आज भारतीय जीवन का कोई भी ऐसा पक्ष नहीं है

---

1. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध - पृ: 11 - आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ।

जिसपर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मध्यवर्ग ने अपना प्रभाव न डाला हो । भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम का इतिहास भी हमें यही बताता है कि सारे आन्दोलन के नेतृत्व का अधिकांश श्रेय इसी मध्यवर्ग को है ।"[1] स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद बेकारी, महंगाई, आर्थिक विपन्नता, धार्मिक आतंक इत्यादि के कारण देश की स्थिति बिगड गई । जनता के बीच भग्नाशा, मोहभंग और विद्रोह की भावना छाने लगी । इसका प्रभाव समकालीन उपन्यासों पर पडा है ।

उपन्यास का जन्म मध्यवर्ग की कुंजी में हुआ । दोनों का जन्म एक साथ हुआ । "वस्तुतः हिन्दी उपन्यास का जन्म ही मध्यवर्गीय चेतना के क्रोड से हुआ और उसी के भीतर से अपना मार्ग बनाता हुआ वह उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर होता गया ।"[2] हिन्दी के आरंभिक उपन्यासों में भी मध्यवर्गीय झलक मिलती है । उपन्यास का विषय मध्यवर्गीय जीवन ही है । हिन्दी का प्रथम उपन्यास "परीक्षागुरु" "के द्वारा तत्कालीन मध्यवर्गीय समाज और देश-देश का विस्तृत परिचय मिल जाता है । नायक मदनमोहन नवशिक्षित मध्यवर्ग की कमज़ोरियों का मूर्तमान रूप है ।"[3] तत्कालीन उपन्यासों में राष्ट्रीयता, समाज-सुधार, नारी-शिक्षा इत्यादि मुख्य विषय रहे जिसका केवट स्वयं मध्यवर्ग ही था । अनेक उपन्यासों में सामन्तवाद का अन्त और पूँजीवाद के उदय को पारिवारिक चित्रण के ज़रिए दिखाया गया है । "हिन्दी के प्रथम उपन्यास की रचना जिस काल में हुई, उस समय मध्यवर्गीय चेतना अपना विस्तार कर रही थी । जन-जीवन के साथ ही साथ साहित्य भी उसके प्रभाव से अछूता नहीं रह सका ।"[4] समय के साथ मध्यवर्ग और उसके समानान्तर रूप में

----

1. मध्यवर्गीय चेतना और हिन्दी उपन्यास - पृ: 16 - भूपसिंह भूपेन्द्र ।
2. हिन्दी उपन्यास का विकास और मध्यवर्गीय चेतना - पृ: 38 - डा॰ वीना श्रीवास्तव ।
3. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद - पृ: 175 - डा॰ त्रिभुवन सिंह ।
4. हिन्दी उपन्यास का विकास और मध्यवर्गीय चेतना - पृ: 38 -

उपन्यास भी आगे चलते रहे । प्रेमचन्द के अन्तिम समय और उसके उपरान्त उपन्यासों से आदर्श का पुट छूटता रहा और मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ चमकने लगे । भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति और द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त बदलते हुए राजनैतिक परिवेश में मध्यवर्ग का विद्रोही स्वर और भी तीव्र होता गया जिसे नये उपन्यासकारों ने विभिन्न रूपों में मुखरित किया है । स्वाधीन भारत में फैले मोहभंग और भग्नाशा ने समाज के नैतिक भावबोध को झकझोर किया । भारत विभाजन से मानवीय मूल्य गिर गया जिसका असर भी मध्यवर्ग पर अधिक पड़ा है । वह सांप्रदायिक आतंकवाद से मानसिक एवं भौतिक दोनों तौर पर आक्रान्त हुआ । ऐसी हालत में समाज में एक अनिश्चयात्मक स्थिति उत्पन्न हुई और विद्रोह और आक्रोश का स्वर उमड़ने लगा । "महायुद्ध ने मध्यवर्ग के जीवन को तो हिलाया ही, घरानों के जीवन पर भी गहरा आघात किया महायुद्ध की चपेट में एक समूची युवा पीढ़ी को खोकर ये मध्यवर्गीय घराने अपने भविष्य की अनिश्चयता से आतंकित हो उठे, क्योंकि युवा पीढ़ी के मिट जाने से उनकी सम्पत्ति का उत्तराधिकार एवं मात्र खतरे में हैं - यह दुश्चिंता मध्यवर्गीय जीवन को घुन-सी खाने लगी ।"[1]

स्वाधीन भारत में एक ओर मध्यवर्गीय परिवारों की टूटने की प्रक्रिया जारी रही थी, दूसरी ओर लोग शहरीकरण एवं गाँवों से शहर की ओर नौकरी की तलाश करते रहे थे । विभाजन की विभीषिकायें आज भी भारतीय समाज में मौजूद हैं, फिर भी सांप्रदायिकता अपनी संपूर्ण शक्ति के साथ समाज में जीवित रहती है । आधुनिक जीवन लोग होड़ लेकर जीते हैं, क्योंकि जीना उतना मुश्किल हो रहा है । जीवन के प्रति अडिग रहने याने उसके प्रति प्रबल जिजीविषा, के कारण समाज में लोग ज़िन्दा रहते हैं । ऐसे समाज को भीष्म साहनी ने अपने उपन्यासों केलिए उचित पृष्टभूमि बना दी है । उनके उपन्यासों की ज़मीन चारों ओर फैली हुई लगती है ।

----

1. हिन्दी साहित्य : आधुनिक परिदृश्य - पृ: 76 - अज्ञेय ।

धार्मिक रूढिवादिता से मुक्ति - "झरोखे"

भारतीय जीवन धर्म, नीति, सत्य, अहिंसा इत्यादि से गहरे में जुडा हुआ था । सत्य, अहिंसा और जहाँ तक नीति का प्रश्न है, समाज से ओझल हो रहे हैं । परन्तु धर्म और नियतिवाद से भारतीय जीवन, खासकर मध्यवर्गीय जीवन अब भी घिरा हुआ है । पुराना समाज धार्मिक था, और उसके आधार पर बाकी सब चल रहा था । लेकिन आज के वैज्ञानिक युग में धर्म एवं नियतिवाद पिछडे हुए हैं, उनसे मुक्ति मानवजीवन केलिए अनिवार्य सा बन गया है । यहाँ धर्म का तात्पर्य संप्रदाय से है । पुराने समाज में धर्म और नियति का जो स्थान था, वह आज राजनीति एवं अर्थ ने ले लिया है । फिर भी मनुष्य धर्म की पकड से पूर्णतः मुक्त नहीं हुआ है । मनुष्य उससे मुक्त होना चाहता है, उसकेलिए छटपटाता रहता है । आधुनिक मध्यवर्ग इस छटपटाहट का शिकार है । वह एक ओर पुरातन से पूर्णतया मुक्त नहीं हो पाता और दूसरी ओर समय के अनुसार अपने को आगे बढा भी नहीं पाता ।

भारतीय धर्माश्रित जीवन और हिन्दू धर्म मुसलमान और अंग्रेजी आक्रमण तथा शासन के फलस्वरूप खतरे में पडा था । एक ओर लोग लक्ष्यहीन एवं दिग्भ्रमित थे तो दूसरी ओर धर्मपरिवर्तन का सिलसिला ज़ारी रहा था । ऐसे अवसर पर "इस देश के लोग भी नए सन्दर्भ में कुछ नया सोचने और करने केलिए बाध्य हुए ।"[1] इसप्रकार भारतीय नवजागरण केलिए रणभूमि तैयार हुई । "भारतीय धर्म और संस्कृति के संबन्ध में अंग्रेज़ प्रशासकों और ईसाई मिशनरियों के आक्रामक रुख के कारण धर्म - सुधारकों केलि धारदार मार्ग से गुज़रना आवश्यक हो गया । एक ओर उन्हें विदेशियों के समक्ष अपने धर्म का नया अर्थापन करना पडा । इसप्रकार हर बात को तर्कसंगत बनाने की दिशा में जो पहल की गयी वह बहुत फलदायक सिद्ध हुई । इस संक्रान्तिकाल में धर्म का पल्ला पकडना बहुत आवश्यक था, क्योंकि धर्म अनिवार्यतः समाज-सुधार के साथ जुडा हुआ थ

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ: 440 - सं. डा. नगेन्द्र ।

ब्रह्म समाज, आर्यसमाज, प्रार्थनासमाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसैटी और कांग्रेस ने इसकेलिए अपना-अपना योगदान दिया । आर्यसमाज के अलावा अन्य संस्थाओं ने हिन्दुत्व और वैदिक संस्कृति की अपेक्षा मानव और मानव संस्कृति पर अधिक जोर दिया । इसीलिए "सत्यार्थ प्रकाश" में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इन सबका विरोध किया था । "ब्रह्मसमाज के उद्देश्य के पुस्तक में साधुओं की संख्या में ईसा, मूसा, मुहम्मद, नानक और चैतन्य लिखे हैं । किसी ऋषि-महर्षि का नाम भी नहीं लिखा ।"[1] आर्यसमाज ने स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह और स्त्री-पुरुष समत्व केलिए लडते हुए जाति भेद, सतीप्रथा इत्यादि के विरुद्ध लोहा भी लिया था । विसंगति इसमें है कि वेदों को आर्यसमाजी अपने मूल ग्रंथ मानते हैं और उनके अनुसार वेदों में ही भारतीय संस्कृति निहित है । इसी उद्देश्य से स्वामी दयानन्द ने "आर्यसमाज केलिए वेदों को आधार माना । उनके अनुसार वेद अपौरुषेय है और वैदिक धर्म ही सत्य और सार्वभौम है, अन्य धर्म अधूरे हैं ।"[2] हिन्दू धर्म को छोडकर उसकेलिए और कोई प्रगतिशील चिन्तापद्धति स्वीकार्य नहीं है । स्वामीजी और आर्य-समाज अन्य धर्मों को मानने के पक्ष में नहीं थे । "सत्यार्थ प्रकाश में जहाँ हिन्दुत्व के वैदिक रूप का गहन आख्यान है, वहाँ उसमें ईसाइत और इस्लाम की आलोचना पर भी अलग-अलग दे समुल्लास है ।"[3] "इसकी कार्यपद्धति एक ओर प्रगतिशील थी, तो दूसरी ओर प्रतिक्रियावादी । जहाँ तक मानवीय समता, अस्पृश्यता आदि का संबन्ध है, इसे प्रगतिशील माना जाएगा । किन्तु मुसलमानों के प्रति इसका आक्रामक रुख प्रतिगामी प्रवृत्ति का सूचक है । इसीप्रकार वेद को अपौरुषेय और अतर्क्य मान लेने के

---

1. संस्कृति के चार अध्याय - पृ: 559 - डा. रामधारी सिंह "दिनकर" ।
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ: 450 - सं. डा. नगेन्द्र ।
3. संस्कृति के चार अध्याय - पृ: 560 - डा. रामधारी सिंह "दिनकर" ।

कारण व्यक्तिगत चिन्तन केलिए अवकाश नहीं रह गया ।"[1] आर्यसमाज आर्यवीर एवं संस्कृति की घोषणा करता रहा था । उसकेलिए भारतवर्ष की सीमा विन्ध्याचल तक रही थी, अतः उसमें भौगोलिक न्यूनता भी आ गयी है ।

आर्यसमाज भारतीय नवजागरण का अगुवा बन जाने पर भी कुछ रूढ परम्पराओं से वह अपने को मुक्त नहीं कर सका । आज के जीवन केलिए रूढ परम्पराओं में जकडे रहना असंगत ही है । इसलिए आज व्यक्ति अपनी धार्मिक रूढि से मुक्त होने केलिए व्यग्र है । "झरोखे" उपन्यास में रूढ परम्पराओं और सामाजिक तत्वों के अन्तर्विरोध में पले एक आर्यसमाजी परिवार की कथा प्रस्तुत की गयी है । प्रस्तुत उपन्यास ऐसे एक धुन्ध से मुक्ति की तलाश है ।

झरोखे : कथाफलक

"झरोखे" एक छोटे से आर्यसमाजी मध्यवर्गीय परिवार की कथा पर आधारित उपन्यास है । एक बालक अपने ही मुँह से, अपने बचपन से युवावस्था तक की जीवनयात्रा कथागत रूप में प्रस्तुत करता है । घर में माँ-बाप, दो भाई, दो बहिनें और नौकर तुलसीराम है । उपन्यास इनके बीच घटित छोटी-छोटी घटनाओं एवं इनकी आदतों एवं व्यवहारों और उसकी प्रतिक्रियाओं का अंकन है ।

वक्ता एक बीमार बालक है । बीमार बच्चे का मन विचलित एवं कुंठित होता है । इसपर अपने घर-परिवार का प्रभाव भी है । बालक माँ की गोद में सिर रखकर लेटता है और माँ सदा विराग के गीत गाती है । बीमारी की वजह बालक खेलने में असमर्थ रहता है । आर्यसमाजी पिता विराग के गीत पसन्द नहीं करता है, वह बच्चों के कान में वेद-मंत्र फूँकना चाहता है, और इसी उद्देश्य से बच्चों को

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ: 451 - सं. डा. नगेन्द्र ।

आर्यसमाज के कार्यालय में भेजता भी है । माँ बच्चों को बाहर भेजना नहीं चाहती, चाहे आर्यसमाज के कार्यालय में हो या और कहीं । वह बच्चों की आयु लम्बा करने केलिए प्रार्थना करती है । बालक का बडा भाई बाहर जाता है, मगर दो बहिनों का संसार घर की चहार-दिवारी ही है । घर के छत तक उन्हें जाने की अनुमति नहीं है ।

फकीर, पाण्डे इत्यादि घर के मेहमान थे । पिता आर्यसमाज और व्यवसाय पर लगा हुआ है तो माँ मन्दिरों, गुरुद्वारों और आश्रमों की दर्शिका बन गयी है । घर साज-सजावट और व्यवहार तथा अर्थ एवं शिक्षा के स्तर पर पूर्णतः एक मध्यवर्गीय परिवार का लगता है । बालक का संसार घर और उसके चारों ओर है । वह नौकर तुलसी के साथ छज्जे पर जाकर शहर का निरीक्षण करता था । एक दिन दोनों भाई के साथ तुलसी भी छज्जे से उतरे हैं तब नीचे बहिनें रोती रहती थी । पिता को किसी ने मारा था, इसलिए बहिनें रोती हैं, जिसका बदला तुलसी लेता है

घर में बच्चों को ट्यूशन देने का प्रबन्ध है । गुरुजी आकर सदाचार की बातें तथा हिन्दी पढाता है जो स्वयं सदाचार का पालन नहीं करता है । उसे खाने और पाने की चिन्ता मात्र है । घर में सन्ध्या, हवन, पूजा-पाठ इत्यादि साधारण बातें हैं । पिता सन्ध्यावन्दन के बीच ऊँघता है तो माँ का मन उसकेलिए अडिग नहीं रहता है । फिर भी दोनों रोज़ सन्ध्या करते हैं, बच्चों को उसकेलिए प्रेरणा भी देते हैं । माँ शान्ति केलिए साधु-सन्यासियों का उपदेश खोजती है । पित केलिए एकाग्रता की फिक्र नहीं, भगवान के आगे सिर नवाना उसकेलिए काफी है ।

मुसलमानी इलाका है । शहर में दिन-व-दिन कोई -न- कोई हादसा होता है । समोसावाले जो पैसे के बदले मार देना, पियक्कडों को असह्य दण्ड देना इत्यादि उसमें मुख्य हैं । मुसलमान घर में माँस पकाता है और इसके विरुद्ध आर्यसमाजी माँस की गंध को हटाने केलिए हवन करता है । घर के सदस्यों के साथ नौकर भी

हवन, सन्ध्या, मंत्र और जाप में भाग लेता है । और अन्त में वह भी आर्यसमाजी बन जाता है चाल-चलन और कर्म से, परन्तु नियति से वह सदा नौकर ही रहता है । कभी-कभी घर में माँ-बाप के बीच झगडा होता है । झगडे केलिए खास कारण नहीं चाहिए, छोटे-छोटे हेतु काफी हैं । झगडे के बाद बच्चे-माँ को सांत्वना देते हैं और तुरन्त झगडे का वातावरण भी खत्म हो जाता है । घर में दोनों भाई नाटक खेलते थे, जिनमें अधिकांश नाटक ऐतिहासिक वीरों एवं आर्यवीरों को केन्द्र में रखकर लिखे गए थे । बन्धुओं के आते वक्त घर में उत्साह और आनन्द छा जाते हैं ।

बच्चे बडे हो गए । उनका संबन्ध बाहर से शुरू हुआ । दोनों बालक गुरुकुल जाते थे, उस वक्त उनका यज्ञोपवीत भी हुआ था । यज्ञोपवीत में पंडित को गुरुदक्षिणा दी जाती है और उसका सम्मान होता है । बालक स्कूल जाने लगे मगर लडकियाँ घर से बाहर नहीं भेजी जातीं । वे गुरुकुल और स्कूल तक जाने से वंचित हो जाती हैं । इस बीच बडी लड़की की शादी भी होती है । दोनों बालक स्कूल से लौटकर स्कूल के बारे में चर्चा करते थे । इसे सुनकर तुलसी का मन भी विचलित होने लगा । वह एक दिन माँ से पूछता भी है कि मुझे सदा ही बर्तन माँजना ही पडेगा । इससे प्रभावितहोकर माँ, पिता का एतराज होने पर भी बर्तन माँजने से तुलसी को मुक्ति देती है । लेकिन दूसरे दिन उठते ही तुलसी अपने पापबोध से बर्तन माँजना शुरू करता है फिर भी माँ रोकती है । तुलसी ने हिन्दी पढी थी, जिससे वह रसोई छोडकर क्लर्की भी नहीं कर सकता । क्लर्की के काम केलिए उर्दू या अंग्रेज़ी चाहिए, मगर हिन्दी से हिन्दू संस्कृति का अध्ययन मात्र संभव है । बाद में तुलसी को आर्यसमाज के औषधालय में काम करने केलिए भेजा जाता है परन्तु वहाँ भी उसे धोने का काम ही करना पडता है । वहाँ सीढियाँ धोना उसका मुख्य पेशा है न कि वैद्यगिरी सीखना ।

एक दिन रात में विमला {छोटी बहन} बीमारी के कारण मर जाती है जिसकी सगाई भी हो चुकी थी । मरते वक्त उसका नियुक्त पति घर के बाहर खड़ा रहा था । उसी दिन रात में बड़ी बहन विद्या एक बच्ची को जन्म भी देती है । इसप्रकार एक ही रात में जन्म और मरण दोनों घटित होते हैं ।

बालक युवक बन गया है । उसमें युवाजनित प्रवृत्तियाँ एवं शंकायें मौजूद थीं । आर्यसमाजी संस्कार की वजह से बालक बहुत विचलित हो उठता है । 17-18 वर्ष की उम्र में उसे वीर्यपात होता है जिसे आर्यसमाजी संस्कार पाप समझता है । पिता और बड़े भाई दोनों उपदेश देते हैं और बुरा भी मानते हैं । उसे "अमृत बिन्दु" नामक ग्रंथ पढने केलिए देते हैं । सिनेमा देखने और नॉवल पढने से मना कर देते हैं, ठंडे पानी में नहाने की सलाह देते हैं । आर्यसमाजी संस्कारानुसार स्त्रियों को देखना भी पाप है । पापबोध और आत्मग्लानि से आतंकित बालक का मन पागल सा बन गया है । वह स्वप्न दोष केलिए दवा ढूँढता है, नींद छोड़कर अपने को कष्ट देता है । अपने मित्रों से इसकी चर्चा करता है और कुलमिलाकर वह बहुत परेशान हो जाता है ।

वह कहीं शिक्षा केलिए बाहर गया था । कुछ अर्से के बाद आया है तब तक माँ-बाप और परिवार तथा शहर में भी परिवर्तन दिखाई पड़ता है । माँ दाँत हीन हो गयी और पिता के बाल झर गए हैं । भाई व्यापार करता है, तुलसी दर्जी का काम करता है और नया नौकर सुदामा आ गया है । तुलसी को सिलाने की सुविधा भी दी है, उसके एक पुत्र भी है । इस वक्त भाई बलदेव व्यापार से मुक्ति चाहता है और वह लाहौर जाने की सोच में है । घरवालों की असहमती के बावजूद भी वह चला जाता है तब भी पिता सारी सुविधायें देता है । इस बीच तुलसी बैंक से बाहर किया जाता है और बेटे को विद्या के पास नौकर के रूप में छोड़ देता है । अन्त में "वह" व्यापार करना शुरू करता है जिसे छोड़कर बलदेव भाई चला गया है ।

आत्मनिर्वासन से मुक्ति

"झरोखे" एक आत्मकथात्मक उपन्यास है । स्वयं लेखक ने यह स्वीकार किया है कि यह मेरे बचपन से युवा तक की कथा है । "वास्तव में, "झरोखे" आत्मकथात्मक ही है, जो मुख्य रूप से मेरे बचपन के बारे में है । अलबत्ता यह कथात्मक है, फिर जिन प्रभावों को यह प्रस्तुत करता है, वे मेरे द्वारा बहुत गहराई से अनुभव किए गए हैं । पारिवारिक वातावरण, उसमें दो भाईयों का आपसी संबन्ध, घर का नौकर । यह सब वास्तविक जिन्दगी से लिए गए हैं ।"[1] इसके अलावा "आइने के सामने" नामक पुस्तक में उन्होंने जो बातें लिखी हैं उसमें और प्रस्तुत उपन्यास में बहुत अधिक समानतायें लक्षित होती हैं । इसप्रकार खुद भीष्मसाहनी अपने मुँह से कथा कहते हैं, जिन्होंने अपने बचपन के 10-12 साल की जीवनयात्रा को प्रस्तुत किया है । इस भोगे हुए यथार्थ का बल पकडकर लेखक व्यक्ति चरित्र पर बचपन के परिवेश और पारिवारिक संस्कार कहाँ तक प्रभाव डालता है तथा उसे दिशा देने में कहाँ तक सक्षम होता है, इसकी परिक्षा करता है । परिवार धर्माश्रित होने के नाते धर्म की पकड सबसे अधिक दिखाई पडता है जिससे मुक्ति की खोज उपन्यास का लक्ष्य है ।

मनुष्य अपने बचपन में परिवार एवं परिवेश से ही सांस लेता है । प्रत्येक सांस में उसकी गंध होती है । मनुष्य का चरित्र उन सांसों के अनुसार बल पकडता नज़र आता है । घर या परिवार में छोटी-छोटी साधारण-सी लगनेवाली घटनायें घटित होती हैं जिससे बालक मन संस्कार ग्रहण कर लेता है । घटनायें सामान्य होने पर भी बालकों के भावी जीवन को संचालित करने में ये सक्षम होती हैं । घटनाओं के रूप में पडे संस्कारों के नीचे ज़िन्दगी करवटें लेती हुई कभी-कभी अपना रुख भी बदल लेती है । धर्म का प्रभाव नैतिकता पर सदा ही रहता है । अतः हमारी जीवनदृष्टि,

---

1. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना - पृ: 24 - सं॰ राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर ।

चाल-चलन और सारे काम पर धर्म का आभास अवश्य रहेगा । यह आभास जीवन को सूत्रबद्ध करने में अपनी भूमिका निभाता है । इसीलिए उपन्यासारंभ में लेखक स्वयं पूछता है कि "क्या जीवन की गति-विधि को सूत्रबद्ध करनेवाले कोई तंतु हुआ भी करते हैं या नियमितता की भूसी हमारी कल्पना ही उन्हें कोई सुसंगत रूप देने की चेष्टा करती रहती है? "[1] "हमारे नैतिक बोध पर धर्म का आचरण हावी रहता है, फलस्वरूप हमारा नैतिकबोध किसी "सेक्युलर" अर्थ में मानवीय नहीं हो पाता, मनुष्य अपने धार्मिक आचरण के वृत्त में संप्रदाय विशेष की आत्मनिष्ठ स्थितियों से प्रभावित होता है और होता यह है कि मनुष्य सही अर्थ में सामाजिक गुणों को ग्रहण नहीं कर पाता । उसके सामाजिक संबन्ध तथा मानवीय संबध संकीर्ण अर्थ में जातीय परिपाटी के अन्धानुकृत रूप हुआ करते हैं ।"[2]

आर्यसमाजी घर में पवित्रतावादी दृष्टि और धार्मिक कट्टरता है, हिन्दू धर्म पर उन्हें अडिग आस्था है । आर्यसमाज शिक्षा, नारी उत्थान, समाज-सुधार आदि नारा लेकर आया था परन्तु वह अधिक कट्टर एवं रूढिवादी है, घर में सुधार का काम बहुत कम करता है । उपन्यास में पिता आर्यसमाज का एक वक्ता है । उसमें भी अन्तर्विरोध द्रष्टव्य है । "पिताजी पवित्रतावादी है और इनका आदेश है विद्या और विमला दोनों बहनें मकान के छज्जे से लोगों को देख नहीं सकती ।"[3] इस कट्टरता के बारे में लेखक भी सहमत होते हैं कि "मेरे बचपन के दिनों में घर के माहौल में कट्टरता थी बेशक लेकिन उग्र प्रकार की कट्टरता नहीं थी ।"[4] ऐसे बन्धनों को अनुशासन नाम दिया है । पिता बच्चों के कान में वेद-मंत्र फूँकना चाहता है जिससे उसका भविष्य उज्जवल हो जाय । पिता स्वामीजी के वचनों का पालन करता है । "रूढियों और

---

1. झरोखे - पृ: 7 - भीष्म साहनी ।
2. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना - पृ: 112 - सं. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर ।
3. समकालीन साहित्य एक नई दृष्टि - पृ: 125 - डा. इन्द्रनाथ मदान ।
4. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना - पृ: 30 - सं. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर ।

गतानुगतिकता में फंसकर अपना विनाश करने के कारण उन्होंने {दयानन्द जी} भारत-वासियों की कड़ी निन्दा की और उनसे कहा कि तुम्हारा धर्म पौराणिक संस्कारों की धूल में छिप गया है । इन संस्कारों की गन्दी परतों को तोड़ फेंको । तुम्हारा सच्चा धर्म वैदिक धर्म है, जिसपर आरूढ़ होने से तुम फिर से विश्व-विजयी हो सकते हो ।"[1] ". . . बच्चों को अच्छे-अच्छे आशा के गीत सुनाने चाहिए । इनके कान में वेद मंत्र पढ़ने चाहिए ।"[2] घर में पूजा, हवन, सन्ध्या आदि रोज़ चलाये जाते हैं और सारे काम नैतिक बन्धनों से घेरा हुआ है । यह "अनुशासन" इतना कठोर है कि घर में खुलकर हंसना अशिष्टता है, नॉवल पढ़ना दुराचार है, स्त्रियों को देखना और पेशाबवाली जगह को छूना दुराचार है । ""सादापन जीवन, सजावट मृत्यु है ।" . . . स्त्रियों के पैरों की तरफ देखना चाहिए, चेहरे की तरफ नहीं देखना चाहिए ।"[3] आर्यसमाजी स्त्री-शिक्षा एवं उत्थान में कार्यरत है, परन्तु घर में उसका विपरीत ही करता है । "विद्या-विमला ! वह कड़ककर कहते हैं । मेरे मुँह में लगा थर्मामीटर लरज़ जाता है । यहाँ खड़ी क्या कर रही हो? तुम्हें मना जो किया है, छज्जे पर मत आया करो ।"[4] इसप्रकार घर में अनुशासन ही अनुशासन है । मगर लड़कों केलिए अनुशासन में छूट है । दूसरी ओर माँ विराग के गीत गाती है, जिसमें संस्कार का मिथ्यात्व, जीवन की नश्वरता और मृत्यु की चिन्ता बतायी गयी है । माँ कहती है कि "मत कहो कि यह दुनिया मेरी है या तुम्हारी है । इस दुनिया में तो तुम्हारा केवल चार दिन का वास है, फिर तो केवल तुम्हारी मुट्ठी-भर राख ही पीछे रह जाएगी । अल्लाह के प्यारे, इन्सानों की नगरी में जाकर कहो कि यह संसार केवल दम भर का मेला है ।"[5] घर में एक ओर माँ निराशावादी है और दूसरी ओर पिता

---

1. संस्कृति के चार अध्याय - पृ: 559 - डा. रामधारी सिंह दिनकर ।
2. झरोखे - पृ: 12 - भीष्म साहनी ।
3. वही - पृ: 32 - वही ।
4. वही - पृ: 24 - वही ।
5. वही - पृ: 17 - वही ।

आस्थावादी है । इसके अलावा पिता में और भी अन्तर्विरोध है । वह एक व्यापारी है । अत: उसका संबन्ध देश-विदेशों से है । उसके अनुसार मुसलमान म्लेच्छ है, मगर विदेशी मुसलमान म्लेच्छ नहीं । क्योंकि उनसे इसका व्यापारिक संबन्ध है, घर में विदेशी मुसलमानों का सम्मान और सत्कार होते हैं । "बपारी मुसलमानों में और मुहल्ले के मुसलमान में बडा फर्क है । बपारी मुसलमानों के साथ पिताजी हँस-हँसकर बातें करते हैं, उनकी ठुड्डी को हाथ लगाते हैं, उन्हें चाय पिलाते हैं, खाना खिलाते हैं । मुहल्ले के मुसलमान म्लेच्छ हैं, वे बकरे की सिरी भूनते हैं, वे हिन्दुओं के खोमचे लूट लेते हैं और उनके बच्चे इश्किया गीत गाते हैं । और गन्दी गालियाँ देते हैं, इसलिए पिताजी उनके साथ हमें खेलने नहीं देते ।"[1] हिन्दू और मुसलमान दोनों के बीच का बर्ताव अच्छा नहीं है । एक कारण बहुमतवाले मुसलमान हिन्दुओं पर आक्रमण करते हैं । "जवान लडकियाँ हैं, घर में रोज़ कंकड पडते हैं । लफंगों का महल्ला है ।"[2] और लडकियों के आगे "मकान की छत पर घर का मालिक (पडोसवाले मुसलमान) पाजाम उतारे नंग-धडंग खडा है । जब कभी बहनें छत पर जाती हैं, वह कपडे उतार देता है ।" दूसरा कारण जातीय परम्पराओं एवं धार्मिक-नैतिक मान्यताओं के आधार है । "स्वामी के बाद आर्यसमाज और मुस्लिम संप्रदाय के बीच का संबन्ध अच्छा नहीं रहा, यह सत्य है किन्तु स्वामीजी के जीवनकाल में ऐसी बात नहीं थी ।"[4] ऐसे अन्तर्विरोधों के बीच मनुष्य मानसिक उलझनों में पडता है । उसके आगे स्वस्थ और निष्कंटक रास्ता नहीं, अन्धकार ही अन्धकार है । कभी-कभी धर्म, संप्रदाय इत्यादि बातें धन के आगे ओझल भी होती हैं क्योंकि व्यापारी केलिए एक ही जाति होती है ।

---

1. झरोखे - पृ: 58 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 77 - वही ।
3. वही - पृ: 76 - वही ।
4. संस्कृति के चार अध्याय - पृ: 560 - डा. रामधारी सिंह दिनकर ।

घर एवं परिवेश बालक के चरित्र का स्थापन करते हैं । एक ओर आर्यसमाज का समाज सुधार कार्य है, जैसे मूर्तिपूजा, सती-प्रथा, जाति-भेद, शगुन-अपशगुन, स्त्री-शिक्षा, और स्त्री-स्वातंत्र्य । दूसरी ओर हिन्दू धर्म पर अडिग आस्था, वेद-मंत्र, ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान इत्यादि भी । ऐसे अन्तर्विरोधों के बीच बालक भटकता रहता है । निजी मामलों केलिए इन बातों में छूट भी दिया जाता है । पिता बीच में शगुन-अपशगुन की बातें करता है । "शगुन-अपशगुन की बात आज पिताजी कैसे करने लगे हैं । वह तो इन बातों को अन्धविश्वास कहा करते हैं ।"[1] "देखो जी, इन बच्चियों का क्या दोष' मैं इन्हें न छज्जे पर जाने देती हूँ, न खिडकी में से झांकने देती हूँ । बरसों से इनकी पढाई छुडाकर इन्हें घर में बिठा लिया है कि गली-महल्ले में इन्हें कोई देख नहीं पाए । अब और क्या करूँ' कभी भूल से ऊँचा हँस देती है तो भी हम डाँट देते हैं । दिन भर कभी एक कमरे में तो कभी दूसरे कमरे में बैठी रहती है ।"[2] इसप्रकार के वातावरण में चरित्र को खोना पडता है और बालक असमंजस में पडकर मौन हो जाता है । यही स्थिति युवावस्था तक चलती है । 17-18 वर्ष की अवस्था में उसे वीर्यपात होता है । पवित्रतावादी के अनुसार वह बुरा है और बुरे आदमी का लक्षण है । इसे रोकने केलिए दवा ढूँढता है, "अमृत बिन्दु" नामक किताब पढता है और नींद तक छोडता है । पता नहीं वह कितना कष्ट झेलता है । "कुछ महीनों से मैं बेहद अकेला महसूस करने लगा हूँ । अपने में खोया हुआ अलग-थलग बैठा रहता हूँ । हर राह-जाते लडके के चेहरे की ओर देखता हूँ और अनुमान करने लगता हूँ कि उसे स्वप्न दोष है या नहीं । अन्दर ही अन्दर जैसे मुझे कोई घुन खाए जा रहा है । पिताजी का कोई मित्र सामने आ जाए तो मैं मुँह फेर लेता हूँ । क्योंकि मैं जानता हूँ वह रूककर कहेगा, ""तुम कितने दुबले हो गये हो", और उसे मेरे चेहरे से मेरे रोग का पता चल जाएगा, और फिर वह मेरे भाई से मेरी तुलना करने लगेगा, वह चरित्रवान है, मैं चरित्रहीन हूँ ।"[3] पिताजी पाठ्यक्रम का उपन्यास बाहर

----

1. झरोखे - पृ: 75 - भीष्म साहनी ।

2. वही - पृ: 77 - वही ।

3. वही - पृ: 105 - वही ।

फेंक देता है, और फटकारता भी है । गुरुजी सदाचार की सलाह देता है जो स्वयं उसका पालन नहीं करता है । पढाते वक्त वह एक पैर कुर्सी पर रखता है, लस्सी पूछता है और वेतन पूछता है । वह कहता है कि पेशाबवाली जगह को छूना दुराचार है । ऐसी बातों से बालक के मन में ऐसा चित्र उभरकर आता है जिससे बहुत बुरा असर पडता है । स्त्रियों के प्रति एक गैर-मनोवैज्ञानिक दृष्टि उत्पन्न होती है आत्म-ग्लानि उमडती है । "भाई के चेहरे पर रौनक है, जो एक सच्चे ब्रह्मचारी के चेहरे पर होती है, चमकती आँखें, गोरे-गोरे, लाल-लाल गाल, मेरा "नैतिक पतन" हो चुका है, इसी कारण मेरा चेहरा साँवला है और पीला है, और उस पर कोई रौनक नहीं ।"[1] बालक इसप्रकार के माहौल में सुप्त हो जाता है, अपनी युवावस्था को कुंठित एवं तनाव, आत्मग्लानि और अपने को टुच्चे समझता है । याने उसका चरित्र दिशाहीन, अशान्त कुंठित एवं अकेला हो जाता है ।

परिवेश का प्रभाव एक व्यक्ति पर कैसे पडता है, उसका दृष्टांत है तुलसीराम । उसके कानों में सदा वेद-मंत्र, संन्ध्या की बातें पडती है और सदा हवन, पूजा आदि दीखता है जिनके पालन करने से मनुष्य "आर्यवीर" बन जाता है । दैनिक जीवन, चाल-चलन, व्यवहार सब में वह आर्यसमाजी का अनुकरण करता है । वह संध्या, मंत्र, श्लोक, हवन करना सब अपनाता है । और बाद में बर्तन माँजना छोडकर वैद्यगिरी, सिलाई, क्लर्की सब काम करता है । फिर भी उसकी नियति नहीं बदल पाती । तभी उसका प्रश्न सही लगता है कि "माँजी क्या सारी उम्र मैं बर्तन ही माँजता रहूँगा?"[2] घर का काम छोडकर वैद्यगिरी, क्लर्की और सिलाई करता है, हर बातों में आर्यसमाजी बनने की कोशिश करता है फिर भी उसे बर्तन ही माँजनी पडती है, और खुद को ही नहीं अपनी आगामी पीढी को भी । शिक्षा के बिना किसी का अन्धानुकरण से कोई

---

1. झरोखे - पृ: 100 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 79 - वही ।

फायदा नहीं है । उसे सब मिला है परन्तु आवश्यक शिक्षा नहीं, जिससे व्यक्ति अपने को, अपने जीवन मार्ग को चुन सकता है । अपनी बीवी को आर्यसमाजी बनाने की कोशिश करता है, जो अपना नैसर्गिक जीवन जीता है । "बड़ों पर हँसते नहीं देवी जी, मैं ने कई बार आपको समझाया है" । तुलसी अपनी गहरी, खरज आवाज़ में कहता है । तुलसी का लहज़ा सचमुच पिताजी के लहज़े से मिलने लगा है ।"[1] वह अपने बच्चों को भी इसी रास्ते पर लाना चाहता है । "लड़के का नाम वेद है, लड़की का शान्ति । तुलसी ने संस्कारानुसार आर्यसमाजी नाम रखे हैं ।"[2] तुलसी आर्यसमाजी बनने का प्रयास निरन्तर करता रहता है पर वह जीवन में असफल रहता है । क्योंकि उसे आर्यसमाजी अन्तर्विरोध याने दुहरेपन नहीं मिला, मात्र सही जानकारी मिली । उसमें कपटता एवं स्वार्थ मोह नहीं, मात्र आकांक्षा थी । साथ ही अन्धविश्वास, रूढ़-परम्परा, और पूजा-पाठ इत्यादि मिले हैं । इसलिए माँ कहती है "जो इसके काम नहीं आती थी तो इसे हिन्दी क्यों पढ़वाते रहे हो' इसे भी उर्दू पढ़वा देते ।"[3] याने जीने के लिए अन्धविश्वासों की जानकारी या धर्म ज्ञान नहीं, आधुनिक शिक्षा व बुद्धि चाहिए । नहीं तो जितनी कोशिश करो, वह वहीं पड़कर दौरा करता रहेगा ।

उक्त उपन्यास में व्यंग्य की कमी नहीं है । इसमें व्यंग्य का प्रयोग नहीं, कुछ पात्र स्वयं व्यंग्य के रूप में उभर आया है । अध्यापक अपने आप में व्यंग्य-सा लगता है । इसमें अध्यापक सच्चे अर्थ में अध्यापक नहीं एक हास का पात्र है । जो खुद सदाचार की बातें नहीं जानता है, वेद और मंत्र का अर्थ नहीं समझ सकता है, वह ये सब पढ़ाकर वेतन पाता है । मोटे तौर पर देखे तो तुलसी का जीवन भी एक पूर्ण व्यंग्य है । वह आर्यसमाज की सारी जानकारी प्राप्त करता है, परन्तु उसके हाथ में,

---

1. झरोखे - पृ: 95 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 117 - वही ।
3. वही - पृ: 81 - वही ।

वास्तव में कुछ भी नहीं मिल पाता । वह अन्त तक निःसहाय रहता है । वैद्य नहीं बन पाता, क्लर्क नहीं बन पाता, सच्चा आर्यसमाजी भी नहीं बन पाता । इसप्रकार के व्यंग्य पात्र उपन्यास को एकरसता से मुक्त करते हैं ।

मध्यवर्गीय संस्कार का संघर्ष : कड़ियाँ

भारतीय समाज में मध्यवर्ग सबसे शक्तियुक्त वर्ग हैं । इसमें नौकरी-पेशा वर्ग, व्यापारी वर्ग, कृषक वर्ग और राजनीतिक - समाजसेवी मुख्य है । स्वतंत्रता के पहले अंग्रेज़ी शासनकाल में इसका उदय एवं विकास हुआ और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इसमें भी समाज के साथ परिवर्तन आने लगा । अंग्रेज़ी शिक्षा एवं सभ्यता का प्रभाव भी इस पर अधिक पड़ा है । बुद्धिजीवी वर्ग होने के नाते विभाजन, द्वितीय महायुद्ध और स्वतंत्रताप्राप्ति का प्रभाव एवं प्रतिक्रिया इस वर्ग में सबसे पहले एवं अधिक होना स्वाभाविक है । स्वतंत्र भारत की प्रगति की धीमी गति में अतृप्ति, उससे जनित भग्नाशा और मोहभंग, बेकारी एवं अन्य कठिनाइयों से भी यह वर्ग वंचित नहीं रह सका । दूसरी ओर यह वर्ग भारतीय धार्मिक-नैतिक संस्कार से पूर्णरूप से मुक्त नहीं हो पाता है । इसके खून में इनके अंश लीन हुए हैं । उच्चवर्ग और निम्नवर्ग की अपेक्षा मध्यवर्ग अधिक चंचल है । "इसकी स्थिति त्रिशंकु जैसी है, जो न पृथ्वी पर है और न आकाश में । वंश, आय, जीविका, शिक्षा, रहन-सहन, अभिरुचि, कौटुम्बिक तथा सामाजिक मर्यादा के अनुसार यह वर्ग समाज के अन्य दोनों ही वर्गों से पृथक दिखाई देता है ।"[1] संख्या और शक्ति में बड़े होने से ही इसकी प्रकृति व गति में एकतानता की कमी होती है । यह एक ओर धर्म, नीति, कुल-मर्यादा, परम्परा आदि से छुटकारा नहीं पाता और दूसरी ओर निम्नवर्ग से जुड़कर विद्रोह करने में अपनी उन्नति है, यह समझने पर भी उच्चवर्ग में जा मिलने की प्रतीक्षा करता है । इसकेलिए आर्थिक प्रतिबन्ध ही इसके मुकाबले में सदा रहता है, जिससे वह छुटकारा पाने के असफल प्रयास हेतु झूठा अहं और

---

1. हिन्दी उपन्यासों में मध्यवर्ग - पृ: 6 - डा. मंजुलता सिंह ।

शो-मैन-शीप के पीछा करता है और जीवन को खोखला बना देता है । मंजुलता सिंह की राय है कि "एक जो, हर प्राचीन मान्यता एवं विश्वास को, चाहे वह युग के अनुरूप हो या न हो, ओढे जा रहे हैं, और दूसरे प्रकार के वे जो हर नयी मान्यता एवं नये विचार को प्रतिष्ठित करने में सतत प्रयत्नशील रहते हैं ।"[1]

समय और समाज के अनुसार वेश बदलने की तीव्र इच्छा मध्यवर्गीय शिक्षित वर्ग में अधिक है । इस भाग-दौड में कभी कभी नैतिक व धार्मिक संस्कार उसे खींच लेता है फिर भी वह भागने में मजबूर सा महसूस करता है । दूसरी ओर अपने को धर्म, नीति, परम्परा एवं कुलमर्यादा के घेरे में बन्द रखना भी चाहता है । ऐसे दो नोकों पर चलनेवाले एक पति-पत्नी-संबन्ध की कथा को भीष्म साहनी ने "कडियाँ" में प्रस्तुत किया है । महेन्द्र इसकी पहली कोटि का और प्रमिला दूसरी कोठि का पात्र है । प्रस्तुत उपन्यास समाज और समय के साथ अपने को समझौता न कर पाने में असमर्थ एक मध्यवर्गीय परिवार के संघर्ष की कथा है । स्वयं लेखक के शब्दों में "उसमें आज के जीवन के परिप्रेक्ष्य में एक पारिवारिक स्थिति दिखाने की कोशिश भर है ।"[2] ऐसी एक मनोवैज्ञानिक कथा को सामाजिक पृष्ठभूमि में रखकर आज के पारिवारिक विघटन और उसकी चौंतरफा परिस्थितियों को भी प्रस्तुत किया गया है ।

कडियाँ : कथाफलक

सुषमा महेन्द्र के दफ्तर का कैशियर है, जो अपने फ्लैट में अकेली रहती है । वह एकदम आधुनिका है और सबकुछ जानकर भी महेन्द्र से प्रेम करती है । महेन्द्र पहले क्लर्क था अब अफ्सर बन गया है, जो सुषमा के साथ आशनाई कर घर की ओर लौटता है । रास्ते में वह अपने किये हुए काम के बारे में सोचता है और पापबोध

---

1. हिन्दी उपन्यासों में मध्यवर्ग - पृ: 117 - डा. मंजुलता सिंह ।
2. साहित्यिक साक्षात्कार - पृ: 267 - डा. रणवीर रांग्रा ।

ढोकर घर पहूँचता है । अपनी पत्नी प्रमिला की निरीहता एवं बांकपन और पप्पु की याद उसे गलतियों से मुक्त करने को मजबूर करती है । प्रमिला परम्परागत संस्कारों से ग्रस्त एक निम्नमध्यवर्गीय गृहिणी है, जिसे यौन-ऊष्मा से अधिक रुचि नहीं, अपने को सज-धज करने में या पति की यौन-ऊष्मा को पहचानने की क्षमता भी नहीं । वह पति की अपेक्षा बच्चे की परवाह अधिक करती है, पति को बच्चे के बाप की दृष्टि से देखना पसन्द करती है । इसकेलिए प्रमिला का संस्कार ही दोषी बन जाता है । महेन्द्र बहुत परेशानी से घर आता है, पर प्रमिला उसे अधिक ध्यान दिये बिना घर का काम संभालती है और बाद में आश्वासन देती है । फिर भी वह आश्वस्त नहीं हो पाता । प्रमिला मंत्र-जाप व संध्या करके रोज़ के समान लेटती है मगर महेन्द्र पत्नी की प्रतीक्षा करता रहा है । प्रमिला केलिए मातृत्व ही पारिवारिक जीवन है । इसलिए कहती है "तुम्हें मालूम है जिस दिन पप्पु हुआ था उसी दिन से तुम मुझे अच्छे लगने लगे हो ।"[1] पत्नी के बर्ताव से महेन्द्र ऊब जाता है ।

नाटा महेन्द्र का दोस्त है जिसने पहले ही कहा था कि पर-स्त्री-संबन्ध अपनी बीवी से छिपाके रखने में सच्ची नैतिकता है । इसे अनसुना करके महेन्द्र सुषमावाली बात प्रमिला से कहकर अपने को पापबोध से मुक्त करना चाहता है, शरीफ बनना चाहता है । मगर वह पारिवारिक टूटन का हेतु बन गया है । प्रमिला में सन्देह दुख और ईर्ष्या उत्पन्न होते हैं और इससे छिडकर महेन्द्र सुषमा से रोज़ मिलता है और अन्त में पारस्परिक झगडा शुरू होता है । झगडे के बाद एक दिन प्रमिला पडोसिन सत्वन्त के घर जाती है और दोनों के बीच महेन्द्र-सुषमा-संबन्ध की चर्चा होती है । सत्वन्त का परिवार सीधा-सादा चलता है । वह प्रमिला को अपना निर्देश भी देती है । मगर घर में झगडा उग्र होता ही रहा था जिससे परिवार में तनाव और मौन फैल जाते हैं

---

1. कडियाँ - पृ: 30 - भीष्म साहनी ।

इस माहौल में पप्पु की तन्दुरुस्ती बिगड जाती है । मार-पीट, झगडा इत्यादि से बच्चा अपने में डर के मारे सिकुड जाता है, सदा मौन रहता है । यह समझकर महेन्द्र उसे बोर्डिंग में डालता है मगर उस ओर आगे नहीं जाता है । सत्वन्त के अलावा प्रमिला को उसकी अपनी चाची भी सलाह देती है और दूसरी ओर चाचा महेन्द्र को भी घर को बनाये रखने का सलाह देता है । यह भी नाटे के आदर्श को रटाता ही है ।

नारंग साहब प्रमिला के पिता एक पुराना वकील है, जिसे अब मुकदमे नहीं के बराबर हैं । उसे तलाक् संबन्धी महेन्द्र का पत्र मिलता है और वह उसे अपने पुत्र परशुराम को भी देता है । परशुराम आलसी एवं कायर है बडबोलनेवाला है । नारंग साहब परिवार को तोडना नहीं चाहते क्योंकि "एक बार टूट जाए तो फिर यह जुडती नहीं । इतना खींचो कि टूटे नहीं । बडी कच्ची डोर होती है शादी की । समझ-बूझ से काम लेना चाहिए । अब तुम कोई बच्चा तो नहीं हो ना । ख्वाहमख्वाह बैठे-बिठाये मुसीबत मोल ले ली ।"[1] नारंग साहब उसे जोडने और बेटी के पालन-पोषण की सोच में चलता है । सत्वन्त अपने सरदारजी से भी इसकेलिए प्रयत्न करने को कहती है । प्रमिला की चाची फिर भी कडियाँ जोडने और सांत्वना देने आती है । चाची के सलाहानुसार प्रमिला जाप में लीन हो जाती है, जिससे सद्कार्य संभव होता है । "जाप के दिनों में नीची नज़र करके चलते हैं, किसी के चेहरे की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते । जाप के दिनों में शीशा देखने की मनाही होती है ।"[2] प्रमिला को उच्च शिक्षा नहीं मिली थी जो आधुनिक जीवन केलिए अनिवार्य है । इसलिए वह पिता से शिकायत भी करती है । महेन्द्र की बहिन की ओर से भी समझौते की कोशिश की जाती है । उसके प्रयत्न के फलस्वरूप महेन्द्र और प्रमिला एक रात केलिए परस्पर मिलते और उससे दूसरा बच्चा जन्म लेता है । इस समय प्रमिला के शारीरिक आकर्षण छूट जाते थे और मानसिक शक्ति दुर्बल हो रही थी । फिर भी महेन्द्र उसे छोडकर जाता है और

---

1. कडियाँ - पृ: 102 - भीष्म साहनी ।

प्रमिला पागल होकर शहर में घूमने लगती है । पर महेन्द्र सीधे सुषमा के पास जाता है और वहाँ अपना वासना जन्य प्रेम दिखाने लगता है । धीरे-धीरे महेन्द्र को सुषमा से भी ऊब लगने लगता है ।

एक बार स्कूल वार्षिक के दिन महेन्द्र पप्पु के स्कूल पहूँचता है । यात्रा के दौरान मिसेज भगत् जैसी आधुनिक सभ्य औरत से भेंट होती है । स्कूल में उच्चवर्ग के साथ मिलकर महेन्द्र अपने को बडा महसूस करता है । वह स्वयं अपने पुराने दोस्तों को छोडकर जीता है और अपनी बीवी से भी दूर रहना चाहता है । अब वह उन लोगों से मिलना नहीं चाहता क्योंकि वह उच्चवर्ग से मिल रहा है । स्कूल में महेन्द्र मिसेज़ भगत के बच्चों के साथ मिल जुलकर रहत है, इस बीच पप्पु आकर लौट जाता है । उसे पप्पु सभ्य नहीं लगता अतः उसे देखने की इच्छा भी नहीं क्योंकि उच्चवर्ग के बीच में वह अपमान की बात बन जाएगी । अन्त में पप्पु से मिलता है तब स्कूल के अधिकारी महेन्द्र से शिकायत करती है कि आपका बच्चा अजीब ढंग का है । और "साहिब, आप तो बच्चे को ऐसे भूले, ऐसे भूले, इसकी सुध ही नहीं ली । और भी माँ-बाप है, हर महीने दौडे आते हैं ।"[1] महेन्द्र वहाँ से लौटकर नाटा के साथ अस्पताल जाता है जहाँ प्रमिला पागलखाने में रहती है । गर्भवती प्रमिला अपने वस्त्र फाड रही थी और भावी सन्तान केलिए आवश्यक सामग्रियों का पुर्जा लिख रही थी । प्रमिला को देखकर महेन्द्र के मन में एक ओर सहानुभूति उमडती है तो दूसरी ओर खीझ भी । प्रसूती के बाद प्रमिला पागलपन से मुक्त होती है परन्तु उसके पिता भी उसे शंका से देखते हैं । इससे रूष्ट होकर वह बच्चे को छोडने केलिए उद्यत होती है । फिर मातृत्व की शक्ति उसे रोकती है । अब प्रमिला में हिम्मत आ जाती है और एक दवाई की दूकान चलाकर परिवार चलाने की कोशिश करती है । पिताजी अपनी सारी पूँजी सात हज़ार रूपए देता है और पूर्ण सहयोग भी । इसप्रकार अबला प्रमिला में जीने की इच्छा एवं शक्ति पैदा होती है ।

---

1. कडियाँ - पृः 181 - भीष्म साहनी ।

सांचाबद्ध चिन्तन एवं कालांकित संस्कार की परिणति

आज का युग विज्ञान और विज्ञापन का युग है । आज जीवन इतना व्यावसायिक बन गया है कि उसमें पुराने मूल्य या विश्वासों केलिए कोई स्थान नहीं है । आजकल पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन समझौते पर निर्भर रहता है । जीवन ही एक तरह का समझौता व एडजस्टमेंट बन गया है । पति-पत्नी संबन्ध केलिए पातिवृत्य या कुलीनता की ज़रूरत से बढ़कर एडजस्टमेंट की अनिवार्यता है । "इस "शो-मैन-शीप" के ज़माने में आधुनिक पति के मन को जीतने केलिए स्त्री को पतिव्रता नहीं, अपितु "अप-टु-डेट" होना पडता है ।"[1] महेन्द्र भी पूर्णतया नैतिकदृष्टि के बन्धन से मुक्त नहीं हुआ है । इसकी शिकार होने के नाते वह प्रमिला से सुषमावाली बातें कह देता है और अपने को शरीफ महसूस करता है । यही पापबोध उस परिवार विघटन का हेतु बन जाता है । फिर भी महेन्द्र समझौता करना चाहता है । वह प्रमिला से सज-धजकर साफ-सुथर रहने को कहता है और अपनी इच्छाओं और त्रुटियों को साफ बता देता है । वह इतना तक कहता है कि "औरतों पर बहुत कुछ निर्भर करता है, प्रमिला । औरत चाहे तो मर्द को अपनी मुट्ठी में रख सकती है । और सच कहूँ, प्रमिला, मर्द मुट्ठी में रहना चाहता है ।"[2] मगर प्रमिला का संस्कार अविचल है, उसका संस्कार समझौते केलिए तैयार नहीं था । उसके "कट्टरपंथी विचार अन्त तक नहीं टूटे थे और अन्त में वही पिछडकर पीछे रह गयी थी ।"[3]

पति-पत्नी संबनध के मूल में यौन भावना सबसे मुख्य है । पति पत्नी से यौन ऊष्मा की प्रतीक्षा करता है, पारिवारिक अन्य सुख-सुविधाओं में सहभागिता चाहता है । मगर प्रमिला का संस्कार उसे स्त्रीत्व मातृत्व में दिखाता है और वह

---

1. साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास - पृ: 109 - पारूकान्त देसाई ।
2. कड़ियाँ - पृ: 36 - भीष्म साहनी ।
3. वही - पृ: 165.

पति को पुत्र के पिता के रूप में देखना भी चाहती है । वह पति-पत्नी के बीच पातिव्रत्य - संबन्ध चाहती है जो आधुनिक युग में कम संभव है । अपने संस्कारों में ग्रस्त प्रमिला पारिवारिक जीवन में हार जाती है तब उसकी चाची सलाह देती है । "सुन प्रमिला, औरत के पास उसका जिस्म ही जिस्म है, और कुछ नहीं । मर्द को रिझाने केलिए कभी औरतें बाल छोटे करवाती फिरती है, कभी लम्बे, कभी पतलून पहन लेती है, कभी तंग सलवारें । मर्दों को उनकी छातियाँ पसन्द हैं, इसीलिए औरतें उन्हें उघाडकर दिखाती फिरती है । यह तो मर्द की दुनिया है, यहाँ वही होगा जो मर्द चाहता है ।"[1] अक्कड-फक्कड प्रमिला को और भी समझाती है कि "जो औरतें समझदार होती हैं । वे आँखें मूँद लेती हैं, जो समझदार नहीं होती वे चिल्लाती हैं, रोती झींकती हैं, बावेला मचाती हैं और अपना घर बरबाद कर लेती है । मर्द का कुछ नहीं बिगाड सकती ।"[2] "प्रमिला अपने पारिवारिक संस्कारों के कारण दाम्पत्य जीवन की यौन-ऊष्मा को नहीं पहचान पाती । वह पूजा पाठ करनेवाली, पति की सेवा करनेवाली और पति से अधिक पुत्र में दिलचस्पी रखनेवाली एक धर्मपरायणा नारी है ।"[3] प्रमिला में वासना कम है, धर्म, नीति और पुराने कालगत संस्कार ने उसे ऐसा बना दिया है । घरेलु काम करना, खिलाना-पिलाना और बच्चे का पालन करना उसके अनुसार पत्नी का कर्तव्य है । "बिस्तर में आती हो, और बस, हाथ-पैर छोडकर लाश की तरह लेट जाती हो ।"[4] वह जानती है कि "मर्द क्या चाहता है । मुझे वह सब अच्छा नहीं लगता, सो जाओ । . . . स्वामीजी ने तो लिखा है कि साल-भर में एकाध बार करना चाहिए ।"[5] वह इतना भी कहती है कि

----

1. कड़ियाँ - पृ: 88 - भीष्म साहनी ।
2. हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा - पृ: 86 - डा० रामदरश मिश्र ।
3. वही - पृ: 168 - वही ।
4. कड़ियाँ - पृ: 28 - भीष्म साहनी ।
5. वही - पृ: 28 - वही ।

"तुम्हें मालुम है जिस दिन पप्पु हुआ था, उसी दिन से तुम मुझे अच्छे लगने लगे हो ।"[1] इसप्रकार की रूढ़ मनोवृत्ति के कारण महेन्द्र सुषमा के प्रति आकृष्ट होता है । प्रमिला के "पारिवारिक वातावरण ने उसे वही दिया है । वह पति और पुत्र की सेवा तथा धर्मपरायणता को ही गृहिणीत्व या नारीत्व की चरम सार्थकता मानती है और अपने पूरे सहज मन से इसे मानती है ।"[2] प्रमिला में मानवीय विकार और काम की कमी तो नहीं थी । इसलिए एक बार वह कहती है कि "मुझे भी अकेले सोना अच्छा नहीं लगता ।"[3] परन्तु उसकी परिस्थितियों ने ही ऐसी हालत बना दी है । भौतिक वातावरण, सामाजिक परिवेश और सांस्कृतिक आदर्श अपनी मान्यताओं को व्यक्ति पर थोपते जाते हैं, और उसकी प्रबल प्रेरणाओं की सन्तुष्टि नहीं होने देते । प्रमिला से यौन-ऊष्मा की कमी की वजह महेन्द्र सुषमा के साथ संबन्ध रखता है । सुषमा में उसे प्रमिला की कमी की पूर्ति का एहसास होता है, यौन-ऊष्मा मिलती है, प्रेम का सुख मिलता है ।

मध्यवर्ग आर्थिक विपन्नता के बावजूद भी मिथ्याबोध, कुल-मर्यादा इत्यादि से हाथ नहीं धोता । नारंग साहब उसका एक प्रतिनिधि पात्र है । लेखक ने नारंग साहब के ज़रिए मध्यवर्गीय कुल-मर्यादा के खोखलेपन को दिखाने का प्रयास किया है । अपनी बेटी के हाथ में पच्चास रूपए रहने पर भी घर में नारंग साहब अपने पच्चास पैसे खर्च करने का हठ करता है । "बाप के घर में तो तुम खर्च नहीं कर सकती हो ना । यह लो पकडो अठन्नी ।"[4] महेन्द्र भी अपने मध्यवर्गीय संस्कार से मुक्त तो नहीं हुआ है ।

---

1. कड़ियाँ - पृ: 30 - भीष्म साहनी ।
2. हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा - पृ: 168 - डा. रामदरश मिश्र ।
3. कड़ियाँ - पृ: 26 - भीष्म साहनी ।
4. वही - पृ: 103 - वही ।

मध्यवर्ग का मानसिक संघर्ष लेकर महेन्द्र सदा भटकता है । वह उच्चवर्ग से मिलने की आकांक्षा भरकर चलता है । प्रमोशन मिलते ही बडे क्वार्टर की खोज करता है, पर मानसिक रूप से वह उच्चवर्ग का नहीं बन पाया है । प्रमिला से अलग होकर घरेलू एवं वैवाहिक-जीवन से वह अपने को स्वच्छन्द महसूस करता है । पहले वह सुषमा से यौन-ऊष्मा एवं सुख प्राप्त करता रहा था मगर कुछ देर बाद सुषमा से भी ऊब गया । वह उसे भी "अप-टु-डेट" बनना चाहता है क्योंकि सुषमा महेन्द्र केलिए "पुरानी" बन गयी है । वह दिन-ब-दिन "आधुनिक सोसैटी मैन" बनता जा रहा है । क्लर्की जीवन से वह पूर्णतः मुक्त होने का प्रयास करता है और अब अफ्सरों के बीच मिलने को बेचैन है । "अपने क्लर्क दोस्तों की मंडली को छोड आया था जो हर शाम चाय की चुस्कियों के साथ घण्टों अपने अफ्सरों की ही बातें करते रहते थे । प्रमिला पत्नी के नाते उनके मुकाबले में दूर तक आयी थी, पर यहाँ तक वह भी साथ नहीं दे पायी थी ।"[1] अब प्रमिला जैसी बीवी उसकेलिए भार लगने लगी । "क्लर्की के ज़माने की पत्नी के रूप में प्रमिला ठीक थी, लेकिन इस पोज़ीशन के अनुरूप वह नहीं थी । वह इस सोसाइटी के अनुकूल नहीं बनी थी । ऐसे स्थानों पर प्रमिला को साथ लाना, कन्धे पर गठरी ढोने के बराबर ही होता । पार्टी में आओ और गठरी को उतारकर किसी कुर्सी या सोफे पर रख दो । वह एक ओर गुम-सुम बुत बनी बैठी रहती, न किसी से हूँ, न हाँ, बिटर-बिटर कभी एक के मुँह को तो कभी दूसरे के मुँह को ताकती रहती और पार्टी के बाद जब जाऊँ तो गठरी को उठाकर फिर से कन्धे पर रख लो ।"[2] दूसरी ओर उसे पप्पु भी एक भार बन जाता है । स्कूल-वार्षिक के दिन में स्कूल पहूँचने पर भी वह अपने बच्चे से नहीं मिलता, क्योंकि बच्चा उसे आधुनिक नहीं लगता । परन्तु स्कूल में महेन्द्र को अजीब ढंग का अनुभव हुआ । याने उसे पहली बार अपने को उच्च वर्ग का महसूस होने लगा । "उसे यह सोचकर बार-बार गुदगुदी-सी भी होती कि पप्पु को

---

1. कड़ियाँ - पृ: 165 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 164-165 - वही ।

इस पब्लिक स्कूल में दाखिल करवा देने से, सामाजिक सीढी पर वह एक और कदम ऊँचा उठा आया था । अब मैं भी बडे सरकारी अफसरों की दुनिया में पहूँच गया हूँ । . . . अपनी पोजीशन के मुताबिक ही, अपने जैसे लोगों के बीच ही रहना मुनासिब होता है । और पोजीशन है तो तुम सब कुछ हो, वरना तुम कुछ भी नहीं हो ।"[1] महेन्द्र सब पोजीशन के आधार पर देखना चाहता है अतः उसे अब प्रमिला के बारे में सोचना ही पसन्द नहीं है । इतना "आधुनिक" बनने के प्रयत्न के बावजूद वास्तव में वह आधुनिक नहीं बन पाता है । महेन्द्र पहले अपनी गलती के बहुत उतावला नज़र आता है और प्रमिला की निरीहता पर बहुत आकृष्ट भी दिखाई पडता है । नाटा के मना करने पर भी वह प्रमिला से सच बता देता है । बाद में आधुनिक बनते जाने पर भी उसका अपना संस्कार से बीच बीच में पीछे की ओर खींच लेता है । इसीलिए कार में मिसेज़ भगत की बगल में वह हिचककर बैठता है क्योंकि "पुराने संस्कार जल्दी नहीं टूटते, मन की दरारों में कीडों की तरह दुबके बैठे रहते हैं । स्त्रियों से वह अब भी वैसे ही झेंपता था जैसे सुषमा से जान-पहचान के पहले झेंपा करता था ।"[2] झूठी अहं एवं अभिमान की वजह महेन्द्र पहले स्कूल नहीं जाता था और जाने बाद भी पप्पु से नहीं मिलता है । और वहाँ स्कूल का अधिकारी पप्पु के बारे में शिकायत भी करता है । अफ्सर के बच्चा होने पर भी वह किसी से मिलता-जुलता नहीं, बातें तक करता नहीं । ऐसे अवसरों पर महेन्द्र अपने को सही अर्थ में तुच्छ मानता है । इसके अलावा वह अन्य स्त्रियों में कामुकता देखता है न कि मित्रता । इसप्रकार महेन्द्र अपनी इच्छा-आकांक्षाओं की पूर्ति करना चाहता है फिर भी वह आधुनिक नहीं बन पाता । उसमें सदा संघर्ष ही बाकी रहता है ।

प्रमिला का संस्कार रूढ एवं परम्परागत है । वह अपने परिवार के टूटते समय भी पुनर्विचिन्तन या समझौते केलिए उद्यत नहीं होती है । टूटने पर समझौते से अधिक धार्मिक उपदेश ही उसपर अधिक असर डालता है । पहले ही प्रमिला सुख और दुख में प्रार्थना करती थी । अब चाची के सलाहानुसार वह जाप-मंत्र इत्यादि में पाबन्द हो जाती है । "जाप के दिनों में नीची नज़र करके चलते हैं किसी के चेहरे की ओर

आँख उठाकर भी नहीं देखते । जाप के दिनों में शीशा देखना भी मनाही होती है ।" प्रमिला में मातृहृदय अधिक सफल है और पत्नी पक्ष फीका । पप्पु को बोर्डिंग में डालने पर वह पागल बन जाती है और दूसरे बच्चे मिलते ही सनकीपन छूट जाता है । वह साफ कहती भी है कि पप्पु के जन्म के बाद ही उसमें महेन्द्र के प्रति प्रेम उमडता है । सनकीपन में भी वह आगामी बच्चे केलिए आवश्यक साधनों की रसीद लिखती है । औ पिता और पति की अवहेलना से रूष्ट होकर वह बच्चे को कुए के पास छोड देती है मगर उसके प्रबल मातृत्व ने उसे वापस कर दिया है । "एक दिन मैंने फैसला किया कि मैं बच्चे को नहीं रखूँगी, इसे सुबह-सबेरे ही कहीं फेंक आऊँगी । . . . मैं पागलों की तरह लौट पडी और वहीं सीढी पर बैठकर दूध पिलाने लगी ।"[2] अब उसमें बच्चे एवं पिता को पालने का धैर्य है और विश्वास है । पिता से मिली पूँजी लेकर दूकान खोलकर जिन्दगी जीना चाहती है । तब भी वह नियतिवाद से पूर्णतः मुक्त नहीं होती है । लेकिन अपने पाँव पर खडे होने की शक्ति एवं दृढता उसमें जीवन के प्रति आस्था जगा देती है । शिक्षा की कमी के बारे में वह पिता से शिकायत तो करती है परन्तु आस्था को छोडती नहीं ।

अन्तर्विरोध की छानबीन करना भीष्मजी की खासियत है । तब व्यंग्य भी साथ उभरकर आता है । "कडियाँ" में प्रमिला का भाई परशुराम स्वयं एक व्यंग्य बनकर आता है । वह आलसी एवं कायर है, मगर डींग मारना उसकी पहचान है । पिता के पत्र मिलते ही वह अपनी बीवी के सम्मुख बौखला हो उठता है और अन्त में अपने आप चूक जाता है । प्रमिला के तलाक् संबन्धी मामले पर उसका काम यही स्पष्ट करता है । प्रस्तुत सन्दर्भ में वह समाज के आगे ही नहीं बल्कि अपनी बीवी के आगे भी खुद व्यंग्य बन जाता है । वह कहता है कि "उसने समझ क्या रखा है' मैं नाकों चने दबवा दूँगा ।"[3] "एक ही तो बहिन है मेरी । बहिन तो जान भी

---

1. कड़ियाँ - पृ: 118 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 206 - वही ।

माँगे तो हाज़िर है, उस पर मुसीबत आये और मैं चुप बैठा रहूँ' "[1] फिर वह सदा आजकल-आजकल की बात करता है और अन्त में चुप रहता है । एक दिन याद दिलाते ही कह उठता है कि "चला जाऊँगा भाई, कुछ सोचने समझने भी दिया कर । तू तो हाथ धो के मेरे पीछे पड गयी है ।"[2] प्रमिला की तलाक् हो गयी, पागल होकर गली-गली में घूमा-फिरा और प्रसूती हो गयी । फिर भी भाई हिला नहीं और "इस संबन्ध में सोचना तक उसे बोझिल लगने लगा । और पट्ठे ने खत का जवाब तक नहीं दिया ।"[3] वह बडे-बडे डींग मारता है मगर करता कुछ नहीं । खुद समाज के आगे व्यंग्य बन जाता है ।

"कडियाँ" में लेखक पति-पत्नी संबन्ध के टूटने की एक मनोवैज्ञानिक स्थिति को लेकर उसके सामाजिक परिप्रेक्ष्य को ढूँढता है । प्रमिला सदा पीछा पड जाती है, उसमें यौन ऊष्मा की कमी है और अपने को नाकामयाब महसूस करती है । लेखक इसके हेतु निकले सामाजिक, पारिवारिक, धार्मिक नैतिक और परम्परागत संस्कारों को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है । मध्यवर्ग सदा उच्चवर्ग से मिलकर बडा महसूस करने का अथक प्रयास करता है । मगर अन्त तक वह वही मध्यवर्गीय तनाव, संघर्ष और उलझनों के चक्कर में पडता ही रहता है । उपन्यासकार उसकी थोथी एवं भोंडी तथा दिशाहीन जिन्दगी को दिखाकर मध्यवर्गीय जीवन के खोखलेपन और दारुणिक स्थिति को दिखाता है । कहीं कुल-मर्यादा की पूर्ति केलिए तडपते मानव को भी प्रस्तुत करता है ।

---

1. कडियाँ - पृ: 107 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 108 - वही ।
3. वही ।

निम्नवर्गीय जीवन का चित्रण-"बसन्ती"

स्वतंत्रता पूर्व सारे भारतवासियों की आशायें स्वाधीनता से बन्धी थीं स्वाधीनता के बाद ये आशायें एक-एक होकर निराशा में बदलने लगीं । भारत में गरीब बेरोज़गारी, सांप्रदायिकता, बाढ़, अकाल इत्यादि बातें एकदम नवीन तो नहीं, परन्तु जनता स्वाधीनता के साथ इसके घटने का सपना देख रही थी । परिणाम उल्टा ही सिद्ध हुआ है । स्वाधीनता के बरसों बाद भी ये समस्यायें दिन-व-दिन बढती गयी हैं । इसकेलिए हमारे राजनीतिज्ञ, बडे-बडे अफ्सर, धार्मिक नेता, पूँजीपति लोग एवं विदेशी हथकंडा उत्तरदायी हैं । स्वतंत्र भारत में दिल्ली राजनीतिज्ञों व शासकों, पूँजीपतियों एवं विदेशी यात्रियों का अड्डा बन गया । इसके बावजूद मध्यवर्ग के शहरी आकर्षण ने अन्य नगरों के साथ दिल्ली को भी भीड से भरा दिया । वह महानगर अनेक दफ्तरों, उद्योगों का केन्द्र बन गया । इसप्रकार दिल्ली विकसित एवं विस्तृत होने लगी । दूसरी ओर देश के अनेक प्रान्तों में शोषण और प्राकृतिक अडचनों की वजह जीवन दुःसह होने लगा । वैज्ञानिक सुविधाओं के अभाव एवं अज्ञान के साथ शोषण, अकाल, बाढ़, सूखा इत्यादि बढने लगे, साथ ही किसान, मज़दूर एवं कारीगर बेकार होने लगे । वे भी अन्य लोगों के साथ रोज़गारी की तलाश करते हैं । गाँवों में नौकरी की कमी एवं जीवनयापन केलिए कोई चारा न होने के कारण लोग शहरों की ओर रवाना होने लगे । इसप्रकार के प्रवासी लोग सपरिवार वर्षों तक गलियों में बस्तियाँ एवं कोठरियाँ बनाके ठहरते हैं । आजकल इनके बीच भी, याने मज़दूर, नाई, धोबी और इस्त्री के कामों, में, संघर्ष बढने लगा । इसी समय दूसरी ओर नगर विकास के नाम पर निगम की ओर से बस्तियों को उजाडने पर निम्नवर्ग का जीवन संकट में पडता है । स्वतंत्र भारत में हर एक व्यक्ति को हर कहीं ठहरने और रोज़गार चुनने की आज़ादी दी गयी है । फिर भी इस वर्ग की हालत में कोई सुधार नहीं हुआ बल्कि उसकी संख्या दिन-व-दिन बढती जा रही है । इस वर्ग की ओर समाज-सुधारक, राजनीतिक नेता या मज़दूर संघ के आदमी देखते भी नहीं हैं । उनकी रक्षा केलिए कोई आसरा नहीं है ।

स्वातंत्र्योत्तर भारत के इस सामयिक यथार्थ को अंकित करनेवाली एकाध रचनायें प्रकाश में आयी हैं । दलित साहित्य के नाम पर जो रचनायें निकलती हैं उसमें भी इसवर्ग के प्रति कोई सहानुभूति नहीं प्रकट हुई है । भीष्म साहनी ने "इस दौर में विकसित राष्ट्रीय सामाजिक यथार्थ को बडी खूबी से अपनी रचनाओं में चित्रित किया है ।"[1] उनका उपन्यास "बसन्ती" में स्वतंत्र भारत की राजधानी दिल्ली में नज़र आनेवाले इस नये यथार्थ की सही अभिव्यक्ति हुई है । "बसन्ती" राजस्थान तथा देश के अन्य प्रान्तों से रोज़गारी की तलाश में दिल्ली पहूँचे लोगों की एक बस्ती की कथा है । ये लोग चतुर्मुखी शोषण के शिकार हैं । ये लोग पेट भरने केलिए किसी भी दरवाज़ा खटखटाने को तैयार हैं, फिर भी विद्रोह की भावना उमडती नहीं है । अशिक्षा एवं वैज्ञानिक चिन्तन-दृष्टि के अभाव में ये थके-हारे लोग भाग्य को कोसकर जीवन बिताते हैं । ऐसे लोगों के प्रति लेखक संयमित शैली में, बसन्ती नामक लडकी के ज़रिए अपनी हमदर्दी व्यक्त करते हैं ।

कथा-फलक

रमेश नगर के बगल की बस्ती कुछ साल पुराना है जहाँ राजस्थान तथा भारत के अन्य प्रान्तों से रोज़गारी की तलाश में आये लोग बसते हैं । सबेरे ही ये लोग काम केलिए जाते हैं । इनकी औरतें घर में बर्तन माँजने का काम करती हैं और पुरुष राज-मज़ूर, धोबी और नाई का काम भी । बस्ती में बस्ती की अस्तित्व की चर्चायें चल रही हैं । अपनी बेटी बसन्ती की शादी तय करके चौधरी लौट आते ही तो शोर-गुल की आवाज़ सुनता है । "पलक मारते सारा दृश्य बदल गया । नीचे खडे लोगों की गाँठें खुल गयीं और लोग छितरा गये, हर तरफ भागते हुए नज़र आने लगे ।"[2] बस्तीवालों का विश्वास उल्टा था । उनका विश्वास है कि "नहीं, काम पर क्यों नहीं जाए । यह काम इतनी जल्दी थोडे ही निबटते हैं । हमें यहाँ से

---

1. आलोचना - अप्रैल-जून, 1983 - पृ: 53 - सं. नामवर सिंह ।

निकालेंगे भी तो महीना - दो - महीना तो लग ही जाएगा । अभी कागज़ ऊपर जायेंगे ।"[1] तबादले का काम शुरू किया गया । "कोठरियों के बाहर गठरियों, कनस्तरों, ट्रंकियों के ढेर लगने लगे थे । कुछ लोग सिरों पर गठ्ठर और कनस्तर उठाये, हडबडी में गिरते पडते ढलान उतरने लगे ।"[2] लोग अपने सामान और बच्चों को लेकर लारियों की ओर भागने लगे । मगर लारियों पर सभी सामान ही नहीं बल्कि पति और पत्नी दोनों को भी चढने नहीं देता । लोग चढे या नहीं, देखे बिना लारी चलाते हैं और परिवार तितर-बितर होने लगे । कुछ लारी के पीछे पागल जैसा भागता भी है । अधिकारियों ने लारी पर चढाकर इन्हें पाँच मील दूर के एक बीहड मैदान में उतार दिया । इसी वक्त प्रकृति की ओर से भारी वर्षा के कारण इन्सान और भी परेशान होने लगा । शोर-गुल, बारिश, कीचड, पुलिस का नाच-सबने मिलकर मानव जीवन को चकनाचूर कर दिया है । इसप्रकार उजडे लोग नौकरी केलिए फिर भी शहर की ओर आते हैं और काम में स्पर्धा और बढ जाती है ।

सबके चले जाने के बाद बसन्ती श्यामाबीवी के घर पहूँचती है । भाग्यवादी श्यामा मानसिक बेचैनी से पीडित डाक्टर, वैद्य और पाण्डे के पास जाती है और अन्त में वह एक साधु के कथनानुसार किसी एक मनुष्य की सेवा करने की प्रतीक्षा कर रही थी । भोली भाली बसन्ती घरों में बर्तन मांजने का काम करती है । वह किसी से डरती नहीं, श्यामा बीवी से सहानुभूति मिलने के कारण अपनी रामकथा सुनाती है । घर में माँ-बाप के अलावा तीन बेटे और तीन बेटियाँ है । बसन्ती के बाप बेटियों को बेचता है, जिसने पहले ही दो बेटियों को बेचा था । बसन्ती की बिक्री भी पक्की हो गयी, मगर बस्ती तोड जाने की वजह अब बच गयी है । वह श्यामा के घर से दीनू के साथ भाग जाती है और शहर की गलियों में घूमकर छात्रावास के कमरे में दीनू के साथ ठहरती है और अन्त में दोनों को वहाँ से निकाला जाता है ।

---

1. बसन्ती - पृ: 10 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 18 - वही ।

छात्रवास में बसन्ती अपने प्रेमी के साथ शादी भी करती है । मगर दूसरी ओर "जब से बसन्ती कमरे में आयी थी, दीनू की आँखों के सामने कामुकता की धुंध - सी छायी रही थी । इस धुंध में न तो वह अपनी स्थिति को ठीक तरह से देख पा रहा था, न बसन्ती की स्थिति को , न ही देख पाने की इच्छा भी थी । एक छोकरी अपने आप, उसकी कोठरी में चली आयी, और जब चाहो वह मौजूद है, न भाग सकती है, न भागना चाहती है, उसे और क्या चाहिए ।"[1] दीनू अपनी पत्नी रुक्मी के बारे में कहता है, फिर भी बसन्ती में कोई खास परिवर्तन नहीं आता है । और दीनू भी बसन्ती को बेच देता है । बरड्डू के हाथ से बचकर भी बसन्ती श्यामा के घर पहूँचती है । तब तक उससे लडकपन झर जाता है और चहकनेवाली आदत भी । "एक क्षीण खोयी-खोयी सी मुस्कान बसन्ती के होठों पर काँप रही थी । बसन्ती को यहाँ से गए बहुत दिन नहीं बीते थे, यही तीनेक महीने ही बीते होंगे, पर बसन्ती पहलेवाली बसन्ती नहीं रह गयी थी ।"[2] वह श्यामा से सारी बातें बताती हैं फिर भी श्यामा उसे वहाँ ठहरने नहीं देती । सूरी साहब के घर में ठहराने का प्रबन्ध कर देती है जहाँ से वह पिता द्वारा पकडी जाती है । तब भी बसन्ती को पिता 200 रुप अधिक वसूलकर बूढे लंगडे बुलाकी को बेच देता है । बुलाकी के साथ बसन्ती शारीरिक रूप में सुखी रही, पर मानसिक रूप में वह सदा दीनू का पीछा करती ही रही ।

इस बीच "माँ के बार-बार इसरार करने पर दीनू अपनी पत्नी को अनुष्ठान कराने केलिए ज्वालादेवी के मन्दिर में ले जा रहा था ।"[3] पहले भी मंत्र-तंत्र का प्रयोग किया गया था, फिर भी रुक्मी को गर्भपात होता था । मन्दिर के कोने-कोने में मांत्रिक, तांत्रिक, पूजारी, पाण्डे हैं । मेमने और मुर्गी बलि केलिएलाए गए हैं

----

1. बसन्ती - पृ: 72 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 75 - वही ।
3. वही - पृ: 103 - वही ।

देवी प्रीति केलिए रुपए ही मुख्य हैं । जिसके पैसे नहीं उसके मंत्र की पूर्ति नहीं होती । यहाँ रुक्मी को बहुत यातनायें सहनी पड़ती हैं और यह सिलसिला बेसुध होने तक जारी रहा था । "उसके, झूलते सिर, बिखरे बालों और खुले मुँह के कारण रुक्मी पहचानी नहीं जा रही थी ।"[1] फिर देवी को प्रसन्न करने केलिए मिष्टान्न देने की प्रक्रिया चलती है ।

कुछ महीने के बाद बसन्ती माँ बन जाती है और वह पप्पू को लेकर बुलाकी के साथ घूमने लगी । कुछ दिन के अन्तराल के कारण उसे हर चीज़ नयी लगती हैं । रास्ते में दीनू को देखते ही वह उसके साथ भाग जाती है और बूढा बुलाकी निःसहाय होकर वहाँ चिल्लाता रहता है । दीनू के कमरे में तीनों एक साथ रहने लगे । पर वहाँ "विवाहिता पत्नी का दर्जा भी रुक्मी को ही मिला, बसन्ती को नहीं ।"[2] इससे बसन्ती को अटपटा नहीं लगा क्योंकि "बेशक रुक्मी उसकी घरवाली बनती फिरे और उसके साथ सोये, बेटा तो मेरा ही है ।"[3] बसन्ती और रुक्मी घुलमिलके रहने लगीं । बसन्ती रुक्मी को शहरी जीवन की खूबियों के बारे में बताती रहती है और उसे आवश्यक हिदायतें भी देती है । बसन्ती को अब एक नया जीवन का एहसास है, पुराने सब स्मरण में भी नहीं । लेकिन यह अनुभव अधिक दिन तक नहीं रहा । दीनू और रुक्मी दोनों अकर्मण्य एवं आलसी हैं, बसन्ती की कमाई पर जीते हैं । फिर भी बसन्ती के मन में दीनू के प्रति गहरी आत्मीयता तो है । वह उसके यहाँ सुरक्षित महसूस करती है । बीच-बीच में छोटी-छोटी अड़चनें होती हैं फिर भी घर सुगमता के साथ चल रहा है । बसन्ती पप्पु को बहुत प्यार करती है, उसे सज-धजकर पालती है, जिसे देखकर श्यामा बीवी चकित होती है । वह चोरी का इलजाम लगाती है और बसन्ती को आगे घर आने में मना कर देती है । दूसरी ओर रुक्मी

---

1. बसन्ती - पृ: 107 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 122 - वही ।
3. वही ।

बसन्ती की देख-भाल में माँ बन जाती है और तब से घर का चैन बेचैन हो जाता है । "स्थिति अब यह बन गयी थी कि इस छोटी-सी कोठरी में जैसे दो साँप लोट रहे हों ।"[1] इससे बसन्ती की मानसिक स्थिति बिगड जाती है । उसे रुक्मी का बच्चा सदा रोगग्रस्त दिखाई पडता है और रुक्मी का दूध काला भी । अन्त में बच्चा बीमार पडता है तब रुक्मी उसका कारण बसन्ती समझती है और भला-बुरा कहती है । फिर भी बसन्ती बच्चे को लेकर डाक्टर के पास जाती है और बचा देती है । इस समय बसन्ती को काम कम होने लगा और आय भी । अतः जीवन बिताना कठिन हो गया और वह काम छोडकर तन्दूर लगाने लगती है । मगर कुछ दिन बाद दीनू रुक्मी को लेकर गाँव चला जाता है और तन्दूर बन्द हो जाता है । वहाँ से बसन्ती माँ-बाप की ओर मुडी तो वहाँ बस्तियाँ पुनः उजडने लगे और माँ-बाप लारी के पीछे भागते रहते हैं । बसन्ती, उनका पीछा करती है ।

जिजीविषा का टकराहट

"बसन्ती" भीष्मजी का तीसरा उपन्यास है । प्रकाशकीय वक्तव्य के अनुसार "भीष्मजी ने इस उपन्यास में एक ऐसी लडकी का चित्रण किया है, जो मेहनत मज़दूरी करने केलिए महानगरों में आए ग्रामीण परिवार की कठिनाइयों के साथ-साथ बडी होती है, और निरन्तर बडी होती जाती है ।"[2] दरअसल "बसन्ती" जितनी बसन्ती की कथा है उतनी उसके परिवेश की कथा है । क्योंकि इसमें उपन्यासकार एक ओर उस बस्ती की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की छानबीन करता है और बस्तीवालों के जीवन-यापन, संस्कार तथा उससे संबन्धित मध्यवर्ग एवं शासन सहित परिवेश का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर प्रस्तुत परिवेश की उपज बसन्ती के माध्यम से इन सारी परिस्थितियों एवं परम्परागत विचारों के प्रति विद्रोह करता है । बस्ती

---

1. बसन्ती - पृ: 140 - भीष्म साहनी ।
2. वही - (फ्लैप से) - वही ।

में राजस्थानियों के अलावा अन्य प्रान्त के लोग होने पर भी मूलतः वह राजस्थानी ढंग का ही है, जिससे स्वतंत्र भारत के मानव के नए यथार्थ का चित्र मिलता है । "बस्ती क्या थी, दिल्ली की ही एक सडक के किनारे छोटा-सा राजस्थान बना हुआ था । आज़ादी के बाद, दिल्ली शहर फैलने लगा था । नयी-नयी बस्तियों की उसारी होने लगी थी और बस्तियों को बनाने केलिए जगह-जगह से राज-मजदूर खिंचे आने लगे थे । दिल्ली से दूर, जहाँ कहीं सूखा पडता, या बाढ आती, वहीं से लोग उठ-उठकर दिल्ली की ओर भागने लगते । कहीं परिवार-के-परिवार चले आये, कहीं अकेले मर्द, कहीं छोटे उम्र के लौंडे-लडके भी । कहीं राजस्थान से तो कहीं हरयाणा और पंजाब के गाँवों से, और कहीं तो दूर दक्षिण से भी , पर राज-मज़दूरी के काम केलिए सबसे ज़्यादा लोग राजस्थान से ही आये । रोजगार की तलाश में, राज-मज़दूर ही नहीं, धोबी, नाई, चाय-पानवाले, और भी तरह-तरह के धन्धे करनेवाले लोग दिल्ली पहूँचने लगे । कहीं नये मकानों की नीवें खोदी जाने लगतीं तो आस-पास के राज-मजदूरों की छोटी-छोटी अनगिनत झोंपडियाँ खडी हो जातीं, लोहा-सिमेन्ट, ईंट-पत्थर के ढेरों के बीच इन झोंपडियों में मोटी-मोटी रोटियाँ सेंकी जाने लगतीं, बच्चे रेत-मिट्टी के ढेरों पर खेलने-सोने लगते, और मज़दूरी के काम से निबटकर स्त्रियों की टोलियाँ गाती हुई अपनी-अपनी झोंपडियों में लौटने लगतीं । गोरे-मिट्टी की अधकचरी झोंपडियों में भी स्निग्धता आ जाती । पर ज्यों ही पक्के मकानों का मुहल्ला बनकर तैयार हो जाता तो झोंपडे वहाँ से उठ जाते, राज-मज़दूर हट जाते, जहाँ उनकी झोंपडियाँ थीं वहाँ सडक की पटरियाँ बिछ जातीं, आँगनों की दीवारें खिंच जातीं, और पता भी नहीं चल पाता कि कभी वहाँ झोंपडियों की पाँतें भी रही होंगी ।"[1] पर रमेश नगर के बगल की बस्ती कुछ साल पुरानी है जहाँ के लोग राज-मजदूर का काम करते हैं और औरतें रमेश नगर के घर के काम करती हैं । पेट-भरने केलिए इकट्ठे ये वर्ग दिल्ली की गलियों में अपनी-अपनी

---

1. बसन्ती - पृः 10-11 - भीष्म साहनी ।

कोठरियाँ बनवाने लगे । ये कोठरियाँ शहरीय सभ्यता व संस्कार से एकदम दूर रही थीं । ऐसी बस्ती शहर के नये-नये नगरों को बदरंग बन गयी है साथ ही नगर विकास में बाधा भी । फलतः बस्ती पुलिस द्वारा उजाड जाती है । आज़ाद भारत में हरेक भारतीय को देश के किसी भी भाग में बसने एवं रोज़गार चुनने का अधिकार है । "बसने और रोज़गार चुनने की भौतिक सुविधा के अभाव में यह प्रावधान कितना निरर्थक है और उसके फलस्वरूप मनुष्य का जीवन कितना खोखला हो जाता है, यह "बसन्ती" में अच्छी तरह चित्रित किया गया है ।"[1] परन्तु राजधानी दिल्ली को बदरंग करना शासकों केलिए और नगर को बदरंग करना "नगर" वासी मध्यवर्ग केलिए भी हितकर नहीं है । इनकी इच्छापूर्ति होती है और शहर से पाँच मील दूर के एक बीहड मैदान में इन्हें पुनःर्निवास केलिए ज़मीन दी जाती है । बस्तीवाले दिन में काम करके शाम को झोंपडी लौटते हैं । तब मैदान ही डरावना लगता है । "रात के घर लौटने पर तो उसे {वहाँ के पेड को} देखकर ही डर लगता था, और अपशगुन का भास होता था । दिन को धरती तपती थी, धूल के बवंडर उडते थे और रात को जैसे भूत नाचते थे ।"[2] बस्ती तोडने का दृश्य एवं नगर के अधिकारियों का व्यवहार नृशंस एवं अमानवीय है । बस्ती के प्रतिनिधि लोग बस्ती की रक्षा के प्रयास में थे । लेकिन अफसरों का कहना है "सरकार ने जो फैसला करना था, कर दिया । अब बहस करने की कोई ज़रूरत नहीं ।"[3] इससे आहत होकर प्रतिनिधियों में से हीरा कहता है कि "लो सुनो, यह भी कोई बोलने का ढंग है' अरे बोलो तो मीठा, काम तो होगा, नहीं होगा, यह तो भगवान के हाथ है, पर बोलो तो मीठा । हमसे कडवा बोलकर तुम्हें क्या मिलेगा । तुम्हारे भाग अच्छे थे, तुम अफसर बन गए, हमारे भाग खोटे थे, हम मिस्त्री-मजूर बने, पर भाई, बोलो तो मीठा । हमारा पानी तो नहीं उतारो, हम तुम्हारे द्वार पर आये हैं, हमारी पगडी तो नहीं उछालो । हमारे बाप-दादा भी ज़मीन जायदाद वाले थे, अभी भी राजस्थान में हमारी अपनी खेती है । अब यहाँ सूखा पडे तो हम

---

1. आलोचना - अप्रैल-जून, 1983 - पृ : 59 - सं. नामवर सिंह ।
2. बसन्ती - पृ: 59 - भीष्म साहनी ।
3. वही - पृ: 8 - वही ।

क्या करें' बाल बच्चों का पेट पालने केलिए दिल्ली चले आए । पर हमारे साथ बोलो तो मीठा ।"[1] ये लोग कड़वा बोलना सुनना नहीं चाहते, अपनी परम्परा और अपनी हालत पर विश्वास है और उन्हें भविष्य के प्रति आस्था है । अब यहाँ आने को बाध्य हुए हैं इसलिए यहाँ इकट्ठे हुए हैं । भाग्य को कोसकर अच्छे दिन की प्रतीक्षा करते हैं और अपनी खेती से प्रेम करते हैं । मगर सबकी रक्षा करनेवाली सरकार वास्तव में भक्षण करती है । पुलिस ने "छेनी उठाकर सबसे पहले चूल्हे को तोड़ा और फिर कोठरी की दीवार पर छेनी मारने लगा ।"[2] इससे उसकी अमानवीयता द्रष्टव्य है । बस्ती तोड़कर इस निम्नवर्ग को लारी पर मैदान, पहूँचाते समय भी उनकी अमानवीयता ही द्रष्टव्य है । "इस शोर-गुल में कोई चढ पाता, कोई छूट जाता ।"[3] हिम्मतू लारी पर चढ गया, "पर जब तक हिम्मतू की पत्नी के चढ़ने की बारी आयी तो लारी की रफ्तार तेज हो चुकी थी । हिम्मतू की पत्नी अभी लारी के सहारे भाग रही थी, और लारी पर खड़े लोग चिल्ला रहे थे, रोको, रोको, गाड़ी रोको, औरत गिर पड़ेगी ।"[4]

ये लोग किस उद्देश्य से शहर पहूँचे हैं उसकेलिए कोई चारा सरकार द्वारा दी गयी ज़मीन के पास नहीं है । नए आवास स्थान मिलने के "आश्वासन से सन्तुष्ट होकर बहुत - से लोग अपने बाल-बच्चों को लेकर खुले मैदान में ही पड़े रहने लगे और आसपास की बस्तियों में अपने-अपनेलिए काम की तलाश करने लगे । पर काम न मिलने पर कुछ ने फिर से रमेश नगर की राह ली ।"[5]

---

1. बसन्ती - पृ: 9 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 21 - वही ।
3. वही - पृ: 24 - वही ।
4. वही ।
5. वही - पृ: 37 - वही ।

दिल्ली की सडकें, बडी-बडी इमारतें, विदेशी आकर्षण, पूँजीपति एवं मध्यवर्ग और राजनीतिक एवं शासक-इन सबके बीच बस्तीवालों का जीवन खुद अपना ही है। वह सही रूप में राजधानी दिल्ली में ही भारतीय जीवन के अन्तर्विरोध का प्रतिनिधि चित्र प्रस्तुत करता है। उनका जीवन सदा असुरक्षित एवं अशान्त है, भूख-प्यास से आतंकित है और शोषण से घिरा हुआ है। इसके बावजूद वे सालों से शहरों में रहते आ रहे हैं फिर भी उनके जीवन ढंग में कोई बदलाव नहीं आया है। "कभी शाम-सबेरे, किसी वक्त इस नगरी में जाओ तो लगता जैसे राजस्थान के ही किसी कस्बे में पहूँच गए हो।"[1] लेकिन वहाँ पली आ रही युवा-पीढियाँ शहर की खाती रहती हैं, अपनी नयी संस्कृति के साथ, जिसका स्वरूप बसन्ती के चरित्र से मिलता है, बढ रही हैं। पुरानी पीढी ने अपने परम्परागत आचार-विचारों को नहीं छोड दिया है। उनकी शादियाँ, इस बस्ती में हुआ करती है, यहीं पंचायतें इकट्ठा करते हैं, साथ ही बस्ती में धार्मिक भेदभाव का पालन भी चलता है। पंचायत सामन्ती सभ्यता का अंग है। बस्ती की समस्याओं को हल करने केलिए पंचायतें इकट्ठा करते हैं परन्तु अब वह पुरानी पीढी के साथ दुर्बल होता जा रहा है। इसकी अकर्मण्यता एवं आलस्य से लोग रूष्ट होने लगे। इसकी ओर संकेत करते हुए बोधराज कहता है कि "तुम बैठो, तुम सुनो, हमें नहीं सुनना है। . . . क्या कर लिया पंचायत ने' उधर बस्ती टूटी, क्या किया पंचायत ने। तब भी छः छः चक्कर लगाता था मूलराज। और अब क्या करेगी।"[2] पंचायत अब हास-परिहास का, लूट-खसोट का स्थान बन गया है। बूढा बुलाकी अपने मामले को पेश करते ही उसकी खिल्ली उठाता है और पैसा वसूलकर पंचायतवाले लड्डू खाते हैं। लेकिन किसी के मन में बुलाकी के प्रति असली ममता नहीं थी।

---

1. बसन्ती - पृ: 11 - भीष्म साहनी।
2. वही - पृ: 61 - वही।

"बसन्ती" निम्नवर्ग की कथा होने पर भी मध्यवर्ग से अछूता नहीं। उसमें एक-दो मध्यवर्गीय पात्र मात्र आते हैं, जिनके ज़रिए भीष्मजी मध्यवर्गीय ढोंगी आत्मीयता, ममता, सहानुभूति, नैतिक बोध को खोल देते हैं साथ ही उसके भाग्यवाद पर भी प्रकाश डालते हैं। श्यामा बीवी मध्यवर्गीय औरत है जिसके घर की संपत्ति प्रतिदिन बढती रही है। पूँजी के बढने के अनुसार उसकी मानसिक एवं शारीरिक बेचैनी भी बढ जाती है। बेचैनी के निदान की खोज करके अन्त में वह एक साधु के वचनों का पालन करती है। साधु ने कहा कि "सेवा में तेरी मुक्ति है बीवी। किसी एक मनुख की सेवा कर। तेरा कष्ट दूर हो जाएगा।"[1] ऐसे वक्त उसे बसन्ती मिलती है और बसन्ती को नौकरानी के रूप में रखकर बहुत आत्मीयता एवं ममता दिखाती है। इससे किसी की सेवा और घर का काम दोनों चलते हैं। लेकिन दुबारा बसन्ती श्यामा के घर आती तो वह स्वीकारती ही नहीं, बल्कि उसपर शंका से देखती है। अब श्यामा में मध्यवर्गीय नैतिकबोध और शंका बढ गयी है। पर "अपने गुरु महाराज याद हो आए। उसे सहसा इस बात का वहम होने लगा कि बसन्ती की खाट आंगन में से उठ गयी तो गुरु महाराज को दिया वचन भंग हो सकता है, उसपर कोई मुसीबत आ सकती है, कोई अनिष्ट हो सकता है।"[2] वह बसन्ती को अपनी सहेली के घर में ठहराती है। यहाँ श्यामा में मध्यवर्गीय सन्देह एवं मान्यता के साथ भाग्यवाद एवं विश्वासों का संघर्ष है। उसमें जो आत्मीयता, ममताबोध दिखाई पडता था वह सब दिखावटी मात्र था। बसन्ती ने भी उसे समझ लिया। "पर आज पहली बार उसे लगा जैसे श्यामाबीवी को इस बात से अधिक सन्तोष मिल रहा है कि दीनू अच्छा आदमी नहीं निकला और उसका कहा सच निकला।"[3] वास्तव में श्यामा का सन्तोष बसन्ती के सुख में नहीं, अपना कथन ठीक होने में है। वह सदा दीनू को

---

1. बसन्ती - पृ: 29 - भीष्म साहनी।
2. वही - पृ : 89 - वही।
3. वही - पृ: 76 - वही।

भला-बुरा कहकर बसन्ती को सताती रही है और अन्त में बसन्ती पर इलजाम लगा देती है कि "आगे से आओ तो अपना थैला नीचे आंगन में रखकर आया कर बसन्ती ।"[1] दूसरी ओर सूरी दम्पति है जिनके यहाँ बसन्ती ठहरायी गयी । उनका व्यवहार मध्यवर्ग के दूहरे मुख को दिखाता है । सूरी साहब मध्यवर्गीय पाखण्ड खोखलेपन और मौकापरस्ती का ज्वलन्त उदाहरण है । वह अपनी पत्नी से कहता है कि "आवारा लडकी है, गुण्डे उसके पीछे घूमते हैं, जिसके साथ भागी थी वह भी गुण्डा था, जिसके साथ इसे वह बेच गया, वह भी गुण्डा है और इसकी टोह में घूम रहा है ।"[2] ये पति-पत्नी बसन्ती को निकालने की सोच में हैं । जब चौधरी आता है, तब सूरी साहब बहुत मानवीय एवं नैतिक बन जाता है । "इसकी हाल देखते हो' क्या इस हालत में हम इसे घर से निकाल देते' हम इन्सान हैं या कसाई'"[3] सूरी साहब अपने बढ-बोलेपन की जोश में झूलता रहता है । "वह हमारी क्या लगती है' हमें क्या फर्क पडता है कि वह कहाँ रहती है, कहाँ सोती है, कहाँ भटकती फिरती है' मगर नहीं । हमें इस बात से गैरत आती है, पर तुम्हें नहीं आती ।"[4] यही मध्यवर्गीय मौकापरस्ती एवं अमानवीयता का ज्वलन्त उदाहरण है ।

भीष्मजी व्यंग्य को कभी भी छोडते नहीं । व्यंग्य पर सतही नहीं अधिकांश कठोर एवं स्थायी व्यंग्य उनकी खूबी है । "बसन्ती" में अनेक स्तर के व्यंग्य मिलता है । कहीं अधिक गहरा और कहीं हास्य का जैसा भी है । शहरी मध्यवर्गीय जीवन पर उनका व्यंग्य तीखा ही है । सूरी साहब से चौधरी कहता है कि "लडकी को शहर की हवा लगी है साहिब ।"[5] इसका लक्ष्य शहरी मध्यवर्ग के जीवन को चीर-फाड करना है । लंगडा बुलाकी का चरित्र एक पूर्ण व्यंग्य है । साठ साल का लंगडा

---

1. बसन्ती - पृ: 137 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 92 - वही ।
3. वही - पृ: 92 - वही ।
4. वही ।
5. वही ।

तीन शादी की पराजय के बाद चौथी शादी केलिए रिश्वत देता है । चौदह वर्षीय बसन्ती को व्याहने केलिए पहले वह 1200 रुपए देता है और हमेशा दुल्हा बनकर घूमता है । बसन्ती अपने प्रेमी से गर्भवती हो जाती है तब बुलाकी पेट के बच्चे केलिए दो सौ रुपए और देता है और अपना बच्चा मानता है । बुलाकी ने अपनी भावी पत्नी एवं बच्चे केलिए कपडे-खिलौने सब खरीदकर रखे हैं, जो खुद पिता बनने में असमर्थ है और कपडे-खिलौने लेकर देखता ही रहता है । फिर वह बसन्ती की खोज में दौरा कर पंचायत से शिकायत करता है, जहाँ वह हास्य पात्र बन जाता है और उन्हें खिलात भी है । बुलाकी का चाल-चलन, व्यवहार सब हास्यास्पद है । बसन्ती के साथ वह "टेढा चलता हुआ, सिर पर पग्गड़, लाठी पटपटाता होली के स्वांग की तरह चला जा रहा था ।"[1]

बसन्ती उपन्यास का मुख्य पात्र है । संपूर्ण उपन्यास उसके जीवन से जीवनांश स्वीकार करता है । उसका जीवन एवं चरित्र तत्कालीन सामाजिक एवं पारिवारिक वातावरण से बंधा हुआ है । इसके चरित्र में ग्रामीण संस्कार का असर कम ही दिखाई पडता है । उसमें एक ओर गरीबी से उत्पन्न विवशता और माँ-बाप की प्रताडना है तो दूसरी ओर शहरी वातावरण एवं उसकी स्वतंत्रता, रेडियो, टेलिविज़न सिनेमा और भीड-इन सबकी देन है । "ऐसे छोकरे-छोकरियाँ जिन्होंने राजस्थान की धरती को कभी देखा नहीं था, बस्ती और बस्ती के बाहर रमेश नगर की सडकों पर घूमती दौडती-फिरतीं । लडकियाँ बिन्दी - लिपस्टिक लगातीं, फोटो खिंचवाती और शहर में टेलिविज़न आ जाने पर शाम को किसी-न-किसी घर की खिडकी में झांक-झांककर टेलिविज़न देखतीं । उनकी बस्ती में रेडियो और ट्रांसिस्टरों पर फिल्मी गाने गूँजते । नयी पौध को दिल्ली की हवा लगने लगी ।"[2] इनके सिवा

---

1. बसन्ती - पृ: 115 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 12 - वही ।

उसकी जिजीविषा एवं शासनतंत्र की क्रूरता भी उसके व्यक्तित्व निर्माण में अपना योगदान देती है । बचपन से ही माँ-बाप की ताडनायें, निर्मम व्यवहार तथा साठ साल के लंगडे के हाथ बेच देने की वृत्ति उसे निडर एवं निश्चिन्त बना देती है । ऐसे माँ-बाप के साथ यदि उसका जीवन गाँव में बिताया तो वह दब्बू बन गयी होगी । लेकिन शहरी वातावरण में ये ताडनायें उल्टा परिणाम निकाल देती हैं । तब भी उसकी जीने की इच्छा अदम्य है । "बसन्ती की चंचलता, अलहडपन, लापरवाही और मस्ती यदि एक तरफ उसकी उम्र का परिणाम है तो दूसरी तरफ फिल्मों की देन भी । बसन्ती ने वास्तव में दिल्ली के वातावरण में ही होश संम्हाला है, इसलिए परम्परागत ग्रामीण संस्कार उसमें बहुत कम है । स्वच्छंदता उसके व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण तत्व है ।"[1]

बसन्ती माँ-बाप और बुलाकी के चंगुल से मुक्त होकर रमेश नगर में बर्तन माँजती है । पहले वह विष खाकर और दुबारा पुलिस द्वारा बस्ती के उजडने से मुक्त होती है । इतनी घटनाओं से गुज़रने के बाद भी वह बेफिक्र रह सकती है । श्यामा के घर में निडरता एवं स्वच्छन्दता के साथ रहती है, किसी से डर या सन्देह नहीं उसे । वह श्यामा को उत्तर देती हुई कहती है कि "किस-किससे डरकर रहूँ, बीवीजी' बापू से' माँ से' आप से' भगवान से' "[2] उसकी स्वच्छन्दता और निर्मलता को देखकर श्यामा "हैरान हो रही थी कि इस लडकी के अन्दर भगवान ने हँसी के कैसे सोते डाल रखे हैं । बात-बात पर इसकी हँसी फूटने लगती है । भगवान ने शरीर तो इसे लडकी का दिया है, पर आत्मा जैसे पक्षी की, तभी यह सारा वक्त फुदकती - चहकती फिरती है । एक मिनट केलिए भी चैन से नहीं बैठ सकती ।"[3] बसन्ती कभी भी भविष्य के बारे में सोचती नहीं, वह वर्तमान में जीती है । बुलाकी से मुक्त होकर युवा प्रेमी दीनू से मिलते ही वह एकदम फिल्मी-जैसी होती है ।

---

1. आलोचना - अप्रैल - जून, 1983 - पृ: 63 - सं. नामवर सिंह ।
2. बसन्ती - पृ: 31 - भीष्म साहनी ।
3. वही ।

"शाम के झुटपुटे में, दोनों हाथ फैलाये, बसन्ती कोठरी के बीचों बीच गोल-गोल नाच रही थी, और धीरे-धीरे गाए जा रही थी । ओ . . . ओ . . . ओ . . . मुझे किसी से प्यार हो गया ।"[1] दीनू के साथ वह फिल्मी ढंग की शादी करती है और उसके साथ भविष्य को फिक्र किये बिना घूमती-फिरती है । उसका जीवन नाटक और सिनेमा जैसा साहसपूर्ण रहता है । "और वह स्वयं नाटक की एकमात्र दर्शक भी थी और अभिनेत्री भी जो कुछ घट रहा था वह सच भी था और उसमें नाटक देखने और खेलने की उत्तेजना भी थी । जो कुछ हो रहा है वह नाटक, है, मैं उसे खेल रही हूँ, पर मैं अभिनेत्री नहीं हूँ, बसन्ती हूँ । नहीं - नहीं, जो कुछ हो रहा है वह सच है, नाटक नहीं है, पर मैं बसन्ती नहीं हूँ जो इसे खेल रही है, कोई अभिनेत्री इसे खेल रही है । फिल्म की अभिनेत्री और बसन्ती में अन्तर यही था कि फिल्म की अभिनेत्री का साहस झूठा होता है, उसका जोखिम झूठा होता है, जबकि अपने को अभिनेत्री मानकर व्यवहार करनेवाली बसन्ती का साहस सच्चा था और उसका जोखिम भी सच्चा था जिसके पीछे अनेक खतरे मंडरा रहे थे ।"[2]

बसन्ती के चरित्र की एक खूबी यह है कि वह किसी न किसी समस्या को सामान्य बातों की तरह टाल सकती है । श्यामा से मात्र उसे आत्मीयता का भास मिलता था, जो वास्तविक आत्मीयता न होने पर भी । श्यामा बीवी सदा उलझनों, कठिनाइयों की बातों की चेतावनी देकर बसन्ती को सताती रहती है । मगर "तो क्या बीबीजी" कहकर बडे-से-बडे उलझनों को टाल देने की उसकी क्षमता उद्‌भुत है । उसकी आस्था कभी भी झुकती नहीं, किसी भी समय वह एक ही समान

---

1. बसन्ती - पृ: 67 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 43.

कायम रहती है । यहीं उसके जीवन की विजय है । "सशक्त की ओर से लापरवाह हो जाने, परिवर्तन की ओर से उदासीन रहने, नयी राह निकाल लेने के आत्मविश्वास और अस्वीकार करने की ताकत रखने के परिणाम स्वरूप ही आनन्द मिलता है । ये सारी बातें हमें एक साथ "बसन्ती" की बसन्ती में मिलती है ।"[1] पिता, बुलाकी और श्यामा को छोडकर दीनू के साथ भाग जानेवाली बसन्ती को दीनू 300 रूपए केलिए बेच देता है और वहाँ से बचकर वह श्यामा से मिलती है । फिर भी बसन्ती उसी दीनू की प्रतीक्षा करती है । "नहीं बीवीजी वह आएगा । बसन्ती की फुसफुसाहट सी आवाज़ आयी, उसके बच्चा नहीं है । अभी तक हुआ ही नहीं है । मेरा बच्चा होगा तो वह मुझे ही अपनी घरवाली मानेगा ।"[2] बाद में दीनू से मिलते ही वह सहज ढंग से दीनू के साथ अपने बच्चे को लेकर जाती है । उसे कोई हिचक, मान-अभिमान, आदर्श की परवाह नहीं । परन्तु कोठरी पहूँचने पर उसे विवाहिता पत्नी का दर्जा नहीं मिला । "बेशक रुक्मी उसकी घरवाली बनती फिरे और उसके साथ सोये, बेटा तो मेरा ही है । दीनू का बेटा तो मेरे से ही है, इससे बसन्ती को गर्व का ही भास होता था ।"[3] बसन्ती के प्रति इसके पहले भी दीनू का व्यवहार निर्मम ही रहा था तब भी वह अपने को समझाती थी कि "मेरे मन से तो यह मेरा पति है पति मानकर ही उसके साथ आयी हूँ । यह नहीं मानता है, तो न माने ।"[4] बसन्ती को एकदम अल्हड अवस्था में इसप्रकार के धक्के का अनुभव हुआ था बूढे के साथ सगाई होने पर वह सदा बुदबुदाती रहती थी "मैं क्या करूँ राम मुझे बुड्ढा मिल गया । हाय, हाय, बुड्ढा मिल गया ।"[5] इसप्रकार के धक्कों एवं धमकियों को उसके प्रेम और

---

1. प्रकर - जून, 1981 - सं. वि. सा. विद्यालंकार ।
2. बसन्ती - पृ: 86 - भीष्म साहनी ।
3. वही - पृ: 122 - वही ।
4. वही - पृ: 71 - वही ।
5. वही - पृ: 31 - वही ।

आस्था तो पार करती है । बसन्ती के चरित्र में सादगी भी है । "बसन्ती देर तक दीनू की पीठ पीछे बैठी रही । जीवन के बडे-बडे सदमे एक क्षण में अपनी चोट कर जाते हैं, पर घटते समय कोई प्रभाव नहीं छोडते, न कसक, न दर्द, न छटपटाहट, तिरते-से निकल जाते हैं, और इन्सान अन्य मनस्क-सा वैसे -का- वैसा व्यवहार करता रहता है, मानो कुछ भी न हुआ हो ।"[1]

युवा पति और परिवार मिली बसन्ती को नवोन्मेष एवं नया जन्म का एहसास हुआ है । "बसन्ती को लग रहा था जैसे वह फिर से जीवन आरंभ कर रही है, जैसे उसका बचपन अपनी सभी इच्छाओं आकांक्षाओं के साथ फिर से जाग उठा है, और बीच के साल समय के किसी गर्त में डूब गये हैं, अपना अस्तित्व और अपनी भयावहता खो बैठे हैं ।"[2] लेकिन यह अनुभव स्थायी नहीं रहा पारिवारिक समस्याओं के साथ दीनू और रुक्मी का व्यवहार ने भी उसे भंग कर दिया है । दोनों की ओर से घृणा एवं उपेक्षा का अनुभव ही बसन्ती को मिलने लगा । ऐसी अवस्था में भी वह आश्वस्त रहती है । "जिस तरह चकित हिरनी की भांति रुक्मी आँखें फैलाए बसन्ती आश्वस्त हो गयी थी कि उसने अपना सिक्का जमा लिया है, रुक्मी पर उसका रौब तारी हो रहा है ।"[3] और अन्त में सबसे उपेक्षित बसन्ती माँ-बाप की ओर मुडती है । तब भी वह श्यामा को उत्तर देती है कि "क्यों बीवीजी, पीछे मेरी कोठरी है, पास में पप्पू है ।"[4]

---

1. बसन्ती - पृ: 72 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 125 - वही ।
3. वही - पृ: 123 - वही ।
4. वही - पृ: 154 - वही ।

ऐसी अनथकी, सदा बसन्त रहनेवाली बसन्ती का एक और पक्ष भी है । वह कुछ रूखा, धीरज एवं साहसी भी है । आलसी दीनू झूठ बोलता है, कमाता नहीं, उसकी कमाई पर जीकर अधिकार जमाता है । उसके व्यवहार से रूष्ट होती बसन्ती का सही रूप नज़र आता है । "तू भी हरामी, वह भी हरामी, खबरदार जो मेरे बच्चे को हाथ लगाया । बडा आया बेचनेवाला । मेरे पेट में अपना बच्चा देकर मुझे बेचने चला था, हरामी, बेशर्म, बदजात ।"[1] दोनों का झगडा जारी रहता है तो बसन्ती आगे कहती है कि "मैं तेरी आँतें खींच लूँगी, तू समझता क्या है' लगा तो हाथ मुझे ।"[2] इस प्रकार बसन्ती में ललकार एवं प्रतिशोध की भावनायें भी उमडती रहती हैं, परन्तु वे चिरस्थायी नहीं रहतीं । अन्य लोगों पर भी उसका प्रतिशोध एकाध बार प्रकट होता है, मगर दीनू के प्रति ही सबसे अधिक प्रतिशोध वह व्यक्त करती है ।

"बसन्ती" आज़ाद भारत के नये यथार्थ का चित्र है । दिन-व-दिन बढती गरीबी एवं बेरोज़गारी भारतीय मनुष्य की स्थिति बदतर हो जाती है । अन्तर्विरोधों से भरे-पूरे भारतीय जीवन को खोलकर रखना भीष्मजी का उद्देश्य है । "बसन्ती" में उस यथार्थ के एक अंग को प्रस्तुत किया है । इसमें एक ओर व्यक्ति जीवन में पाये जानेवाले अन्तर्विरोध हैं तो दूसरी ओर समाज के सभी पक्ष-सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक क्षेत्र - के अन्तर्विरोधों तक का जमघट खोला है । "बसन्ती" एक ओर जिजीविषा की टकराहट है तो दूसरी ओर नारी जीवन का नया यथार्थ भी है ।

---

1. बसन्ती - पृ: - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: .

अध्याय - तीन

विभाजन की त्रासदी और मानवीय करुणा का व्यापक प्रसंग - तमस का विश्लेषण

"तमस" भीष्म साहनी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है । इसमें उन्होंने भारत विभाजन को कथाफलक के रूप में स्वीकार किया है और उक्त घटना से ही तमसाच्छन्न गतिविधियों की सूक्ष्मता की ओर जाने का प्रयास किया है । अतः यह उपन्यास भारतीय इतिहास से गहन रूप से जुडा हुआ है । इसका ऐतिहासिक-बोध इतना गहन और सूक्ष्म है कि इसमें उपन्यासकार ने एक शाश्वत सत्य को भी प्रस्तुत किया है ।

उपन्यास का वास्तविक अध्ययन तभी संपूर्ण होगा कि जब उसके राजनीतिक परिदृश्य को ठीक से समझा जाय । अतः विभाजन की राजनीति और राजनीति की विभागीय मनस्थिति का विश्लेषण आवश्यक है ।

भारत-विभाजन का राजनीतिक परिदृश्य

बीसवीं शताब्दी में अनेक देशों का बंटवारा हुआ था । इसका मुख्य हेतु द्वितीय विश्व महायुद्धोत्तर संसार की दो शिबिरों में बंटी शक्तियाँ थीं । उसका नतीजा है - दो जर्मनी, दो कोरिया, दो वियत्नाम, दो चीन आदि । भारत विभाजन युद्धोत्तर काल में ही संभव हुआ । पर भारत विभाजन अन्य विभाजनों से भिन्न अवश्य है । भारत को शिथिल करने में और उसे विभक्त कर देने में भी अंग्रेज़ों का हाथ अवश्य था । अब भी वह शिथिलता और घाव मिटा नहीं है । "दूसरे अधिकांश विभाजन मूलतः क्षेत्रीय और राजनीतिक विभाजन थे - जबकि भारत के

विभाजन का मतलब था समूचे राष्ट्रमानस का खंडन । यह एक क्षेत्रीय विभाजन उतना नहीं था, जितना कि सांप्रदायिक विभाजन ।"[1] अतः इसका असर दूरव्यापी रहा है ।

15 अगस्त, 1947 को हिन्दुस्तान का बंटवारा हो गया, और पाकिस्तान का जन्म हुआ । यह दुखद् घटना पूरे इतिहास में ही एक शर्मनाक त्रासदीय घटना के रूप में घटित हुई थी । इसका धक्का भारतीय मानस पर अब भी जिन्दा हुआ लगता है । "विभाजन स्थूल और शारीरिक रूप में ही एक दुर्घटना नहीं था, यह एक मानवीय ट्रैजडी थी जिसने लाखों लोगों को भावनात्मक, विचारात्मक, मनोवैज्ञानिक, मानसिक और आत्मिक स्तरों पर प्रभावित किया था । यह दुर्घटना केवल राजनीति या किसी एक वर्ग-विशेष से जुडी हुई नहीं थी, बल्कि इससे लाखों करोडों लोगों की ज़िन्दगी, उनका वर्तमान और भविष्य, उनकी सभ्यता और संस्कृति, उनका आचरण और व्यवहार भी जुडा हुआ था ।"[2] इस विभाजन के पीछे विदेशी कुटिल राजनीति, धार्मिक संकीर्णतायें और राजनीतिक स्वार्थ खास तौर पर कार्यरत थे । आज भी भारत विघटनवाद और सांप्रदायिक फिसाद के पंजे से मुक्त नहीं हुआ है । अंधी एवं स्वार्थी राजनीति, मजहब, विदेशी हाथ और आर्थिक विपन्नता इसके मूल कारण हैं । इसके साथ अज्ञता एवं अन्धविश्वास का योगदान भी है । संप्रदाय एवं द्विराष्ट्रवाद के नाम पर भारत विभाजन 15 अगस्त 1947 को हुआ था, परन्तु इसकी प्रत्यक्ष माँग दस वर्ष पूर्व याने "फासिली की मृत्यु के बाद ही शुरू की थी ।"[3] फिर भी इसकी जडें और भी पुरानी अवश्य है ।

भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम में, सन् 1857 में, हिन्दू और मुसलमान एक होकर अंग्रेज़ों के विरुद्ध खडे थे । इसके नेतृत्व में सामन्तों तथा कुछ जननेता भी थे ।

----

1. धर्मयुग-फरवरी 21, 1988 - पृः 10 - सं. गणेश मंत्री ।

2. दृश्यांतर - पृः १९१ - डा. नरेन्द्र मोहन ।

3. "He fell on ill on Ist July and died on 9th July (1936) ... The idea of partitioning the Country look root among the Muslims after fazili's death". - p.173 -'India Curzon to Nehru and After'- Durga Das.

मगर भारतीय जनमानस में इससे देशीय एकता का विचार उमडने लगा । कुशल अंग्रेज़ी शासक इसके रग-रग से वाकिफ था । और तब से सांप्रदायिकता के बहाने जनता के बीच समर्थ ढंग से दरारें उत्पन्न करने लगे । "1857 के बाद सुनियोजित ढंग से सांप्रदायिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया गया और वे सन्दर्भ पैदा किए गए जिनके कारण हिन्दुस्तान के इतिहास को देश के बंटवारे की ओर मोड दिया गया ।"[1] अंग्रेज़ों की शरारतों से प्रभावित होकर मुस्लिम नेता मुसलमानों को कांग्रेस एवं हिन्दुओं से पृथक रहने का आह्वान देने लगे । सर सैयद अहमद के विचार में "हिन्दुओं के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने की अपेक्षा मुस्लिम अंग्रेज़ी समझौता मुसलमानों केलिए अधिक लाभप्रद था ।"[2] वे "कांग्रेस के कट्टर दुश्मनों में से एक,और पूरी तरह से सांप्रदायिक बन गए । यह विश्वास किया जाता है कि यह विचार-परिवर्तन मुख्यतः मि. बेक, जो कि अलिगढ़ कालेज में एक प्रिंसिपल थे, के कारण हुआ ।"[3] अर्किबॉल्ड ने, जो अलिगढ़ कालेज के और एक प्रिंसिपल थे, मुसलमानों केलिए (अलग चुनाव योजना) आरक्षण की माँ करने का सलाह दिया ।"[4]

इस सिलसिले को जारी करने में लार्ड कर्सन और लार्ड मिंटो का अपना हाथ है । कर्सन ने प्रशासनिक सुविधा के नाम पर 1905 में बंगाल को दो भागों में बांट, दिया । एक ओर हिन्दू एवं कांग्रेस के विरोध होने पर भी, मुस्लिम पसन्द को पालकर

---

1. भारत विभाजन और हिन्दी उपन्यास - पृ: 9 - डा. हरियश ।
2. हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन तथा संवैधानिक विकास - पृ:69 - डा. रामानन्द अग्रव
3. वही - पृ: 70 - वही ।
4. Nor did Lord Minto fail in seeing the best British interests in the development of the muslim communalism. When more constitutional concessions for India were being planned in 1906, Archibold, the principal of Aligarh College who succeeded Theodore Morrison, inspired the muslims secretly to meet the governor general and demand separate electorates - p.404 - 'Advanced Study in the History of Modern India'-Vol.II (1813-1919) Dr.G.S.Chhabra.

उन्होंने मुस्लिम सांप्रदायिकता को बढ़ावा दिया ।[1] लार्ड मिंटो ने मुस्लिम लीग के आरक्षण की मांग को स्वीकार कर इसे और भी सुगम बना दिया । "इसप्रकार लार्ड मिंटो ने भारत के राजनैतिक जीवन में सांप्रदायिक विष डाल दिया ।"[2] "गैर मुसलमानों तथा कांग्रेस को सबसे अधिक नाराज़ी इस बात से हुई कि एक्ट के अन्तर्गत जो विनियम बनाए गए थे, उनमें भेदभाव बरता गया था, मुसलमानों केलिए पृथक निर्वाचन प्रणाली के अलावा प्रत्यक्ष मताधिकार की व्यवस्था की गयी थी ।"[3] अन्ततः धर्म के आधार पर चुनाव लड़ने की नीति हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का मूल आधार बन गयी है ।

अंग्रेज़ों की अविराम प्रेरणा के फलस्वरूप मजहबी मुस्लिमों ने "मुस्लिम लीग" की स्थापना की । "अलबत्ता 30 दिसम्बर, 1906 को शिमला प्रतिनिधि मंडल के ठीक 90 दिन बाद, ढाका में "मुस्लिम लीग" की स्थापना हुई ।"[4] तीन वर्ष बाद सन् 1909 में "हिन्दू महासभा" की स्थापना हुई । अंग्रेज़ एक ओर मुस्लिम सांप्रदायिकता का और दूसरी ओर हिन्दू सांप्रदायिकता का पालन पोषण कर रहा था । कांग्रेस विभाजन और सांप्रदायिकता-विरोधी रही थी । वह सभी वर्गों व

---

1. "His (Curzon) partition of Bengal, for instance, professedly for administrative convenience, was supposed to be motivated towards the creation of a Muslim majority province, and towards killing the growing spirit of nationalism. His irresponsible utterences after the creation of the province in the teeth of the Hindu opposition, in which be tried to show the Muslims as the favoured children of the state, seriously encouraged Muslim Communalism and when the Hindus and the Congress opposed it, the Muslims were annoyed and this gave a great impetus to the Muslim communal forces" - p.404 -'Advanced Study in the History of Modern India'-Vol.II (1813-1919) - Dr.G.S.Chhabra.
2. हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन और संवैधानिक विकास - पृ: 71 - डा. रामानन्द अग्रवाल ।
3. भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास - पृ: 186 - रामगोपाल ।
4. हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन और संवैधानिक विकास - पृ: 76 - डा. रामानन्द अग्रवाल ।

संप्रदायों का नुमाइन्दगी करके स्वाधीनता केलिए लड रही थी । "लेकिन इसके विपरीत मुस्लिम लीग की स्थापना मुस्लिम धर्म के निजी तात्पर्यों व भलाईयों की रक्षा के उद्देश्य से की थी ।"[1] समय की गति के अनुसार मुसलमान नेता मुस्लिमों को कांग्रेस से हटकर अंग्रेज़ों के पीछे रहने का सलाह देते रहे । 1912-14 के समय "मुस्लिम राजनीति का नेतृत्व अलीगढ पार्टी के हाथों में था । उसके सदस्य समझते थे कि सर सैयद अहमद की नीतियों की अमानत के रक्षक वे ही हैं । उनका मूल मंत्र यह था कि मुसलमानों को ब्रिटिश ताज के प्रति वफादार और आज़ादी के आन्दोलन से दूर रहना चाहिए ।"[2] इसके बाद "इन्डिया एक्ट" (1919) तक यहाँ अधिक मात्रा में उथल-पुथल नहीं था । फिर उन्नीसवीं सदी के तीसरे दशक में सांप्रदायिक संकीर्णताओं के नाम पर समस्यायें उमडने लगीं । इसे देखकर भगतसिंह ने लिखा है कि "भारतवर्ष की दशा इस समय बडी दयनीय है । एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के अनुयायियों के जानी दुश्मन है । अब तो एक धर्म के होना ही दूसरे धर्म के कट्टर शत्रु होना है । यदि इस बात का अभी यकीन न हो तो लाहौर के ताज़ा दंगे ही देख लें ।"[3]

इस प्रकार तत्कालीन जनता में धर्म व संप्रदाय मनुष्य का आदर्श बन रहा था । वह मानव मन में एक चिनगारी के समान है जो हवा मिलते ही दावानल बन जाता है । याने सामान्य जनता सांप्रदायिक आतंक से मुक्त नहीं थी । साथ ही अवसरवादी लोग जनता में सांप्रदायिक विष ठूसा रहा था । "कोई विरला ही हिन्दू, मुसलमान या सिक्ख होता है, जो अपना दिमाग ठण्डा रखता है, बाकि सबके सब धर्म के यह नामलेवा अपने नामलेवा धर्म के रोब को कायम रखने केलिए डण्डे-लाठियाँ, तलवारें-छुरे हाथ में पकड लेते हैं और आपस में सर फोड - फोडकर मर जाते हैं । बाकी बचे

---

1. "In contrast, Muslim League was founded with the object Safe-guarding the interests of the Muslims as a Community" - p.304 - 'India and Pakistan'- V.B.Kulkarni.

2. आज़ादी की कहानी - पृ: 9 - मौलाना आज़ाद ।

3. संचेतना - मई 1987, पृ: 25 - सं. महीपसिंह (पंजाबी पत्रिका "किरती" जून 1927 में प्रकाशित भगतसिंह के लेख का पुनः प्रकाशन)

कुछ तो फाँसी चढ़ जाते हैं और कुछ जेलों में फेंक दिए जाते हैं । इतना रक्तपात् होने पर इन "धर्मजनों" पर अंग्रेज़ी सरकार का डंडा बरसता है और फिर इनके दिमाग का कीडा ठिकाने पर आ जाता है ।"[1] इस सांप्रदायिक हवा में हिन्दू देशीयवादी और मुसलमान देशीयवादी भी हिल रहे थे । श्री दुर्गादास फासिली के बारे में कहते हैं कि "अपने मन में देश-भक्ति की भावना होते हुए भी मियाँ साहिब ने सामाजिक अनैक्य का बीज बोया था ।"[2]

मुसलमान भारत में अल्पसंख्यक थे । अतः उनके मन में बहुमत के प्रति शंका होना स्वाभाविक है । अपनी स्वार्थ राजनीति की पूर्ति केलिए नेतालोग इस शंका का फायदा उठाते थे । "मुस्लिम जनता का अखिल भारतीय नेतृत्व हासिल करने केलिए जिन्ना ने एक स्वच्छ सांप्रदायिक कार्यक्रम का आयोजन किया और लीग की अगली बैठक में अध्यक्ष-स्थान [पद] केलिए फासिली को आमंत्रित किया । लेकिन फासिली ने इस प्रस्ताव से मुह मोडकर अपने अनुयायियों को आदेश दिया कि जिन्ना के लाहौर जाने के वक्त कोई भी व्यक्ति उनसे न मिले ।"[3] देश के चारों ओर से धार्मिक नेता जनता को उक्साये रहते थे । "मई, 1925 में बंगाल में फजलुल हक की

---

1. संचेतना - मई 1987 - पृ: 25 - सं. डा. महीपसिंह [पंजाबी पत्रिका "किरती" [जून 1927] में प्रकाशित भगतसिंह के लेख का पुनः प्रकाशन]

2. "I cannot Say I was disappointed with these talks, but I had the feeling that Main Sahib had, inspite of his patriotic profession, Sown the Seed of Communal dis-harmony" - p.112 - 'India Curzon to Nehru and After' - Durga Das.

3. In a bid to capture all India leadership of Muslims, Jinnah prepared a purely communal programme and invited Fazili to preside over the next session of the League. Fazili turned down the after and asked his followers not to meet Jinnah when he visited Lahore" - p.172 - 'India Curzon to Nehru and After' - Durga Das.

अध्यक्षता में बंगाल मुस्लिम कांफ्रेंस हुई जिसमें एक साहब ने यह जहर उगला कि जिस गति से भारत स्वराज्य की ओर अग्रसर होता जाएगा, उसी गति से हिन्दू राज्य-सत्ता काबिज होते जायेंगे ।"[1] आगे उन्होंने आत्मरक्षा के सभी साधनों को अपनाने का सलाह देकर यह ऐलान किया कि "मुसलमान अपना भाग्य हिन्दुओं के हाथ में नहीं छोड सकते ।"[2] सन् 1923 में बनारस में हिन्दू महासभा का अधिवेशन हुआ था जिसमें कांग्रेस नेता मदन मोहन मालव्या ने भाग लिया था । 1925 तक आते-आते वह अखिल भारतीय संस्था बन गयी । तत्कालीन सत्ता की सहायता इसे भी प्राप्त थी । "अंग्रेज़ हिन्दू-सभा से नहीं चिढते थे, क्योंकि हिन्दू-सभा सांप्रदायिकता की सहायिका होने के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन पर लगाम लगाने के काम आ सकती थी ।"[3] इस प्रकार अपने शासन एवं शोषण को जारी करने केलिए "उन्होंने जहाँ बहुत से काम लिए, उन्हीं में से एक प्रमुख काम था यहाँ के विभिन्न संप्रदायों - विशेष रूप से हिन्दुओं और मुसलमानों के भेद को रेखांकित करते रहना, उनके बीच विद्वेष और वैमनस्य को बढाते-भडकाते रहना ।"[4]

एक ओर मुस्लिम लीग अधिक सांप्रदायिक बनती रही तो दूसरी ओर हिन्दू महासभा भी । इसके अलावा आर्यसमाज एवं ब्रह्मसमाज भी कार्यरत थे । सांप्रदायिकता को बढावा देने में जिन्ना अग्रणी थे । उनका वादा है कि "नयी कार्य-परिषद् में मुस्लिम लीग ही मुसलमान सदस्यों को नामजद कर सकती है और कांग्रेस को कोई मुसलमान नामजद करने का हक नहीं होगा ।"[5] उनकी राय में राष्ट्रीयता का आधार धर्म व संप्रदाय है । "हिन्दुस्तान में कई राष्ट्रीयतायें हैं जिनका आधार

----

1. भारत का राजनीतिक इतिहास - पृ: 239 - राजकुमार ।
2. वही - पृ: 238 - वही ।
3. संस्कृति के चार अध्याय - पृ: 710 - रामधारी सिंह दिनकर ।
4. साहित्य और सामाजिक मूल्य - पृ: 88 - डा. हरदयाल ।
5. आज़ादी की कहानी - पृ: 129 - मौलाना आज़ाद ।

धार्मिक भेद है । इनमें प्रमुख राष्ट्र दो हैं - हिन्दू और मुसलमान, और अलग-अलग राष्ट्र होने के नाते उनके अलग-अलग राज्य भी होने चाहिए ।"[1] इसके विपरीत हिन्दू मजहबियों की ओर से भी कांग्रेस से विरोध शुरू हुआ था । साथ ही उन्होंने हिन्दू सांप्रदायिकता की वृद्धि की थी । श्री सावरकर के अनुसार हिन्दू महासभा ही हिन्दुओं की हितैषी है । "उन्होंने कांग्रेस को हिन्दू-विरोधी व मुसलमानोन्मुखी बताया"[2] था ।

लगभग 1930 से धर्म के आधार पर विभाजन की बातें सम्मेलनों में पेश किया करती थीं । सबसे पहले पृथक्त्व का वादा डा. मुहमद इक़्बाल ने उठाया था । "1930 में इलाहाबाद में मुस्लिम लीग के एक विशेष अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण देते हुए उन्होंने अपनी उत्तर पश्चिमी भारतीय मुस्लिम - राज्य की स्थापना की योजना प्रतिपादित की ।"[3] कुछ वर्ष बाद सन् 1936 में फासिली हुसन की मृत्यु ने द्विराष्ट्र-वादियों को एक नया मोड प्रदान किया । "मुस्लिम लीग ने अपने लाहौर-प्रस्ताव में पहले-पहले हिन्दुस्तान के संभावित बंटवारे का ज़िक्र किया था । बाद में यह प्रस्ताव "पाकिस्तान प्रस्ताव" के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।"[4] द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू हुआ । हिन्दू महासभा ने अंग्रेज़ों की सहायता करने का निर्णय लिया । कांग्रेस ने मंत्रीमंडल से इस्तीफा देकर युद्ध से हटा दिया तो लीग ने अंग्रेज़ों की सहायता करने का निर्णय लिया । "इसप्रकार एक ओर भारतीय राष्ट्रवाद का प्रतिनिधित्व करनेवाली कांग्रेस साम्राज्यवाद से संघर्ष करने केलिए आगे बढ रही थी और दूसरी ओर मुस्लिम लीग का संप्रदायवाद उसकी पीठ में छुरा भोंकने की तैयारी कर रहा था ।"[5]

---

1. आज़ादी की कहानी - पृ: 160 - मौलाना आज़ाद ।
2. हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन तथा संवैधानिक विकास - पृ: 275 - रामानन्द अग्रवाल ।
3. वही - पृ: 274 - वही ।
4. आज़ादी की कहानी - पृ: 158 - मौलाना आज़ाद ।
5. भारत का राजनीतिक इतिहास - पृ: 282 - राजकुमार ।

राजनीतिक स्पर्धा, हठ एवं नकारात्मकता का भाव तथा धार्मिक कठमुल्लापन और भी तीव्र होने लगे । फलतः विभाजन और निकट आया साथ ही दंगे को रफ़्तार भी मिली । 1946 में नयी अन्तरिम सरकार ने सत्ता ग्रहण की । मंत्रीपरिषद में सरदार पटेल ने गृहमंत्रालय को अपनाया । वित्त-विभाग लीग के लियाकत अली ने अपनाया । वित्त - मंत्रालय शासन की कुंजी है जिसमें लीगी लोग काम करते थे । "इसी से वह गतिरोध पैदा हुआ जिससे लार्ड माउंट बेटन को धीरे-धीरे हिन्दुस्तान के बंटवारे की भूमि तैयार करने का मौका मिला । उन्होंने राजनीतिक समस्या को धीरे-धीरे नया मोड देना शुरू किया और कांग्रेस के मन में यह बात जमना शुरू किया कि बंटवारा अनिवार्य है ।"[1] इसकेलिए जिन्ना और लियाकत अली के हठ एवं नकारात्मकता ही मुख्य कारण बनें । माउंट बेटन के अनुसार "इन सारी मुसीबतों एवं समस्याओं के मूल हेतु मात्र जिन्ना थे । और उनके विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा गया । इन सारी बातों में उनकी पाशविक प्रतिभा थी ।"[2] उनका कहना है कि "अधिकांश जनता को यह सन्देह था कि इसका हेतु गाँधी थे । जिन्होंने गाँधी को नहीं माना वे नेहरु को मानते थे । परन्तु वह गाँधी और नेहरू नहीं थे, वे जिन्ना और पटेल थे ।"[3] अन्तरिम सरकार के हठ और खींचतान से ऊबकर पटेल विभाजन केलिए सहमत हो गए । माउंट बेटन ने ऐसी अवस्था में पटेल को अपने साथ लिया । "पटेल के मन में यह बात पक्की हो गई थी कि वे मुस्लिम लीग के साथ काम नहीं कर सकते । उन्होंने खुले आम कहा कि मैं इसकेलिए तैयार हूँ कि लीग

---

1. आज़ादी की कहानी - पृः 204 - मौलाना आज़ाद ।

2. "All this misery and trouble was caused by Jinnah and no one else. And he hasn't had one word said against him. He was the evil genius in this whole thing" - p.44 - Mount batten and the Partition of India (March 22 - August 15, 1947) Vol. Larry Collins and Dominique Lapierre.

3. "Most people thought it was Gandhi. If they didn't think it was Gandhi they thought it was Nehru. But it wasn't Gandhi, it wasn't Nehru, it was Jinnah and Patel" - p.42 - Ibid.

हिन्दुस्तान का एक हिस्सा ले लें, पर हमें उससे मुक्ति तो मिले ।"[1] इससे बंटवारे केलिए सहमत होने की विवशता व्यक्त होती है । तब भी नेहरू, कृपलानी, गाँधी और आज़ाद विभाजन के विरुद्ध ही खडे थे । फिर नेहरू और कृपलानी ने भी विभाजन को सहमति दी । नेहरू भी उस दमघोट वातावरण से मुक्ति चाहते थे । "...सरकार के लीगी सदस्यों के भीतर से तोडफोड करने और अंग्रेज़ों द्वारा अपने हाथ में नियंत्रण रखने के कारण अंतरिम सरकार देश में फैलती हुई अराजकता का सामना करने में इतनी असमर्थ हो गयी थी कि कांग्रेस के वरिष्ठ नेता निराश हो गये और देश के विभाजन की कीमत चुकाकर भी उन्होंने इस असह्य स्थिति से बचने में सुख माना ।"[2] 14 जून, 1947 कांग्रेस अधिवेशन के समापन सम्मेलन में कृपलानी का भाषण उनके मंतव्य को भी व्यक्त करता है । "मैं कुछ उपद्रव - पीडित भागों में हो आया हूँ । एक जगह मैं ने एक कुआ देखा, जिसमें औरतों ने अपने बच्चों सहित-कुल 107 प्राणी-गिर कर अपनी इज्ज़त बचायी थी । एक और स्थान पर एक मन्दिर् में पुरुषों ने इसी कारण से अपनी 50 युवतियों को मार डाला । एक घर में मैं ने हड्डियों के ढेर देखे, जहाँ 307 व्यक्ति-जिनमें ज़्यादातर स्त्रियाँ और बच्चे थे - आक्रमणकारी भीड के द्वारा खदेड कर बन्द कर दिए गये और फिर ज़िन्दा जला दिये गये । निस्सन्देह इन राक्षसी घटनाओं ने इस प्रश्न के बारे में मेरे दृष्टिकोण को प्रभावित किया है ।"[3] ऐसी अवस्था में माउंट बेटन की प्रेरणा एवं वादा के कारण कांग्रेस के बहुमतों ने सांप्रदायिक फिसादों से मुक्ति केलिए बंटवारे को सहमति दी । इसके पहले ही कलकत्ता, नोआखाली, बिहार, बंबई और पंजाब में दंगे हो चुके हैं । प्रस्तुत स्थिति में आज़ाद ने बंटवारे के विरोध में माउंट बेटन से पूछताछ किया था । परन्तु उनका जवाब था कि "कम से कम इस सवाल पर मैं आपको पूरा आश्वासन दे सकता हूँ । यह मेरी ज़िम्मेदारी है कि कोई खून-खराबा या दंगे न हों । मैं सैनिक हूँ, असैनिक नहीं । एक बार अगर बंटवारा

----

1. आज़ादी की कहानी - पृ: 204 - मौलाना आज़ाद ।
2. धर्मयुग - [21] - फरवरी 1988 - पृ: 18 - सं. गणेश मंत्री ।
3. वही - पृ: 19

सिद्धांत रूप में मान लिया जाये तो मैं आदेश निकालकर इस बात की व्यवस्था करूँगा कि देश में कहीं भी सांप्रदायिक दंगे न हो । अगर कहीं ज़रा-सी भी गडबड हुई तो मैं कडी कार्यवाही करके उसे शुरू में ही दबा दूँगा । मैं सशस्त्र पुलिस का भी उपयोग न करूँगा । मैं सेना और वायु-सेना से काम लूँगा और जो कोई गडबड करने की कोशिश करेगा उसे दबाने केलिए मैं टैंकों और हवाई जहाज़ों का इस्तेमाल करूँगा ।"[1] पर वादा उन्हीं से टुकराया गया और विभाजन के वक्त दंगे पूर्वाधिक शक्ति के साथ फैलने लगा । दंगे और मार-काट को रोकने केलिए लाए गए बंटवारे ने ऐसे उल्टा फल छोड दिया । गाँधीजी और आज़ाद पहले ही इससे वाकिफ थे । आज़ाद ने जवहरलाल को चेतावनी भी दी थी कि "अगर हमने बंटवारे की बात मान ली तो इतिहास हमें कभी माफ नहीं करेगा । इतिहास का निर्णय तब यह होगा कि हिन्दुस्तान के टुकडे जितने मुस्लिम लीग के कारण हुए उतने ही कांग्रेस के कारण ।"[2] गाँधीजी जिन्ना को प्रधानमंत्री पद देने केलिए भी तैयार थे । लेकिन कांग्रेस के बहुमत इससे सहमत नहीं थे । इन कारणों से अंग्रेज़ों को, खासकर मांऊट बेटन को अपना हाथ धोने को थोडा अवसर मिला । उनका कहना है कि "कैबिनट मिशन के सिद्धांतों पर एकता न रख सका. तो और हल निकालने का प्रयत्न किया । ऐसा कोई हल नज़र न आया जो सबको स्वीकार भी हो और जिससे भारत का विभाजन भी न हो ।"[3] और अन्ततः 15 अगस्त 1947 को हिन्दुस्तान का बंटवारा पूर्ण हुआ ।

वर्षों पुराना सांप्रदायिक विद्वेष से मुक्ति केलिए भारतीय कांग्रेस ने 1947 को विभाजन केलिए सहमति दी । पर इस विभाजन ने एक अपशगुन बनकर उसे और भी तीव्र बना दिया । धार्मिक कठमुल्लापन, हठ एवं नकारात्मकता, अंग्रेज़ों की कुठिल एवं मौकापरस्ती राजनीति, लीग एवं कांग्रेस का पारस्परिक स्पर्धा आदि की वजह से विभाजन संभव हुआ था ।

---

1. आज़ादी की कहानी - पृ: - मौलाना आज़ाद ।
2. वही - पृ: 208 - वही ।

विभाजन और सांप्रदायिकता का असर - सामाजिक जीवन में

सामाजिक जीवन की सुगम गति केलिए पारस्परिक एकता एवं सद्भाव अनिवार्य है । भारतीय समाज प्राचीनकाल से विभिन्न धर्मों व संप्रदायों का एक कौम रहा है और उसे उन सबकी एक मिली-जुली संस्कृति भी है । अतः उसकी गति में बीच-बीच बाधायें उठ खडी हुई थीं, और अब भी रही हैं । मध्यकाल तक भारतीय धर्मसंप्रदाय का एक खास ढाँचा था और मध्यकाल से उसे एक और मोड आया । और लगभग 1850 तक पहूँचते ही उसका स्वरूप एवं प्रकृति में खास बदलाव आया । डा. शिवकुमार मिश्र के अनुसार "पहले सांप्रदायिक तनाव का सन्दर्भ वैदिक-अवैदिक जातियाँ, धर्म तथा उनसे संबद्ध लोग थे, ब्राम्हण, बौद्ध, शैव, वैष्णव, शाक्त आदि थे, मध्यकाल में उसका सन्दर्भ हिन्दू और मुसलमान बनते हैं ।"[1]

अंग्रेज़ी शासनकाल तक भारत अनेक छोटे-बडे राज्यों का एक बडा भू-भाग था । तब तक भारतीय समाज का स्वरूप आम जनता या शासकों में भी नहीं था, मात्र महात्माओं के वचनों में जीवित था । अंग्रेज़ी प्रभाव और प्रथम भारतीय आन्दोलन ने भारतीय जन मानस में उसकी एकता एवं स्वतंत्रता की भावना को जगाया था । तब से वे विदेशी शासन के विरुद्ध इकट्ठा होने लगे । कुटिल अंग्रेज़ी शासक भारत के सांप्रदायिक समाज का फायदा उठाने लगा । उसने एक ओर बहुमतीय हिन्दुओं को और दूसरी ओर अल्पसंखीय मुसलमानों को भी मजहबी धारणाओं में अटल रहने तथा कांग्रेस से पृथक रहने का सलाह दिया था । सामाजिक बोध को ठुकराने केलिए अंग्रेज़ शासक यहाँ के स्वार्थी राजनीतिज्ञों को हाथ में लेने लगा ।

सांप्रदायिक गडबड एवं देश-विभाजन ने मानव जीवन को गहरा संकट प्रदान किया है । उसने मनुष्य के सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन में असुरक्षा एवं शंका का बोध प्रदान किया है । उसके प्रभाव ने मानव जीवन के सभी स्तरों - सामाजिक,

---

1. प्रेमचन्द : विरासत का सवाल - पृः 39 - डा. शिवकुमार मिश्र ।

सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक - को अछूता नहीं छोड दिया है । "और यह भी स्पष्ट दिखता है कि आज भी इस समस्या का समाधान न तो मुस्लिम लीगी नीति से पाया जा सकता है, न उस नीति से जिस पर हिन्दू-सभा, जनसंघ तथा हिन्दू सांप्रदायिक संस्थायें चल रही हैं ।"[1] जबरन धर्म-परिवर्तन, हत्या, लूटपाट तथा देवस्थानों का ध्वंस आदि पहले भी हुआ करते थे । लेकिन विभाजन के वक्त और उसके बाद हुए दंगों से सामाजिक जीवन चकनाचूर हो गया था ।

विभाजन और तज्जनित तबादला शुरू हुआ । विभाजन का निर्णय अचानक लेने की वजह से जनता को तबादले का समय भी नहीं मिला था । इसका सदुपयोग अन्याचारी एवं कट्टर धर्माचारियों ने किया था । शासन खामोश था । पाकिस्तानी इलाकों से भारत की ओर और यहाँ से पाकिस्तान की ओर भी सामान्य जनता स्थानान्तरण करती थी। जनता को अपने परिवेश, घर-परिवार, धन-दौलत, उद्योग-धन्धों सबकुछ छोडकर भागना पडा । और उस भाग-दौड में अत्याचारियों की ओर से लूट-पाट, हत्या, आगजनी, बलात्कार सबकुछ हुए थे । लोग अनाथ, बेघर एवं बेसहारा हो गये । "बर्बरता खुलकर नाचने लगी । पैशाचिकता अट्टहास करने लगी । मनुष्यता ने दमतोड दिया । पूर्वी और पश्चिमी पंजाब में हाहाकार मच गया । लोगों को जीवित जलाया गया, निरीह बच्चों को कत्ल किया गया, बेकस और बेजबान स्त्रियों की लाज लूटी गयी, निराभरण महिलाओं के जुलूस निकाले गए । हज़ारों व्यक्ति के कत्ल हुए और करोडों की संपत्ति बर्बाद हो गयी ।"[2]

शरणार्थियों के साथ लोगों का व्यवहार भी एक प्रकार इन्कार का था । एक ओर वे उखडे और उजडे हुए थे तो दूसरी ओर वे उपेक्षित विदेशी भी थे । "ज़्यादातर जगहों पर शरणार्थियों की स्थिति बाहर से आए आक्रमणकारियों की सी थी । वैसी ही

---

1. संस्कृति के चार अध्याय - पृ: 710 - रामधारी सिंह दिनकर ।
2. भारत का राजनीतिक इतिहास - पृ: 364 - राजकुमार ।

उत्तेजना उनमें थी और वैसे ही विरोध और प्रतिरोध का उन्हें सामना करना पड रहा था ।"[1] विस्थापितों को अपने स्वजनों, मित्रों व बन्धुओं एवं पडोसियों से बिछुडना पडा । नए परिवेश में जाकर तिरस्कार और अनादर का मुकाबला करना पडा । इन ग्रहातुरों को एक ओर जनता की उपेक्षा का और दूसरी ओर शासन की उपेक्षा का भी सामना करना पडा । इन सबके अलावा उन्हें अपने आचार-विचार, रहन-सहन, एवं विश्वासों को भी बदलना पडा । विभाजन इन सबके आधार पर नहीं हुआ था, मात्र धर्म के आधार पर हुआ था । लार्ड मांउट बेटन ने ही कहा कि "पूर्व पाकिस्तान के बंगालियों व पश्चिम पाकिस्तान के पंजाबियों में कोई समानता नहीं थी । उनके शरीर का रंग, बोलने का ढंग, भाषा, खान-पान - सबकुछ ही भिन्न था । बस दोनों इस्लाम को मानते थे । जिन्ना की यह बडी भूल थी । मैं ने जिन्ना से कहा था कि 25 साल से अधिक पूर्व पाकिस्तान को न रख पाओगे ।"[2] ऐसी हालत में सामाजिक जीवन का जड़ होना स्वाभाविक था ।

आर्थिक स्थिति

सामाजिक जीवन के संतुलन केलिए अर्थ का अपना हाथ है । आर्थिक पराभव एवं बेकारी ने भी विस्थापितों को और भी जड़हीन बना दिया है । विभाजन और तबादले की वजह से भारत और पाकिस्तान की आर्थिक स्थिति का संतुलन खो गया । साथ ही जनता का परम्परागत पेशा एवं जीवनमार्ग बन्द हो गए । सिन्ध, बलूचिस्तान, लाहौर प्रान्तों में हिन्दू एवं सिख अधिक धनिक थे । दंगे और तबादले के समय उसका विनाश हो गया था और कहीं अपनी संपत्ति को उपेक्षित करना पडा । उसीप्रकार अधिकांश पाकिस्तानी इलाका खेतीबाडी का है और कारखाना भारतीय इलाकों में भी । यहाँ भी असन्तुलन उठ खडा हुआ था । एक ओर असंस्कृत वस्तुयें हैं और दूसरी ओर मात्र कारखाना भी । अतः दोनों देशों में जनता बेरोज़गार हो गयी । फलस्वरूप आर्थिक समस्याओं की बजह जीवन दुःसह हो गया है ।

---

1. बकलम खुद - पृ: 93 - मोहन राकेश ।

हिन्दी उपन्यासों में विभाजन का प्रभाव और दृष्टि

भारतीय साहित्य में, विशेषकर हिन्दी, उर्दू, पंजाबी, बंगला और सिंधी साहित्य में, इसकी अभिव्यक्ति अधिक हुई है । साहित्यिक विधाओं में कथा-साहित्य पर इसका प्रभाव अधिक दिखाई पडता है । हिन्दी तथा अन्य भाषा के उपन्यासों में प्रस्तुत ऐतिहासिक दुर्घटना का प्रभाव अधिक गहराई से पडा हुआ है । इन उपन्यासों में इस हादसे के पीछे कार्यरत स्वार्थी एवं कुटिल राजनीतिक, धार्मिक एवं अन्य शक्तियों का इम्तहान सूक्ष्म इतिहासबोध के साथ हमारे सम्मुख प्रस्तुत है । उपन्यासकारों ने इस घटना एवं उसके परिणामों को अपनी-अपनी मान्यताओं के बल पर स्वीकारा है । कुछ लेखकों ने उसके राजनीतिक एवं धार्मिक पक्ष पर अधिक ज़ोर दिया है तो कुछ ने उसके सामाजिक - आर्थिक पक्ष पर अधिक ज़ोर दिया है । उसीतरह कुछ लेखकों विभाजन और सांप्रदायिक दंगों पर ज़ोर दिया तो कुछ ने तज्जनित शरणार्थी एवं आर्थिक - सामाजिक समस्याओं पर ज़ोर दिया है । उन्होंने सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक आधार पर अपने पात्र-सृष्टि करके विस्थापित मानव की मानसिकता एवं कठिनाइयों को व्यक्त किया है ।

झूठा-सच

"झूठा-सच" देश-विभाजन पर लिखा गया बृहत्काय उपन्यास है । यशपाल ने इसमें 1942 से 1957 तक की घटनाओं को सामाजिक यथार्थवादी रुख के साथ दो भागों में प्रस्तुत किया है । "वतन और देश" (प्रथम भाग) में 1942 से विभाजन तक की कथा है, याने उस समय के साधारण जन-जीवन, उसके पारस्परिक सौहार्द एवं वैषम्य, रहन-सहन, नौकरी-पेशा, आचार-विचार, सांप्रदायिक तनाव एवं विभाजन का यथातथ्य वर्णन किया है । "देश का भविष्य" (दूसरा भाग) में विभाजन हेतु विस्थापित जनता के पुनर्निवास, नौकरी-पेशे की खोज इत्यादि के चित्रण को 1957 के आम-चुनाव के साथ समाप्त किया है । डा. इन्द्रनाथ मदान के शब्दों में कहें तो "उपन्यास में कहीं लाशें बिखरीं पडी है, जिनपर गिद्ध मंडरा रहे हैं, कहीं असाध्य बोझ

उखडे हुए मुसलमानों के काफिले और हिन्दुओं के सार्थ हैं, कहीं सांप्रदायिक नारों की गूँज है तो कहीं आग की लपटें हैं, कहीं उजडी जनता की पुकारें हैं तो कहीं अपमानित नारियों के चीत्कार हैं, कहीं भीडों की अनुभूति है तो कहीं सूनेपन की, कहीं नेताओं के सन्देश है तो कहीं सुधारकों के उपदेश ।"[1] अलबत्ता यशपाल ने "झूठा-सच" में विभाजन की दुर्घटना और उसके परिणामों के कोने-कोने झाँका है ।

कथारंभ विभाजन-पूर्व लाहौर की गली भोला-पांधे में होता है । वहाँ के निम्नवर्गीय जीवन से लेकर विभाजन कालीन लूट-पाट, हत्या, आग-जनी, बलात्कार, तबादले एवं शरणार्थियों के पुनर्निवास और नए परिवेश से जुड जाने तक की कथा है । इस वक्त यशपाल ने दंगे का वर्णन किया है लेकिन बदलते जीवन-मूल्यों और सामाजिक आशंकाओं एवं बिखराव की अपेक्षा नारी-पीडन पर अधिक ज़ोर दिया है । इसलिए श्री नेमीचन्द्र जैन ने लिखा है कि "यशपाल की दृष्टि जीवन के अन्य पक्षों पर इतनी नहीं जाती जितनी स्त्री के शोषण, पीडन, अपमान पर, उसके साथ हुए अत्याचार और पाशविक व्यवहार पर ।"[2]

यशपाल ने देश-विभाजन का स्तराज जनता या समाज के माध्यम से दिखाया है । अतः उपन्यास में कोई महान चरित्र तो नहीं है । उसमें जनता को चेतना-सम्पन्न दिखाया है । इस वक्त उनके पूर्वाग्रह एवं विचारधारा ने सत्य को मंडि किया है । इसलिए उन्होंने वक्त और बेवक्त गाँधीजी का व्यंग्य उठाया है । इतना विशाल पट होने पर भी "झूठा-सच" में गहराई और मानवीयता के अंश कम ही मिलते हैं । इन्हीं कारणों से श्री. नेमीचन्द्र जैन ने लिखा है कि "यह नहीं कि लेखक की कोई विचारधारा नहीं होनी चाहिए पर ज़िन्दगी के प्रस्तुतीकरण में एक समर्थ लेखक अपनी वस्तुनिष्ठता को बनाए रखकर ही विचारधारा विशेष को कलात्मक रूप में स्थापित कर पाता है । कम से कम महान लेखक और महान कृति में यह अनिवार्य है । "झूठा-सच"

---

1. हिन्दी उपन्यास : पहचान और परख - पृः 218 - डा. इन्द्रनाथ मदान ।
2. अधूरे साक्षात्कार - पृः 76 - नेमिचन्द्र जैन ।

इस कसौटी पर हल्का उतरता है, विशेषकर दूसरे खण्ड में, जहाँ मानवीय स्थितियों के प्रस्तुतीकरण की अपेक्षा बहस अधिक है । एक प्रकार की सरलीकृत एकांकी सिद्धांतवादि जो जीवन से निःसृत नहीं, आरोपित अधिक जान पडती है, पक्षधर राजनीतिक मताग्र लेखक की दृष्टि की निर्ममता को, प्रखरता और स्पष्टता को, कम कर देता है । फलत मानवीय परिस्थितियों का प्रस्तुतीकरण ऊपरी लगने लगता है, प्रश्नों और स्थितियों गहराई में जाता नहीं जान पडता ।"[1]

इसप्रकार विभाजन की त्रासद घटना और उसके हेतु एवं परिणामों की कथा को यशपाल ने पन्द्रह वर्ष के इतिहास के रूप में प्रस्तुत किया है । विभाजन के प कार्यरत शक्तियों को पकडने के स्थान पर उनका राजनीतिक मताग्रह अधिक मुखरित हुआ लगता है ।

<u>लौटे हुए मुसाफिर</u>

यह कमलेश्वर का भारत-विभाजन संबन्धी उपन्यास है । इसमें उन्हों एक कस्बे के निम्नवर्गीय जीवन के माध्यम से विभाजन एवं सांप्रदायिकता की विभीषिक को अभिव्यक्ति दी है । अन्य उपन्यासकारों की अपेक्षा कमलेश्वर ने इसमें अपनी रोज रोटी केलिए संघर्षरत निरीह प्राणियों के बीच सांप्रदायिकता एवं विभाजन के विष ने कैसे असर डाला है, उसको अभिव्यक्ति दी है । वर्षों से एक साथ रहे मज़दूरों की आ ममता, व्यवहार, आचरण और मैत्री को प्रस्तुत करके अन्त में मजहब ने जीवन को कैसे तहस-नहस कर दिया है, उसका सुन्दर चित्रण किया है । सामान्य जनता पाकिस्ता का अर्थ तक नहीं जानती थी । इस इलाके में "एक बूँद खून नहीं गिरा, किसी मुहल्ले पर धावा नहीं हुआ । किसी ने किसी को गाली तक नहीं दी । मस्जिदों में लडा की तैयारियाँ नहीं हुई । मन्दिरों में ईंट-पत्थर इकट्ठे नहीं हुए । ... जो बदमाश रोज़ पिटते थे, उन्हें भी किसी ने नहीं पीटा । लेकिन भीतर ही भीतर एक बडा

---

1. अधूरे साक्षात्कार - पृ: 75 - नेमीचन्द्र जैन ।

भूचाल आया था । बड़ा भयानक भूचाल, जिससे बस्ती की चूल हिल गयी थी । अपनेपन का जज़्बा मर गया था । नफ़रत की आग ने इस बस्ती को निगल लिया था ।"[1]

"लौटे हुए मुसाफिर" में मानवीय संवेदना को मुखरित किया गया है । सन् 1945 तक प्रस्तुत बस्ती के लोग मात्र इन्सान थे और उनमें सांप्रदायिकबोध नहीं था । 1945 के बाद वे इन्सानियत को भूलकर केवल हिन्दू और मुसलमान हो गए । एक या दो गद्दारी के परिणाम को निरीह जनता भोग रही हैं और अनेकों की कुर्बानियों से उसका निवारण भी नहीं होता है । अनेकों को स्थानान्तरण करना पड़ा, पर अन्त में उन्हें घर की तलाश करना पड़ता है । "वस्तुतः कमलेश्वर "लौटे हुए मुसाफिर" में उन अबोध लोगों की कथा को आधार बनाया है जो केवल अपनी रोजी-रोटी केलिए संघर्षरत थे, परन्तु सांप्रदायिकता की लहर में बह गए और वही आदि स्थान तक पहुँच सके और न ही लौटकर वापस आ सके । अन्त में जो लोग लौटकर आये वे मज़दूर बनकर ही आए ।"[2]

कमलेश्वर ने भारतीय परिवेश में कथा को घटा है । और यहाँ के मुसलमान पाकिस्तान योजना के बारे में अनभिज्ञ था । उनका संघर्ष संप्रदाय के नाम पर नहीं वर्ग पर आधारित है । "वे सिर्फ इतना जानते हैं कि असली लड़ाई अमीरी और गरीबी की है ।"[3]

"लौटे हुए मुसाफिर" में सांप्रदायिक दंगे का विवरण नहीं किया गया है लेखक ने निम्नवर्ग के शान्तिपूर्ण जीवन को दिखाकर उसमें सांप्रदायिक विष के असर को दिखाया है । उपन्यास में सांप्रदायिकता के कारणों के संकेत है और साथ ही उसकी विभीषिका पर भी ज़ोर दिया है । लेखक ने घर की तलाश करनेवाले मानव के ज़रिए परिवेश के प्रति मानव की ममता एवं उससे बिछुड़े मानव की वेदना को अभिव्यक्ति दी है । परन्तु इसमें अनुभव की तीव्रता और यथार्थ की कमी का एहसास भी हैं ।

---

1. लौटे हुए मुसाफिर - पृ: 4 - कमलेश्वर ।
2. कमलेश्वर - पृ: 208 - सं. मधुकर सिंह ।
3. भारत विभाजन और हिन्दी उपन्यास - पृ: 62 - डा. हरियश ।

काले कोस

बलवन्त सिंह कृत "कालेकोस" विभाजन संबन्धी उपन्यासों में एक महत्वपूर्ण कृति है । इसमें पंजाब के एक गाँव की कथा है । लेखक ने प्रस्तुत उपन्यास में अबोध एवं निरीह प्राणियों को विभाजन-पूर्व, विभाजन-काल और विभाजन के उपरान्त में दिखाया है । चारगाँव के निवासियों में सिख, हिन्दू और मुसलमान हैं । प्रस्तुत जनता वर्षों से एक साथ पारस्परिक सहयोग एवं सौहार्द के साथ रहती थी । उनपर सांप्रदायिकता एवं विभाजन का असर कैसे फैलता है उसका वर्णन विभाजन की पृष्टभूमि में किया है ।

चारगाँव शहर से दूर स्थित गाँव है । अतः वहाँ बाहर की खबरें बहुत देर से आती हैं । वहाँ के निवासी अक्बारी खबरों पर विश्वास नहीं रखते हैं । अतः देश के साथ अन्य भागों में सांप्रदायिक दंगे होते समय भी यहाँ के लोगों के बीच सांप्रदायिक तनाव का निशान भी नहीं है । अन्य गाँवों के लोग अपनी-अपनी रक्षा का प्रबन्ध करने लगे हैं । चारगाँव में करीमू के आने से सांप्रदायिक विष पैदा होता है । वह अपनी व्यक्तिगत दुश्मनी का बदला संप्रदाय की आड में लेना चाहता है । करीमू नोआखली के दंगे के बहाना बनाकर मुसलमानों के बीच सांप्रदायिक विष उंडेलने का प्रयास करता है, लेकिन उसका असर जनता पर नहीं पडता है ।

बलवन्त सिंह ने सांप्रदायिक दंगे एवं विभाजन के पीछे की राजनीति को पैनी दृष्टि से देखा है । सूरतसिंह के मुँह से वे कहलवाते हैं कि "जो कुछ हुआ इसमें मुस्लिम जनता का दोष नहीं है । यह सरासर अंग्रेज़ की शरारत है बल्कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की शरारत है जो आज भोली-भाली जनता का ध्यान भूख, प्यास, पूँजी के गलत बंटवारे और पूंजीपतियों के अन्यायों और अत्याचारों की ओर से हटाकर उन्हें धर्म के नाम पर भटका रही है और एक दूसरे के खून का प्यासा बना रही है ।"[1]

----

1. काले कोस - पृ: 362 - बलवन्त सिंह ।

चारगाँव में भी तबादले का कार्यक्रम शुरू होता है, हिन्दू-सिख अमृतसर की ओर रवाना शुरू करते हैं । यहाँ सांप्रदायिक दंगे नहीं होता है । मगर वे उसकी विभीषिका के शिकार होते हैं ।

"काले कोस" में बलवन्त सिंह सांप्रदायिक दंगे तथा विभाजन के कारणों और उसकी विभीषिकाओं को दिखाकर देश-विभाजन का विरोध करते हैं । विभाजन एवं सांप्रदायिकता के पीछे वे पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था एवं अंग्रेज़ी शासन की शरारतों को मानते हैं । उनके अनुसार विभाजन एवं आज़ादी का सबसे बडा मूल्य उस निरीह भोली जनता को चुकाना पडा जो पाकिस्तान का अर्थ भी नहीं समझती थी । इस जनता के प्रति सहानुभूति प्रकट करके लेखक "पाकिस्तान की राजनीति" का विरोध करते हैं । "लौटे हुए मुसाफिर" की भांति इसमें भी दंगों का वर्णन नहीं मिलता है ।

आधा-गाँव

"आधा-गाँव", गंगोली गाँव की, 1937 से लेकर 1952 तक की कथा है । राही मज़ूम रज़ा ने 1937 से लेकर भारतीय इतिहास के समानान्तर गंगोली को अभि-व्यक्ति दी है । विभाजन व सांप्रदायिक दंगे का प्रत्यक्ष प्रभाव गंगोली पर नहीं पडता है । मगर लेखक विभाजन के प्रभावों को गंगोली के माध्यम से आंकते हैं । डा. पारूकान्त देसाई के शब्दों में "उपन्यास के आरंभ में ही विभाजन की काली छाया के मंडराते जाने का संकेत लेखक ने दिया है और ज्यों-ज्यों उपन्यास आगे बढता जाता है यह काली छाया फैलती-जाती है और अन्ततोगत्वा वह गंगोली को, समूचे देश को निगल लेती है । यह विभाजन देश के नक्शे पर खींची गयी भारत-पाकिस्तान की विभाजन रेखा ही नहीं, बल्कि वह रेखा है जो पहले कागज़ पर, फिर ज़मीन पर और अन्ततः पूरे देश के जीवन पर खिंच गई और जिसने हिन्दुओं को अधिक हिन्दू और मुसलमानों को अधिक मुसलमान बना दिया । जिसने माँ-बाप से बेटे, बहनों से भाई, पत्नियों से पति ही नहीं अलग किए, बल्कि इन्सान को ज़मीन से तोड दिया, इन्सान को इन्सान से तोड दिया ।"[1]

---

1. साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास - पृ: 88 - डा. पारूकान्त देसाई ।

गंगोली के शिया मुसलमान पाकिस्तान की राजनीति के बारे में जानते नहीं हैं । उन्होंने मुस्लिम लीग, जिन्ना और पाकिस्तान के बारे में मात्र सुना है । उनके बेटे मुस्लिम लीग और पाकिस्तान के पक्षपाति बनते हैं जो अलिगढ़ विश्वविद्यालय के छात्र हैं । गंगोली निवासियों के अनुसार पाकिस्तान की माँग सिर्फ हिन्दुओं के प्रति नफरत और शंका की वजह से है । लेकिन इसके एवज में पाकिस्तान परस्त लोग अन्यों को समझाने की कोशिश कर रहे हैं । उनके अनुसार अंग्रेज़ों के हटते ही यहाँ हिन्दुओं का राज्य स्थापित हो जाएगा और हमें उनके अधीन में रहना पडेगा । इसलि मुस्लिम लीग को "वोट" देना हमारा दायित्व है । इसके समर्थन केलिए वे "कुर-आन" का सहारा भी लेते हैं । पर साधारण जनता यह समझती है कि हमारे सम्मुख भारत और पाकिस्तान में कोई अन्तर नहीं । हमें यही काम वहाँ भी करना पडेगा ।

विभाजन के साथ हुई तबादले से मुसलमानों की संख्या और भी कम हो जाती है । विदेशी शासन की ओर से मिली विशेष सुविधायें भी खत्म हो गयी हैं । ऐसी अवस्था में उनमें असुरक्षा का बोध बढने लगा । अपनी घर-गृहस्थी, जायदाद और ज़मीन को छोडकर मुसलमान पाकिस्तान जाने में असमर्थ हुए, पर अपने बेटे को जाते देखकर वे अवश्य दुखी होते हैं । पहले पाकिस्तान विरोधी कुछ लोग भी अन्त में जाते हैं, अपनी इज़्ज़त बचाने केलिए ।

पाकिस्तान की माँग को लेकर कांग्रेस और लीग के बीच विरोध बढ जाता है और बंटवारे के समय दंगे शुरू होते हैं । गंगोली ,पर इसका परोक्ष प्रभाव पड है । लेकिन लेखक इसे हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच के दंगे नहीं मानते हैं । वे इस मूल में निहित आर्थिक असमानता को ढूँढते हैं । राही इन "आत्मीय स्वजनों की कहानी के माध्यम से सांप्रदायिक और विभाजन के मूल में अशिक्षा एवं आर्थिक असमानता को मा हैं ।

---

1. उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा - पृः 122 - डा.परमानन्द श्रीवास्त

राही अपने "टोपी शुक्ला" और "ओस की बूँद" - दो उपन्यासों में भी सांप्रदायिकता की आजमाइश करते हैं । "ओस की बूँद" सांप्रदायिक तनाव में इन्सानियत की खोज कर रहा है तो "टोपी शुक्ला" हिन्दू-मुस्लिम संबन्ध को लेखकीय अनुभवों एवं अनुभूतियों के आधार पर व्यक्त करता है । हिन्दू और मुसलमान वर्षों से एक साथ जीते आ रहे हैं फिर भी वे पारस्परिक एकता एवं सद्भाव के साथ जीने का अभ्यास नहीं प्रप्त करते हैं । जनता के रिश्तों, वैमनस्यों, मनमुटाओं, आशंकाओं एवं स्वार्थों के माध्यम से उन्होंने इसे अभिव्यक्ति दी है ।

एक पंखुडी की तेज़धार

"एक पंखुडी की तेज़धार" 15 अगस्त 1947 से 30 जनवरी 1948 तक के साढे-पाँच महीनों की गतिविधियों की कथा है । स्वाधीनता के बाद भी सांप्रदायिक घृणा जनता के बीच खत्म नहीं हुई थी । ऐसे वातावरण में गाँधीजी की हत्या हुई थी । इस शर्मनाक समय को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से शमशेर सिंह नरूला ने अभिव्यक्ति दी है । विभाजनोपरान्त की अव्यवस्थित एवं अस्तव्यस्त समाज में सामाजिक अत्याचारियों के बहिर्मुखी शोषण को कोने-कोने जाकर नरूला ने झांका है । उन्होंने राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक सबकी आड़ में चले शोषण को सही अभिव्यक्ति दी है । शोषकवर्ग अस्तव्यस्त समाज की फायदा कैसे और किन-किन मार्गों से उठाते हैं, इसका समग्र वर्णन उन्होंने सामाजिक यथार्थ के बल पर दिया है । विभाजन के बाद देश के सम्मुख सबसे बडी समस्या शरणार्थियों की थी । उपन्यास में शरणार्थियों की विभिन्न समस्याओं, रैल-गाडियों में हुई निर्मम हत्याओं और दंगों का चित्रण भी बीच-बीच में आए हैं । इन सबके अलावा समाचार पत्रों, जो धनिकों के हाथ में था, के द्वारा सांप्रदायिकता को भडकाने का द्विमुखी तंत्र का पर्दा-फाश किया है । उसमें अपनी बिक्री बढाने केलिए अतिरंजित एवं उत्तेजित बातों की भरमार थी । सांप्रदायिकता को प्रोत्साहन देने की वजह से राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और हिन्दू महासभा की आलोचना भी की है ।

उपन्यास में शमशेर सिंह नरूला ने स्वतंत्रताप्राप्ति से लेकर गाँधीजी की हत्या तक की घटनाओं को वैज्ञानिक दृष्टि से इम्तहान किया है । लेखक ने इस छोटी अवधि की कथा के माध्यम से सांप्रदायिक दंगे के पीछे काम करनेवाली देशी शक्तियों एवं उससे सहकारी होकर काम करनेवाली विदेशी शक्तियों के कार्यकलापों एवं नेहरू सरकार को तोडने के षडयंत्र को भी पकडने की कोशिश की है । इसमें भी सांप्रदायिक दंगों का चित्रण या उस समय के अत्याचारियों के नंगा नाच को प्रस्तुत नहीं किया है ।

गुज़रा हुआ ज़माना

कृष्णबलदेव वैद का "गुज़रा हुआ ज़माना" विभाजन एवं सांप्रदायिक वैमनस्य पर आधारित एक उपन्यास है । इसमें विभाजन के दो तीन साल पहले की कथा से लेकर विभाजन एवं उसके उपरान्त कुछ समय तक की कथा है । हिन्दू-मुस्लिम जनता के आपसी संबन्ध और लेन-देन से लेकर पारस्परिक वैमनस्य, लूट-पाट और वहाँ से आतंकित एवं विस्थापित होने तक की बात है । पश्चिम पंजाब मुस्लिम बहुल इलाका है । अतः उपन्यास में उनके क्रिया-कलापों का चित्रण अधिक है । वे बलात्कार, लूट-पाट, आगजनी इत्यादि में मज़ा लूटते हैं । उपन्यास में हर कहीं पाकिस्तान ज़िन्दाबाद, कायदे आजम जिन्दाबाद का नारा गूँज उठता है । अत्याचारियों से आतंकित हिन्दू-सिख घर में बन्द रहते हैं और भूख-प्यास से तडपते भी हैं । वे हिन्दुओं को सहायता के बहाने धोखा देते हैं । इसलिए हिन्दू-सिख फौज पर भी विश्वास नहीं करते हैं । छात्र-छात्रायें लाहौर छोडकर अमृतसर जाते हैं । "गुज़रा हुआ ज़माना" उपन्यास में एक ऐसे कस्बे के सांप्रदायिक संबन्धों को उजागर किया गया है, जिसमें बरसों से हिन्दू-मुस्लिम शान्ति से जीवन व्यतीत कर रहे थे, जिसमें विभाजन के आसपास के दिनों में भी युवा-वर्ग सांप्रदायिक द्वेष से अपने को मुक्त रखे हुए थे, फिर भी सारे क्षेत्र के मुसलमानों की भडकी हुई धार्मिक भावनाओं एवं लूट-पाट के लोभ के कारण हिन्दुओं को जान-माल की अपार हानि उठाकर निकलना पडा ।"[1]

---

1. हिन्दी कथा साहित्य में भारत-विभाजन - पृ: 113 - डा. हेमराज निर्मम ।

इसमें कुछ मानवतावादी पात्र भी हैं, जैसे असलम, शाम प्यारी, मुमताज़ और शान्ति । ये अमन और शान्ति केलिए काम करते हैं । परन्तु अमन कमिटी में कोई विशिष्ट व्यक्ति या राजनीतिक नेता नहीं थे । अतः उनके बीच नेतृत्व की कमी सताती रही । फलस्वरूप अमन कमिटी का कार्यान्वियन नाममात्र रहा । इसमें भी विभाजन के वक्त के दंगे को उसकी संपूर्ण भयावहता के साथ चित्रित नहीं किया गया ।

सत्तीमैया का चौरा

"सत्तीमैया का चौरा" मुख्यतः सांप्रदायिकता की समस्या को आर्थिक दृष्टि से परखने का प्रयास है । भैरवप्रसाद गुप्त ने सांप्रदायिक समस्याओं के मूल में छिपे अर्थ-वैषम्य को देखा है । अतः उन्होंने सांप्रदायिकता को मिटाने केलिए वर्गबोध की आवश्यकता पर ज़ोर दिया है । उपन्यास में यही विचार बीच-बीच में उभरकर आये हैं । "जिस सांप्रदायिकता की समस्या को हल करने केलिए देश का बंटवारा किया गया, वह अपनी जगह पर कायम है । . . . यह निश्चित है कि जब तक सामन्तवाद और पूँजीवाद जीवित रहेगा, तब तक यह दुर्भावना मिट नहीं सकती । यह किसी न किसी रूप में जीवित रहेगी । किसी भी सुधारवादी ढंग से इसे समाप्त नहीं किया जा सकता इसका इलाज केवल एक है, और वह है जनता में वर्ग-चेतना पैदा करना, जनता की मुक्ति की लडाई को वर्ग-संघर्ष के स्तर पर ले आना ।"[1] इसप्रकार इसमें एक ही भावना है और साथ ही कलात्मकता की अपेक्षा मात्र विवरण है ।

अन्य उपन्यास

भगवतीचरण वर्मा ने अपने चार उपन्यास में देश-विभाजन और सांप्रदायिक गडबडों का ज़िक्र किया है । "भूले बिसरे चित्र", "सामर्थ्य और सीमा", "सीधी सच्ची बातें" तथा "प्रश्न और मरीचिका" में लेखक ने विभाजन और सांप्रदायिक अत्याचारों पर

---

1. सत्तीमैया का चौरा - पृ: 494 - भैरवप्रसाद गुप्त ।

अपना मत प्रकट किया है । उन्होंने भी इसके पीछे अंग्रेजी हाथों को देखने की कोशिश की है । "सीधी सच्ची बातें" में उन्होंने लिखा है कि "इस नीति के अनुसार जिन्ना-ब्रिटिश शासन के हाथ में सबसे बडा हथियार था । आज इस भयानक संकट-काल में ब्रिटेन इसी अस्त्र के बल पर हिन्दुस्तान को दबाये हुए थे ।"[1] इसप्रकार उन्होंने मुसलमानों को अंग्रेजों का औजार के रूप में चित्रित किया है । उनकी राय में हिन्दू धर्म को व्यक्तिगत स्तर पर और मुसलमान धर्म को सामाजिक स्तर पर ग्रहण किए गए हैं । यही विचार वर्माजी के चारों उपन्यासों में प्रकट हुआ है । भगवती बाबू के अनुसार "हर मुसलमान धार्मिक मामले में बहुत कट्टर होता है, देशभक्ति, राष्ट्रीयता और प्रेम-संबन्ध आदि चीजें बाद में आती हैं और मजहब पहले ।"[2] उन्होंने अपने उपन्यासों में विभाजन और तज्जनित गडबडों को पूर्ण रूप से अपनाया नहीं है । फिर भी जहाँ तक उन्होंने इसका उल्लेख किया है उसमें उनकी हिन्दू-दृष्टिकोण अधिक मुखरित लगता है ।

गुरुदत्त विभाजन संबन्धी उपन्यासकारों में, संख्या की दृष्टि से आगे हैं । उनके "देश की हत्या", "स्वाधीनता के पथ पर", "स्वराज्यदान", "पथिक" और "दासता के नए रूप" में विभाजन और सांप्रदायिक हादसों का हिन्दुत्ववादी समाधान की खोज है । "युद्ध और शान्ति" (भाग-1) और "जमाना बदल गया" में भी इसका उल्लेख अवश्य हुआ है । उनके उपन्यासों का मुख्य स्वर हिन्दू-सांप्रदायिकता एवं तानाशाही का है । उपन्यासों में यही आग्रह का प्रस्फुटन हुआ है । "अगर मुसलमान स्वतंत्र भारत में रहेंगे भी तो उनको न तो कोई महत्वपूर्ण पद दिया जाएगा, न ही किसी राज्यकार्य में भाग । वे स्वतंत्र रूप से अपने निर्वाह का प्रबन्ध कर सकेंगे ।"[3] अपने तनाशाही विचार गुरुदत्त ने स्पष्ट ही लिखा है कि "इस देश में अनपढों, मूर्खों की संख्या बहुत है । वयस्क मतदान से राज्य इन्हीं लोगों का होगा ।"[4] इसप्रकार की तानाशाही विचारधारा एवं

---

1. सीधी सच्ची बातें - पृ: 483 - भगवतीचरण वर्मा ।
2. हिन्दी साहित्याब्द कोश - (1973) - पृ: 31 - सं. देवेन्द्रनाथ शर्मा, गोपाल रा
3. स्वराज्य दान - पृ: 31 - गुरुदत्त ।
4. युद्ध और शान्ति - पृ: 6 (भूमिका) - गुरुदत्त ।

सांप्रदायिक उन्माद का शिकार होने पर भी उन्होंने कहीं-कहीं विभाजन और सांप्रदायिक दंगों का यथार्थ चित्र दिया है । इन संकुचित दायरों के बावजूद उन्होंने "देश की हत्या" में सांप्रदायिक अत्याचारों का यथार्थ चित्रण किया है । "विभाजन के दिनों लाहौर के आसपास के देहातों में किसप्रकार अत्याचार हुए, इसका चित्रण बडा ही यथार्थ है । विभाजन के बाद शरणार्थियों की जो स्थिति हुई, भारत की ओर हज़ारों लाखों की संख्या में शरणार्थी किसप्रकार पैदल निकले, रास्ते में उन्हें किस प्रकार के अत्याचार सहने पडे इसका चित्रण वास्तविकता के अधिक निकट है ।"[1]

रामानन्द सागर का "और इन्सान मर गया" विभाजन के ऐन वक्त घटित सांप्रदायिक दंगों पर आधारित उपन्यास है । प्रस्तुत उपन्यास में सांप्रदायिक हिंसा, बलात्कार और अन्य पीडनों का चित्रण किया है । इसका भी केन्द्र स्थान लाहौर है । लाहौर में हिन्दू और मुसलमान लगभग समान अनुपात में होने से परस्पर एक दूसरे को भगाने की कोशिश हुई है । इस कोशिश के फलस्वरूप दंगे हुए हैं जिसमें अनेक निरीहों की हत्यायें हुई हैं, अनेकों की इज़्ज़त लूट गयी है, अनेक लूट-पाट एवं आगजनी का शिकार बन गए हैं और अनेकों को स्वजनों, अपनी ज़मीन जायदाद को छोडकर भागना भी पडा है । विभाजन के दौरान सबसे दर्दनाक स्थिति रैलगाडियाँ में घटित हुई थीं । इसका यथार्थ वर्णन उन्होंने किया है । लेखक ने विभाजन की पृष्ठभूमि, उसके बाद की शरणार्थियों की समस्याओं और सांप्रदायिक दंगों के कारणों की खोज नहीं की है । उनका ध्यान सांप्रदायिक अत्याचारों पर ही पडता है । परन्तु उनका वर्णन मानवीय रुख के साथ नहीं, रूमानी रुख में हुआ है । "रामानन्द सागर ने इस उपन्यास में विभाजन की ट्रैजडी को एक रूमानी स्तर पर देखा है । इसलिए दंगों का चित्रण विश्वसनीय नहीं लगता । लेखक न तो सांप्रदायिक दंगों के कारणों को पकड पाता है और न ही उन सन्दर्भों को रेखांकित कर पाता है जिनके आधार बनाकर सांप्रदायिक तनाव प्रदान किए गए ।"[2] याने उपन्यास के रूमानी रुख के कारण वह लक्ष्यहीन लगता है । अतिरंजना के कारण कहीं-कहीं यथार्थ का ह्रास हो गया है ।

---

1. गवाह {सांप्रदायिकता विरोध-अंक} जन-सितम्बर, 1981 - सं. भगवानदास वर्मा ।
2. भारत विभाजन और हिन्दी उपन्यास - पृ: 66 - डा. हरियश ।

"इन्सान", "और इन्सान मर गया" की अपेक्षा यथार्थवादी एवं उद्देश्यपूर्ण रचना है । यज्ञदत्त शर्मा ने 1947 में हुए हत्याकांड को आधार बनाकर "इन्सान" को आकार दिया है । विभाजन के सन्दर्भ में धर्म की आड में, सांप्रदायिक उन्माद में मानवता को किस प्रकार रौंदा गया है, उसका यथार्थ वर्णन है । उपन्यासकार राजनीतिक दलों पर ठीका-टिप्पणी करने के अपने नौबत को नहीं खोने देते हैं । इन्सान इन्सानियत को बनाए रखने का आह्वान है । डा. त्रिभुवन सिंह के अनुसार "देश के निर्माण और पारस्परिक सहयोग तथा सद्भावना के साथ राष्ट्र को आगे बढाने और इन्सानियत को कायम रखने का "इन्सान" में सन्देश है ।"[1]

"निशिकान्त" तथा "तट के बन्धन" में विभाजन और सांप्रदायिकता का उल्लेख मिलता है । विष्णु प्रभाकर के इन दोनों, उपन्यासों में गाँधीवादी आदर्श अधिक है । "निशिकान्त" आदर्शवादी अधिक और यथार्थवादी कम है । विभाजन के पहले पंजाब में सांप्रदायिक विष कैसे घुसकर आता है, इसकेलिए घटनाओं एवं प्रमाणों को प्रस्तुत किया है । "तट के बन्धन" विभाजन कालीन स्त्रियों की मानसिकता को यथार्थवादी दृष्टि से देखने का प्रयास है । इसी तरह मन्मथनाथ गुप्त का "मानव दानव" और आचार्य चतुरसेन शास्त्री का "धर्मपुत्र" भी विभाजन और तज्जनित सांप्रदायिक उथल-पुथलों से अछूते नहीं रहते हैं । "मानव-दानव" औपन्यासिक दृष्टि से चर्चित नहीं है । इसमें लेखक ने सांप्रदायिकता की परख अर्थ और काम की दृष्टि से की है । "धर्मपुत्र" शायद हिन्दी का पहला विभाजन संबन्धी उपन्यास है । इसमें दिल्ली पहूँचे शरणार्थियों की मानसिकता का सूक्ष्मांकन है । परन्तु इसका कथ्य शिल्प की अपेक्षा गौण लगता है । अमृतलाल नागर ने अपने बहुचर्चित उपन्यास "बूँद और समुद्र" तथा "अमृत और विष" में सांप्रदायिकता की तंग गली की कडी आलोचना की है । "अमृत और विष" में उन्होंने स्पष्ट ही लिखा है कि "ये पुरानी जातियाँ, धर्म और कबीले - यह अब बडी बक्वास की बाते हैं, जो ईमानदारी से देखने पर आज नई चेतनावाली दुनिया में ठीक तरह से जुड नहीं पाती । ये सब हिन्दू, मुसलमान, ईसाईपन की, जाति-महत्ता की बातों में

---

1. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद - पृ: 541 - डा. त्रिभुवन सिंह ।

विश्वास करनेवाले लोग ऐसे मालूम होते हैं, जैसे जवानी में बचपन के कपडे घसीट-घसीट कर पहने खडे हैं ।"[1] उन्होंने विभाजन का उल्लेख करना नहीं चाहा, फिर भी सांप्रदायिकता पर प्रहार किया है ।

विभाजन जनित शरणार्थियों की समस्याओं को आधार बनाकर जगदीश चन्द्र ने अपने दो उपन्यासों की रचना की है । "मुट्ठी भर कांकर", और "घास गोदाम" दोनों शरणार्थी समस्या पर प्रकाश डालने का काम करते हैं । "घास-गोदाम" पंजाबी शरणार्थियों के पुनर्निवास और वहाँ की जनता के विस्थापन से उत्पन्न समस्याओं संबन्धों एवं तनाव की बात करता है । पुनर्निवास केलिए ज़मीन एक्वयर की गयी है । परन्तु उन्हें वहाँ अपनी पुश्तैनी से वंचित होने का एहसास होता है । "मुट्ठी भर कांकर" में पंजाबी शरणार्थियों का दिल्ली जाना, वहाँ का पुनर्निवास एवं अपनी पुश्तैनी से बिछुडने का दर्द को प्रस्तुत किया है । लेखक की दृष्टि में देश-विभाजन का हेतु संप्रदाय नहीं, स्वार्थी राजनीति है । इसके बारे में डा. रामविनोद सिंह लिखते हैं कि "ये शरणार्थी निश्चय ही हिन्दू ही है, लेकिन इनके पुनर्निवास की समस्या के समाधान में हिन्दुत्व की गंध भी नहीं है । हर व्यक्ति अपनी ज़मीन की रक्षा करना प्रधान कर्तव्य मानता है । इससे ज़ाहिर है कि विभाजन के पीछे जातियों का संघर्ष नहीं है, बल्कि यह राजनीतिक निर्णय का दुष्परिणाम है ।"[2]

राकेश वत्स कृत "मधुवन" का आरंभ भी सांप्रदायिक दंगे और शरणार्थी कैम्पों के वर्णन के साथ हुआ है । बाद में कथा एक परिवार से जुडकर ही चलती है ।

पाकिस्तान का जन्म दो खण्डों में हुआ था एक पूर्वी पाकिस्तान और दूसरा पश्चिमी पाकिस्तान । पूर्वी पाकिस्तान के संबन्ध में भी हिन्दी में उपन्यास लिखे गये हैं । उनमें मुख्य है "छाको की वापसी" । इसमें बदी उज्जमाँ ने परिवेश से कट जाने और नए परिवेश से जुड जाने का मनुष्य की छटपटाहट को मार्मिक रूप से व्यक्त किया है । छाको, जो गया-निवासी था, वह विभाजन के कारण पूर्वी पाकिस्तान

---

1. अमृत और विष - पृ: 463 - अमृतलाल नागर ।
2. आठवाँ दशक के हिन्दी उपन्यास - पृ: 89 - डा. रामविनोद सिंह ।

पहूँचता है । पर वह अपने परिवेश से कट जाने से स्वयं अपने को खो जाता है और नए परिवेश से वह जुड भी नहीं पाता । इसे उपन्यासकार ने एक नेरैटर की सहायता से व्यक्त करने का प्रयास किया है ।

फणीश्वरनाथ रेणु के "जुलूस" में बंगाल के शरणार्थियों की विभिन्न समस्याओं का चित्रण है । बंग-भंग के समय पूर्वी बंगाल के शरणार्थि बिहार में आ बसे, पर उनके धार्मिक विचार उन्हें सताया रहा । उन्हें नये परिवेश में - मिट्टी में, रहन-सहन में, हर कहीं - अपने देश की छाप दिखाई नहीं देती । वहाँ के निवासियों की ओर से पाकिस्तानी कहकर तिरस्कार का दर्द हुआ और यहाँ तक सुनना पडा कि वे गोमांस खानेवाले हैं । इससे उनके स्वाभिमान पर ठेस पहूँचती है । एक ओर वे निर्वासित हैं और दूसरी ओर उपेक्षा एवं तिरस्कार के पात्र हैं , जिसकी वजह परायेपन की भावना उमडने लगी । ऐसे लोग अपनी स्मृतियों को भूला नहीं पाते और मन में रूष्टता एवं आक्रमण की चिन्ता लेकर जीने लगे । इसप्रकार "जुलूस" बंगाल के शरणार्थियों की परायेपन की स्थिति, उपेक्षित एवं तिरस्कृत मानसिकता इत्यादि को अभिव्यक्त करता है ।

तमस का कथाफलक

"तमस" विभाजनपूर्व भारत के पाँच दिन के सांप्रदायिक तनाव की कथा है । इसका कथा फलक बहुत विस्तृत तो नहीं है । मात्र पाँच दिन की घटनाओं को वह भी एक जिले की, इसमें पूर्ण समग्रता से प्रस्तुत किया गया है । कथा हिन्दू-सिख-मुस्लिम संप्रदायों के पारस्परिक विरोध एवं सौहार्द, गडबड एवं तबादले की है, जिनका हेतु अंग्रेज़ी सत्ता सिद्ध होता है । प्रस्तुत कथानक को भीष्म साहनी ने अपनी सामाजिक यथार्थवादी दृष्टि के साथ इक्कीस अध्यायों में प्रस्तुत किया है ।

चमडे का काम करनेवाला नत्थू चमार से कथारंभ होता है । मुराद अली, जो अंग्रेज़ों की कठपुतली बन गया है, उसे सुअर मारने का काम सौंप देता है । "हमारे सालोत्तरी साहिब को एक मरा हुआ सुअर चाहिए, डाक्टरी काम केलिए, "[1]-

----

1. तमस - पृ: 10 - भीष्म साहनी ।

कहकर पाँच रूपए का चरमराता नोट भी देता है । मुराद अली के काम को टाल देना नत्थू केलिए संभव नहीं है । क्योंकि वह "कमेटी का कारिन्दा होने के कारण बडे-छोटे सभी लोगों को उससे काम पडता था ।"[1] इसलिए नत्थू सुअर मारने को बाध्य होता है । मुसलमानी इलाके में सुअर मारना खतरा है, यह जानकर भी वह सुअर को मारने का प्रयत्न करता है । पिगरीवाले के सुअर को किसी-न-किसी तरह वह अन्दर ले जाता है । मारने केलिए उसे परिचित और अभी तक सुनी-सुनाई सभी उपायों को वह अपनाता है । "नत्थू ये सब तरकीबों कर चुका था । एक भी तरकीब काम नहीं आयी थी । इसके एवज उसकी अपनी टाँगों और टखनों पर जख्म हो चुके थे ।"[2] अन्त में किसी-न-किसी तरह सुअर मारा जाता है, तब मुर्गा की बाँग की आवाज़ सुनाई पडती है । फौरन वह घबराकर वहाँ से निकल जाता है ।

प्रभातफेरी केलिए सबेरे चार बजे ही काँग्रेस के सदस्य एकत्रित हो रहे हैं । उसमें जिला सेक्रटरी बख्शीजी, युवा शंकर और काश्मीरीलाल के अलावा जरनैल, मेहता, रामदास, अज़ीज़, हकीमजी, अजीतसिंह आदि हैं । सब एकत्रित नहीं हुए, अतः काश्मीरी और शंकर अपने चुटकियाँ लेने का काम शुरू करते हैं । शंकर के मन में मेहताजी से प्रतिशोध लेने का आग्रह है । एक बार लाहौर में काँग्रेस सम्मेलन चल रहा था । तब मेहताजी शंकर को बुलाया नहीं और उसकेलिए सह-भोजन का पैसा भी नहीं अदा करता है । उससे रूष्ट होकर शंकर सीधे लाहौर पहूँचता है और सहभोजन में मेहताजी के आगे बैठकर उसमें भाग भी लेता है । तबसे शंकर हर कहीं मेहताजी के विरुद्ध बोलता ही रहता है । सब एकत्रित हुए और प्रभातफेरी शुरू हुआ । रामदास गीत गाने लगा और मंडली गली से कुत्बदीन की ढोक तक पहूँचती है । तब दूसरी ओर से मुस्लिम लीग के नारों की आवाज़ें गूँज उठने लगीं । इन दोनों के नारें सुनकर नत्थू भी वहाँ पहूँचता है । दोनों दलों के बीच तनाव बढ़ने लगा । एक रूमी टोपीवाला रास्ता रोककर कह रहा है कि "काँग्रेस हिन्दुओं की जमात है । इसके साथ मुसलमानों का कोई वास्ता नहीं है ।"[3] बख्शीजी

---

1. तमस - पृ: 11 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 10 - वही ।
3. वही - पृ: 32 - वही ।

जवाब देता है कि "कांग्रेस सबकी जमात है । हिन्दुओं की, सिखों की, मुसलमानों की । आप अच्छी तरह जानते हैं महमूद साहिब, आप भी पहले हमारे साथ ही थे ।"[1] इस वक्त लीगी दल के पीछे कुछ हटकर खड़े मुरादअली का नक्शा नत्थू की नज़र में पड़ा और वह भागने लगता है । नत्थू सुअर मारकर घर की ओर जा रहा था । उसके मन में बीवी से मिलने की अकुलाहट और बदन में बदबू है । उसके मन में डर का बादल भी घेरा हुआ है । पर जन-जीवन साधारण ढंग से चलते देखकर वह कुछ आश्वस्त हो जाता है । "एक घर के सामने एक आदमी गली में बंधी गाय के पास खड़ा सानी-पानी कर रहा था । पास ही किसी घर में प्याले खनकने और हाथ में चूड़ियाँ खनकने की आवाज़ आयी । . . . बड़े सहज सामान्य ढंग से दिन का व्यापार शुरू हो रहा था ।"[2] लेकिन अचानक कांग्रेस और लीग के बीच के तनाव को देखकर वह घबराता है ।

प्रभातफेरी की मंडली गली को लांघकर इमामदीन के मुहल्ले में पहूँचकर तामिरी काम शुरू करती है । लोग इससे प्रभावित होकर सवेरे ही इसका निरीक्षण करते हैं और बधाइयाँ देते हैं । परन्तु अचानक वातावरण में तनाव उमड़ता है । आग की तरह कहीं से यह खबर फैल जाती है कि "कोई आदमी सुअर मारकर फेंक गया है ।"[3] खबर मिलते ही कांग्रेस-मंडली में असमंजस पैदा होता है । मुसलमान इलाका होने के कारण उनमें से कुछ लौट जाने को मज़बूर करने लगे । बात मालूम होते ही जरनैल कह रहा है कि यह "अंग्रेज़ों की चाल" है । गली में दूकानें बन्द होने लगीं, टांगों की यात्रा मन्द पड़ने लगी, और लोगों की सूरत भी बदलने लगती है । बख्शीजी और जरनैल सुअर की लाश को मस्जिद की सीढ़ियों से निकाल रहे हैं । इसी समय एक मुसलमान डंडा लेकर एक गाय का पीछा कर रहा है ।

---

1. तमस - पृ: 32 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 28 - वही ।
3. वही - पृ: 55 - वही ।

उसी दिन सबेरे दूसरी ओर जिला के डिप्टी कमीशनर रिचर्ड अपनी पत्नी लीज़ा के साथ प्रभात की प्राकृतिक छवि के आस्वादन करने जाता है । लीज़ा को भारत में रहना पसन्द नहीं है । बंगले में वह सदा अकेली होती है । वहाँ किताबों की ढेर और मूर्तियों के झुंडों के अलावा और कोई चेतनवस्तु नहीं है । लीज़ा को भारत में ठहराने केलिए रिचर्ड प्रयत्नशील है । वह यहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य, इतिहास, संस्कृति, सबके बारे में बताता रहता है । हिन्दु-मुस्लिम-सिख को पहचानने का तरीका भी सुनाता है । इन्हें अलग-अलग पहचानना "बडा आसान है, लीज़ा। मुसलमानों के नामों के अन्त में अली, दीन, अहमद ऐसे शब्द लगे रहते हैं जबकि हिन्दुओं के नामों के पीछे ऐसे शब्द जैसे लालचन्द, राम लगे रहते हैं । रोशनलाल होगा तो हिन्दू, रोशन दीन होगा तो मुसलमान, इक्बाल चन्द होगा तो हिन्दू और इक्बाल अहमद होगा तो मुसलमान ।"[1] इस बीच उसे शहर के हिन्दु-मुस्लिम तनाव का खबर मिलता है पर वह कहता है कि "अगर प्रजा आपस में लडे तो शासक को किस बात का खतरा है ।"[2]

लीग से चिढ़कर हिन्दू और सिख उसका एतराज करने की बात सोच रहे हैं । आर्यसमाजी वानप्रस्थिजी के नेतृत्व में साप्ताहिक सत्संग हो रहा है । उसके समाप्त होने पर हिन्दू एवं सिख धर्मों के नेता एक होकर एक मीटिंग शुरू करते हैं । मीटिंग में लीग की ओर से मस्जिदों में असला इकट्ठा करने की, डिप्टी कमीशनर से मिलने की और आत्मरक्षा केलिए सामग्रियाँ जुटाने एवं युवकों को मुकाबला करने केलिए सुसज्जित करने की बातों पर चर्चा होती है । इस बीच मीटिंग में धर्मशाला के बगल में गाय के टुकडों को बिखेरने की बात भी लायी जाती है । तब मीटिंग और भी गरम होती है । हिन्दुमहासभा की ओर से मास्टर देवव्रत युवकों को संभालने का कार्य ले लेता है । वह लाला लक्ष्मीनारायण के बेटा रणवीर को दीक्षा देकर नेता बना भी देता है ।

---

1. तमस - पृ: 38 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 47 - वही ।

शहर में तनाव बढ रहा है । विभिन्न संप्रदायों में आत्मरक्षा की तैयारियाँ चल रही हैं । संप्रदायों की लीकों का फासला दूर होता ही रहता है । कांग्रेस शहर में अमन बनाये रखने केलिए प्रयत्नरत होती है । बख्शीजी के नेतृत्व में सभी दलों के सदस्य का एक शिष्टमंडल रिचर्ड से मिलता है । कुशल रिचर्ड शिष्टमंडल को देखते ही बख्शीजी से शहर के गडबडों की बातें पूछता है । बख्शीजी शहर की घटनाओं के कारण दुःखी एवं रुष्ट है । वह रिचर्ड को शहर में पुलिस या फौज का प्रबन्ध करने का, कर्फ्यू लगाने का और नहीं तो कम-से-कम एक हवाई-जहाज़ उडाने का सुझाव देता है । परन्तु रिचर्ड सबसे फिसलकर पं. नेहरु से मिलने को कहता है । साथ ही अमन समिति बनाने का निर्देश भी पेश करता है । इस समय बाहर से किसी के कत्ल करने की बात भी सुनाई पडती है । उसके सुनते ही फौरन बातचीत समाप्त करके सब घर की ओर भागते हैं । मेहताजी और बख्शीजी एक टाँगे पर चढे तो भी "बख्शीजी को लगा जैसे टाँगों में बैठकर वह कोई भूलकर बैठे हैं ।"[1] अपनी-अपनी आत्मरक्षा केलिए हिन्दू-सिख-मुसलमान नुमाइन्दे एक साथ जाते हैं । रास्ते में लीगी मौलादाद कांग्रेसी हकीमजी को गलियाँ भी देता है । इस समय लीज़ा बंगले में ऊब से लडपती रहती है । वह कभी बीयर पीती है, कभी टहलती है और कभी लेटती है ।

दोपहर का समय है । शहर की विशेषकर शिवाले गली की हालत लगभग साधारण सी हो रही है । सबेरे की घटनाओं का तनाव ढीला हो रहा है । पर 1924 के फिसाद के समय शिवाले मन्दिर पर लगाया गया घडियाल को अब साफ कर रहा है । और उसकी मरमत भी कर रही है । उसे देखकर लोगों के मन में 1924 के दंगों की याद आती है । वास्तव में यह एक दुःसूचना बन जाती है । नानबाई की ओर से एक मनादी की गाडी आ जाती है । कुछ देर बाद जामामस्जिद के पीर साहब का आगमन होता है, जिसके चले जाने के बाद लोग भी छंटने लगते हैं । नत्थू वहाँ से उठकर बहुत कुछ खा-पीकर घर पहूँचता है जहाँ उसकी बीवी प्रतीक्षा करती रहती थी। तब तक वहाँ घडियाल की आवाज़ सुनाई पडती है और आग की लौ दिखाई पडती है । लीज़ा भी नत्थू की पत्नी के समान बंगले में इसका एहसास करती है । पर रिचर्ड उसकी फिक्र किए बिना लेटता है ।

---

1. तमस - पृ: 79 - भीष्म साहनी ।

लाला लक्ष्मीनारायण अपने घर में आत्मरक्षा की तैयारी कर रहा है । वह कुल्हाडी, डंडे आदि इकट्ठा करता है और अपनी रक्षा करने केलिए शाहनवाज़ को पत्र लिखता है । वह भय के आतंक से पागल लगता है । बेटा रणवीर के बारे में वह अधिक चिन्तित है । कभी वह रणवीर की खोज में निकलता है क्योंकि विश्वास न होने पर भी उसे पडोसी मुसलमानों की ओर से रक्षा का आश्वासन मिला है । चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा है । लालाजी छत पर खडे होकर शहर का निरीक्षण करता है । उसके कानों में हिन्दुओं और मुसलमानों के नारों की आवाज़ें आकर टकराती हैं । परन्तु हिन्दुओं की आवाज़ धीमी होने की वजह से वह दुःखी हो जाता है । साथ ही छत के नीचे से किसी के भागने का शब्द और "बचाओं" की पुकार भी सुनता है ।

सबेरे शहर सुनसान पडा है । श्मशान की भांति कहीं-कहीं से शहर में धुएँ उड रहे हैं । सारा मुहल्ला तनाव और सन्देह से निस्तब्ध हो रहा है । "मुहल्लों के बीच लीकें खिंच गई थीं, हिन्दुओं के मुहल्लों में मुसलमान को जाने की अब हिम्मत नहीं थी और मुसलमानों के मुहल्ले में हिन्दू-सिख अब नहीं आ-जा सकते थे । आँखों में संशय और भय उतर आये थे ।"[1] ऐसी अवस्था में जरनैल प्रभातफेरी केलिए आता है पर और किसी को न देखकर वह जनता से मांफी माँगकर चला जाता है । दूसरी ओर शाहनवाज़ लालाजी और उसके परिवार को सदरबाज़ार पहूँचाता है । उन्हें वहाँ उतारकर शाहनवाज़ अपनी गाडी में गली-गली घूमकर, अपने मित्र रघुनाथ के घर पहूँचता है । शाहनवाज़ का यह हिन्दू- संबन्ध मुस्लिम लीग को अखरता नहीं है, और लीगियों के कटाक्ष से वह रुष्ट हो जाता है ।

सबेरे ही दूसरी ओर कामरेड देवदत्त नहा-धोकर आज के कार्यक्रम के बारे में सोचता है । वह बख्शीजी और हयातबख्श को मिलाकर अमन कायम रखने का मार्ग ढूँढ रहा है । माँ-बाप के रोक को पारकर वह शहर की ओर जाता है । मगर रास्ते में ही उसे चेतावनी मिलती है । वह लाशों और धमकियों की ओर अनदेखा करके

---

1. तमस - पृः 122 - भीष्म साहनी ।

पार्टी की दफ्तर पहूँचता है । दफ्तर में कुल आठ आदमी हैं और उसमें से एक मुस्लिम काम्रेड कम्यून छोडकर चला जाता है । मीटिंग के बाद वह हर दलों के नुमाइन्दों को इकट्ठा करके दोपहर हयातबख्श के घर में मीटिंग चलाता है । मीटिंग में लीगी दल के हठ के कारण कुछ भी कार्य नहीं चलता है । हयातबख्श आधे घंटे तक अडिग रहता है कि "बख्शी कबूल करे कि वह हिन्दुओं की नुमइन्दगी करने आये हैं, कि कांग्रेस हिन्दुओं की जमात है ।"[1] इस समय रस्ते में मज़दूरों के बीच तक संघर्ष फैलता है, जिससे देवदत्त कुछ शिथिल हो जाता है । वह पिता की वजह रस्ते जाने में असमर्थ होता है । इस बीच जरनैल शहर में अमन का शान्ति दूत लेकर जाता है और मारा जाता है ।

मगर दूसरी ओर हिन्दुमहासभा और आर्यसमाज की ओर से युवकों के केन्द्र में नेता रणवीर के सिवा शंभु, इन्द्र और मनोहर म्लेच्छों को मारने के उपायों के बारे में सोचते हैं । उनका केन्द्र एक पुराना घर है । वहाँ बैठकर वीर इतिहास-नायकों की कथा की स्मृति में वे एक वायवी जगत् में विहरते हैं । रणवीर छुरा जेब में रखकर इत्रफरोश का पीछा करता है और नौबत मिलते ही उसे मारता है । इत्रफरोश घर-घर जाकर इत्तर-फुलेल बिकनेवाला एक दरिद्र बूढा है ।

नत्थू भय के आतंक से पीडित घर में चिलम पीकर बैठता है । वह अपने किए हुए काम की संगति और असंगति के बीच में तडप रहा है । उसका मन क्षीण, चंचल एवं विचलित है । वह कभी मुरादअली के पास जाना चाहता है और कभी भंगी के पास जाना चाहता है जिसने टाँगे पर सुअर चढाया था । वह कहीं जाने में असमर्थ निकलता है, क्योंकि उसे अपने ऊपर इलज़ाम लगाने का डर है । मैदान से जाते लोगों को देखकर भी वह ठिठकता है । इस समय वह अपनी पत्नी से सुअर मारने एवं पाँच रूपए की बातें तक कह देता है । डेरों में चमार लोग शहर के दंगों की बातें करते हैं । यह सुनकर नत्थू की पत्नी पहले घबराती है, फिर वह पति को सांत्वना देती है । वह घर से किसी प्रेत की छाया को भगाने केलिए कोठरी बुहारती रहती है, पर छाया कोठरी में नहीं मानव के मन में थी ।

---

1. तमस - पृ: 139 - भीष्म साहनी ।

दूसरे खंड की कथा शहर से हटकर गाँवों में चलती है और अन्त में शहर तक पहूँचती है। अतः पहले की अपेक्षा कथा में प्रवाह कम होता है। यहाँ से दंगे, लूट-पाट, आगजनी, बलात्कार, धर्मपरिवर्तन, तबादला और शरणार्थी समस्या सबका सटीक वर्णन शुरू होता है।

ढोक इलाहीबख्श मुसलमानों का एक छोटा देहात है जहाँ बूढे दम्पति हरनामसिंह और बन्तो रहते हैं। वहाँ जीविका चलाने केलिए हरनामसिंह एक दूकान चलाता है। गाँव में अभी तक कोई गडबड नहीं हुआ और वातावरण मौन रहता है। बन्तो पति से गाँव छोडकर खानपुर जाने को कहती है। पर आस्थावादी हरनाम इसे अनसुना करता है। पर कुछ देर बाद बूढा करीमखान खंखारते हुए बोला कि "हालत अच्छी नहीं हरनामसिंह, तू चला जा।"[1] इसके सुनते ही दोनों जानेकेलिए तैयार होते हैं। तब तक "अल्लाह-ओ-अक्बर" आवाज़ निकट आती ही रहती है। "बन्तों और हरनामसिंह अपने तीन कपडों में, और थोडी पूँजी और बन्दूक संभाले दूकान को ताला लगाकर बाहर निकल आए। घर के बाहर कदम रखते ही सारा प्रदेश पराया हो गया।" उनके निकलने के थोडी देर बाद बलवाई आकर दूकान को लूटकर आग लगा देता है। रातों-रात दोनों भटकते रहे और सबेरे वे ढोक मुरीदपुर पहूँचते हैं, पर वह भी मुसलमानी इलाका ही है। फिर भी बाध्य होकर वे दरवाज़ा खटखटाते हैं और राजो उनका स्वागत करती है। राजो को यह भी मालूम है कि अपने पति और पुत्र दोनों इसे पसन्द नहीं करेंगे। "क्षणभर केलिए वह औरत ठिठकी खडी रही, वह निर्णायक क्षण जब मनुष्य अपने समस्त संस्कारों, विचारों, मान्यताओं के पूँजीभूत प्रभाव के आधार पर कोई निर्णय लेता है। औरत कुछ देर तक उनकी ओर देखती रही। फिर उसने दरवाज़ा खोल दिया।"[3] फिर दोनों को राजो छत पर छिपा देती है। इस समय राजो के पति एहसन अली लूटकर लौट आता है। वह पहले विरोध करता है पर बाद में पनाह देता है। कुछ देर बाद बेटा रमज़ान पहूँचता है और वह खलबली करना शुरू करता है। मगर वह भी

---

1. तमस - पृ: 162 - भीष्म साहनी।
2. वही - पृ: 165 - वही।
3. वही - पृ: 187 - वही।

उन्हें भगाने व मारने में हिचकता है और उसका आग बबूला होना चूक भी जाता है । "काफिर को मारना और बात है, अपने घर के अन्दर के जान-पहचान के पनाहगज़ीन को मारना दूसरी बात । उसका खून करना पहाड की चोटी पार करने से भी ज़्यादा कठिन हो रहा था । मज़हबी जनून और नफरत के इस माहौल में एक पतली सी लकीर कहीं पर अभी भी खिंची थी जिसे पार करना बहुत ही मुश्किल था । उसे रमज़ान भी पार नहीं कर पा रहा था ।"[1] इसप्रकार रात तक उन्हें पनाह मिलता है और रात में राजो उस बूढे दम्पति को गाँव के छोर तक जाकर बिदाई देती है । दोनों रात के अंधेरे में रवाना शुरू करते हैं ।

इक्बालसिंह, हरनाम का पुत्र, अपने माँ-बाप की खोज में आ रहा था लेकिन रास्ते में रमज़ान और उसकी मंडली, जो ढोक इलाहीबख्श लूटकर आते हैं, उनकी दृष्टि में पडता है । वे इक्बालसिंह का पीछा करने लगे और पत्थरों की बौछार भी करने लगे । पत्थरों से हाथ-मुँह फटे इक्बालसिंह चार पैरों की सहायता से कराहते हुए खोह के बाहर आता है । बाहर आये इक्बालसिंह को वे इस्लाम कबूल करा देते हैं और कलमा भी पढाते हैं । धर्मपरिवर्तन को कबूल करते ही मुसलमान उसे छाती से लगाते हैं, मार-पीट, गाली-गलौज बन्द कर देते हैं और पूरा माहौल बदला देते हैं । उसका मुंडन करवाते हैं, मुँह पर कच्चा माँस डालते हैं और सुन्नत भी करवाते हैं । और "शाम ढलते-ढलते इक्बालसिंह के शरीर पर से सिखी की सब अलामतें दूर कर दी गयी थीं और मुसलमानी की सभी अलामतें उतर आयी थीं । पुरानी अलामतें हटाकर नयी अलामतें लाने की देर थी कि इनसान बदल गया था, अब वह दुश्मन नहीं था, दोस्त था, काफिर नहीं था, मुसलमान था । मुसलमानों के सभी दरवाज़ें उसकेलिए खुल गये थे ।"[2]

सैयदपुर गाँव सिख बहुल प्रदेश है । लेकिन बाहरवाले बलवाई के कारण सारा ग्रामीण गुरुद्वारे में एकत्रित हुए हैं । उसमें जसबीर कौर, जो हरनाम की बेटी है,

----

1. तमस - पृ: 198 - भीष्म साहनी ।

भी उपस्थित है । गुरुद्वारे में रसद-सामान और शस्त्रास्त्र सब इकट्ठा करने लगे । तीन सौ वर्ष पहले की भांति वे अब भी शत्रुओं पर लोहा लेने के पहले सब कुछ भूलकर गाते हैं । हर प्राणी आत्मरक्षा और कुरबानी के बारे में मात्र सोचते हैं । गुरुद्वारा किला बन जाता है । उसके "बायीं ओर स्त्रियाँ बैठी थीं, सभी ने दुपट्टों में मुँह-सिर लपेट रखे थे, सभी के चेहरे दमक रहे थे, सबकी आँखों में कुरबानी का नूर चमक रहा था । किसी-किसी स्त्री की कमर से कटार लटक रही थी ।"[1] अब उनका शत्रु अंग्रेज़ नहीं तुर्क है । गुरुद्वारे के पीछे कुछ दूर मुस्लिमों का शस्त्र-भंडार भी सजा रहा है । सिख मुखिया तेजासिंह तलवार लेते ही गुरुद्वारा नारे और अरदास के शब्द से मुखरित होने लगा । दूसरी ओर "अल्लाह - ओ - अक्बर" आवाज़ गूँज उठने लगी । कामरेड सोहनसिंह सिखों के बीच चेतावनी देता है कि "हम लोगों को मुसलमानों के खिलाफ भड़काया जा रहा है, और मुसलमानों को हमारे खिलाफ भड़काया जा रहा है । हम झूठी अफवाहें सुन-सुनकर एक दूसरे के खिलाफ तैश में आ रहे हैं । हमें अपनी तरफ से पूरी कोशिश करनी चाहिए कि गाँव के मुसलमानों के साथ मेल-जोल बनाये रखें और हत्तुलवसा कोशिश करें कि गाँव में फिसाद न हो ।"[2] पर उसे गद्दार कहकर चुप करा देता है । इस समय कसाई की गली में कामरेड मीरदाद भी समझौता और अमन की बातें करता है । पर वह भी असफल हो जाता है । दोनों ओर से नारे गूँज उठने लगते हैं । "तुर्कों के जहन में भी यही था कि वे अपने पुराने दुश्मन सिखों पर हमला बोल रहे हैं और सिखों के जहन में भी वे दो सौ साल पहले के तुर्क थे जिनके साथ खालसा लोहा लिया करता था । यह लड़ाई ऐतिहासिक लड़ाइयों की श्रृंखला में एक कड़ी ही थी । लड़नेवालों के पाँव बीसवीं सदी में थे, सिर मध्ययुग में ।"[3] दो दिन और दो रात तक युद्ध चलता रहता है । अब दोनों पक्ष थका-हारा होने की वजह नारों और गोली की आवाज़ें मन्द पड़ने लगती है । दोनों पक्ष की लाशें चारों ओर बिखर पड़ी है ।

---

1. तमस - पृ: 171 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 176 - वही ।
3. वही - पृ: 207 - वही ।

इस समय मुसलमान अत्याचारी आपस में गुलाम रसूल के घर में एकत्रित होकर अपने किए हुए बलात्कारों, हत्याओं की किस्सा सुनाते हैं । सिख स्त्रियाँ जसबीर कौर के पीछे एक-एक होकर कुए में कूद जाती हैं । कम्यूनिस्ट सोहनसिंह मारा जाता है । किशनसिंह का घर जलाया जाता है जिससे वह उदास हो जाता है । तेजासिंह समझौता करने केलिए एक लाख रूपए देकर छोटे ग्रंथीजी को भेज देता है, पर वह भी मारा जाता है । मगर वह अन्तिम लडाई की दीपशिखा बन जाती है । "अल्लाह- ओ -अक्बर", "सत् सिरी अकाल" के नारे गूँजने लगे । अन्तिम लडाई शुरू होती है जिसका अन्त रात में कब हुआ, पता नहीं है । सबेरे हर कहीं गिद्ध मंडरा रहे हैं । शहर में खामोशी ही खामोशी है । "सहसा वायुमंडल में एक अजीब-सा शब्द सुनाई देने लगा : गहरा, धीमा, घरघराता-सा शब्द । यह आवाज़ क्या थी? यह आवाज़ कोठरी में बैठे तेजासिंह ने भी सुनी, गुरुद्वारे की छत पर तैनात किशनसिंह ने भी सुनी, शेखों की हवेली में भी सभी के कानों में पडी । सभी ठिठक गए । मोटे कसाई का बेटा भी ठिठक गया, जो गुरुद्वारे को आग लगाने जा रहा था ।"[1] धीरे-धीरे सभी हाथ निश्चल हो गए याने अंग्रेज़ फिसाद को रोकने लगा है । "कस्बे का माहौल बदल चुका था । लोग बाहर आने लगे थे, लडाई बन्द हो गयी, लाशें ठिकाने लगायी जाने लगीं, कुछ लोग अपने गहनें-कपडों की जाँच करने अपने-अपने घरों की ओर चल दिए कि क्या बचा है, क्या कुछ लूट लिया गया है । सेवादार और निहंगसिंह गुरुद्वारे को धोने, साफ करने में लग गए । उधर शेख के हुक्म से मस्जिद भी बुहारी-धोयी जाने लगी । दोनों समुदायों के लोग अपने-अपने धर्मस्थान को, धो-धोकर साफ कर रहे थे ।"[2]

शहर में करफ्यू लगा दी जाती है । सारा माहौल बदलने लगा है । शहर के कोने-कोने फौजी तैनात कर रहा है । अमन के पालन केलिए स्वयं रिचर्ड हर कहीं घूम रहा है । वह अपने दौरे के बीच एक युवक पर गोली चलाता है । पानी, तन्दुरुस्ती, नाली-सबके इन्तज़ाम की पूछताछ करता है । लाशों को ढकने का कार्य चल रहा है । कुए की लाशों से रोग नहीं फैलने का प्रबन्ध भी करता है । रिचर्ड अपनी

---

1. तमस - पृ: 216 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 218 - वही ।

बीवी को शरणार्थियों की सेवा करने केलिए भी भेजता है । रिलीफ कमेटी बन जाती है और रिफ्यूजी कैम्प भी खोली जाती है । आंकडा बाबू नुक्सानों के आंकडे इकट्ठा करता है । अनेक हिन्दु-सिख आंकडे बाबू को घेर रहे हैं । आंकडे पूछते वक्त सभी अपनी-अपनी राम-कहानी भी सुनाना चाहते हैं । कुछ को घर, ज़मीन, गहनें, जायदाद आदि के आंकडे देना है तो कुछ को जबान बेटी, बेटा, माँ-बाप, पति-पत्नी और प्राणियों के आंकडे देना है । वास्तव में शरणार्थी कैम्प - कराहनेवालों पागलों, मूकों - हर तरह के लोगों की एक झुंड है । इस समय कामेड देवदत्त - "गरीब कितने मरे और खाते-पीते कितने मरे"[1] - उसकी फिक्र ही करता है ।

अन्त में अमन कमेटी बनाकर मनादी करने की तैयारियाँ चल रही हैं । मीटिंग ईसाई कालिज में होनेवाली है । वहाँ हिन्दू-सिख - मुस्लिम सबका मेल-मिलाप देखने लायक है । इसे देखकर निम्नवर्ग की बेकूफी के बारे में दो चपरासी आपस में बोलते हैं । वहाँ ज़मीन-संपत्ति की लेन-देन, परस्पर दोषारोपण, चुनाव लडने का मार्ग आदि की बातें चलते हैं । मगर बख्शीजी मौन ही दिखाई पडता है । अमन कमेटी में तीनों संप्रदायों के बीच वाद-विवाद चलता है । और अन्त में देवदत्त समझौता करने में सफल होता है । अमन कमेटी के सदस्य एक बस में चढते हैं, जिसपर लीग और कांग्रेस के झंडे के साथ यूनियन जैक भी फहरा रहे हैं । मैक्रोफोन हाथ में लेकर मुरादअली बुलाता है कि "हिन्दु-मुस्लिम एक हो ।" कमेटी का बस शहर में घूमता रहता है ।

तमस की मनोभूमि

भारत धर्मों एवं धर्म-भीरुओं का देश है । धर्म उनके जीवन में भौतिक स्तर की अपेक्षा मानसिक रूप में अधिक लिपटा हुआ लगता है । अतः जनता को धार्मिक विचार से अलग करना आसान कार्य नहीं है । क्योंकि उनमें विश्वास प्रबल है और बुद्धि या तर्क का दूसरा स्थान है । लोग सत्य को समझने पर भी कभी-कभी

---

1. तमस - पृ: 235 - भीष्म साहनी ।

सुविधापूर्वक उसे भूल जाते हैं और विश्वास पर जीते हैं । "तर्क का जवाब तो तर्क से दिया जा सकता है, पर विश्वास का जवाब तर्क के पास नहीं है ।"[1] अशिक्षा एक हद तक इसका सहायक बन जाती है । इस अडिग विश्वास एवं अशिक्षा से स्वार्थी एवं कुटिल राजनीतिक लोग फायदा उठाते हैं ।

"धार्मिक मतभेद अपने में खतरनाक चीज़ नहीं है, खतरनाक है अपना उल्लू सीधा करने केलिए उसे भडकाना ।"[2] भीष्म साहनी का यह उपर्युक्त मत सही लगता है । सन्मार्ग की ओर का अतीव आग्रह तथा पूर्णता को प्राप्त करने की इच्छा मनुष्य को धार्मिक बना देते हैं ।[3] ऐसे वक्त धर्म मानव केलिए हितकारक लगता है । उपन्यास में साहनीजी ने इसका समर्थन किया है । राजो कहती है कि "मेरा घरवाला तो अल्लाह से डरनेवाला आदमी है, तुम्हें कुछ नहीं कहेगा, पर मेरा बेटा लीगी और उसके साथ और लोग भी है ।"[4] वास्तव में यही तमस की मनोभूमि है ।

तमस लिखने की प्रेरणा

रचनाकार अधिक संवेदनशील व्यक्ति होता है । उसकी दृष्टि सजग रहती है । भारत की मुख्य समस्याओं में सांप्रदायिक समस्या एक है । इससे रचनाकार सजग रहता है और परिणाम स्वरूप अनेक रचनायें हमें मिलती हैं । "तमस" इन रचनाओं में प्रमुख है ।

भीष्म साहनी रावलपिंडी के थे । वे विभाजन के बाद पंजाब पहूँच गए । 1947 तक वे कांग्रेस में काम करते थे और आजकल वे भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी का सदस्य हैं । कांग्रेस भारत-विभाजन के विरुद्ध काम करती थी । तब स्वाभाविक

---

1. तमस - पृ: 162 - भीष्म साहनी ।
2. साहित्यिक साक्षात्कार - पृ: 269 - डा. रणवीर रांगा ।
3. इंडिया टुडे {मलयालम} - जनवरी-7, 1990 , पृ: 64 - {गुरु नित्यचैतन्य यति}
4. तमस - पृ: 189 - भीष्म साहनी ।

तौर पर लेखक भी इसमें भागीदार रहे होंगे । वे कांग्रेस के रिलीफ समिति में काम करते थे और घायलों, मरनेवालों, अनाथों का आंकडा इकट्ठा करते थे । इस अवसर उन्हें गाँव-गाँव एवं गली-गली में जाकर उस भयावह सांप्रदायिक हादसे को देखने का अवसर मिला ।[1] इसके अलावा उन्हें अपने बचपन से ही सांप्रदायिक वैर का अनुभव था । उन्होंने एक भेंट वार्ता में कहा है कि "रावलपिंडी में जहाँ हमारा घर था, वहाँ हिन्दुओं और मुसलमानों की मिली-जुली आबादी थी । मैं ने सांप्रदायिक दंगे अपनी आँखों से देखा है ।"[2] बचपन से आज तक उन्हें यह समस्या सताती ही रहती है । अतः उन्होंने सांप्रदायिकता पर अनेक रचनायें की हैं और साथ ही उनकी अन्य रचनायें भी इससे पूर्णतयः मुक्त नहीं हो पाती है । देश-विभाजन के बाद भी यह समस्या मिटा नहीं, वह रक्तबीज के समान कहीं-कहीं और भी तेज़ी होती दीखती है । भीष्मजी ने "तमस" लिखने के कारणों के बारे में एक बार कहा है कि "किसी चीज़ ने डिस्टर्ब किया होगा । अब याद नहीं कि वह घटना क्या थी । सांप्रदायिकता की समस्या बंटवारे के साथ खत्म नहीं हो गयी । वह मनोवृत्ति, वह रवैया आज भी हमारे समाज में रह-रहकर अपना भयावह रूप दिखाते हैं ।"[3] उन्होंने हाल ही में "तमस" के प्रेरणास्त्रोत के बारे में अपना मत यों प्रकट किया है । लगभग उस समय भिवंडी या और कहीं हुए सांप्रदायिक दंगे मुझे विभाजनकालीन स्मृतियों की ओर ले आया और मैं ने इस उपन्यास लिखने का निर्णय भी लिया ।[4]

---

1. "I worked in the Congress relief Committee and collected statistics of those killed and wounded and houses burnt down. It was then that I got an opportunity to roam from village to village and to see the ghostly sights of communal riots". p.47 - The Week - February 14, 1988.

2. व्यक्ति और रचना - पृ: 21 - सं. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर ।

3. वही - पृ: 21.

4. "There had been a Communal riot in Bhiwandi or some where else, near about that time which had bought back to me memories of the days of the partition and I had felt prompted to write this Novel".
Indian Express - February 1988 (Random thoughts on Thomas By Bhishan Sahini).

इसप्रकार "तमस" लिखने की प्रेरणा एवं संवेदना दोनों लेखक का भोगा हुआ यथार्थ हैं । 1971 के सांप्रदायिक दंगे ने उनकी सुषुप्त अनुभवों को जगा दिया और वह "तमस" लिखने की प्रेरणा बन गयी । इसी वर्ष में उन्होंने "अमृतसर आ गया है" नामक कहानी भी लिखी है , जो सांप्रदायिकता एवं विभाजन पर आधारित है ।

तमस: लिखने का कारण क्या राजनीतिक है या सांप्रदायिक?

"तमस" सांप्रदायिक एवं साम्राज्यवादी रानीति का दस्तावेज़ है । इसमें सांप्रदायिकता, स्वाधीनता संग्राम और विभाजन के आम आदमी की त्रासदी भी हैं । न्यायाधीश बी. लेंटिन और श्रीमती सुजाता के अनुसार यह "हमारे उस अभिशाप्त अतीत की स्मृति है, जिसमें इनसान को भेडिया बनाना सिखाया था ।"[1] धर्म मनुष्य का सन्मार्ग की ओर का प्रस्थान है और राजनीति अनुशासन, सुरक्षा एवं शासन केलिए है । दोनों जनता का हितैषी है ही । परन्तु इन दोनों को भडकाया जाता है । धर्म भडकाने से अंधा बन जाता है और राजनीति कभी-कभी भ्रष्ट होती है । धर्म जनता में अफीम का कार्य करता है और उसकी मस्ती से जनता पूर्णतया मुक्त होना नहीं चाहती है । वह उसकेलिए प्राण देनेकेलिए भी तैयार होती है । और लोग मुल्ला, पुजारी, पंडित और पुरोहितों को देवता का प्रतीक तक मानते हैं । इसलिए बूढा करीमखान कहता है कि "हाकिमों के मन की थाह पाना आम आदमी के बस का नहीं होता, हाकिम दूर की सोचता है, उसके हर फेअल के पीछे दूरअन्देशी पायी जाती है । जो कुछ वह देखता है उसे आम इनसान नहीं देख पाता ।"[2] इसप्रकार "धर्म द्वारा उत्पीडित मनुष्य अपनी परिस्थितियों को सह्य बनाता है । उसके भ्रम में रहकर सांत्वना प्राप्त करता है, क्रूर दमन भी धर्म की आड में दिव्य पवित्रता का वस्त्र पहन लेता है ।"[3] ऐसे धर्मावलंबी मानव को कुटिल राजनीतिक, स्वार्थी धार्मिक नेता एवं दलाली लोग अपनी चाल में चलाते हैं ।

---

1. नव भारत टाइम्स [जनवरी 24] 1988.
2. तमस - पृ: 93 - भीष्म साहनी ।
3. आलोचना-अप्रैल-जून, 1989 - पृ: 10 - सं. नामवर सिंह ।

भारत में धार्मिक भेदभाव अधुनातन नहीं है । राजा-महाराजाओं के समय से लेकर आजकल भी वह कायम है लेकिन इसका सही एवं समर्थ प्रयोग अंग्रेज़ों ने किया है । वे यहाँ के मुख्य धर्मों का पालन करके धार्मिक नेताओं के हितैषी बन गये । साथ ही साथ उन्होंने धर्मों के बीच फासले को बढाने का काम स्वयं लेते वक्त अपने दलालों पर भी सौंप दिया । "1857 में हिन्दु और मुसलमान दोनों मिलकर अंग्रेज़ों के विरुद्ध लडे थे । अंग्रेज़ों ने इसके मर्म को समझा । उन्होंने हिन्दुओं की उपेक्षा करके मुसलमानों को प्रश्रय देना प्रारंभ कर दिया ।"[1] अंग्रेज़ी सत्ता एवं उसके संबन्धियों ने अपना काम ज़ारी किया । उसका प्रत्यक्ष परिणाम है बंग-भंग, चुनाव लडने केलिए आरक्षण और निर्णायक अवसर की निस्संगता । इससे हिन्दू-मुस्लिम फासला और चौडा होने लगा । लीग से धर्म के आधार पर पाकिस्तान की माँग करने लगे । इसके फलस्वरूप हिन्दू और मुसलमान के बीच का दरार चौडा हो गया साथ ही कांग्रेस और लीग के बीच में भी दरारें पडने लगे । "दरअसल धर्म व्यवस्था के अपने हित संरक्षण का एक कारगर हथियार रहा है । यही कारण है कि प्रत्येक धर्म को प्रश्रय ही नहीं मिला है बल्कि उसका खूब पोषण हुआ है ।"[2] स्वयं भीष्मजी ने भी अंग्रेज़ी शोषण तथा उसकी चाल और उसे समझकर भी लोगों की निस्संगता, इन सबके बारे में सही बात कह दी है । "अंग्रेज़ों ने पहली बार व्यापक स्तर पर इन मतभेदों को भारतवासियों के खिलाफ एक राजनीतिक शस्त्र के रूप में इस्तेमाल किया, और हमारी स्थिति की विडंबना इसी बात में रही कि हम उसकी कूटनीति को जानते-समझते हुए भी धर्म के नाम पर भडक उठे, देश को दो-दो टुकडे होने दिये, और परस्पर द्वेष का विष फैलने दिया । धार्मिक मतभेदों को जब बढ़ावा दिया जाता है तो उनके पीछे अक्सर आर्थिक और राजनीतिक मनसूबे काम कर रहे होते हैं ।"[3] श्री गोरख पांडेय सांप्रदायिक वैर और विघ्टनवाद केलिए अज्ञता एवं अशिक्षा को मानते हैं । विश्व समुदाय और अधिकांश मुस्लिम जनता धर्म को सबसे परे मानते हैं पांडेयजी का मत इससे मिलता जुलता है । "शोषक वर्ग अपनी इच्छा के अनुसार

---

1. साहित्य और सामाजिक मूल्य - पृ: 88 - डा. हरदयाल ।
2. दस्तावेज़ {31-32} - सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ।
3. साहित्यिक साक्षात्कार - पृ: 269 - रणवीर रांग्रा ।

इन विश्वासों को और मज़बूत करता है, स्वयं को उसके द्वारा छुपा लेता है तथा मानव के भावनात्मक अस्तित्व की इस सीधी अभिव्यक्ति को अपने हितों केलिए प्रयुक्त करता है । शोषण की व्यवस्था पर प्रश्न उठाया जा सकता है, किन्तु धर्म का क्षेत्र हर संभव प्रश्न से परे मान लिया जाता है । वास्तविकता की सही पहचान न होने तथा धार्मिक भ्रम में खोए रहने के कारण जनता क्रांतिकारी ढंग से इस समाज को बदलने में सक्रिय नहीं होती ।"[1]

निस्सन्देह हम कह सकते हैं कि "तमस" के मूल में साम्राज्यवादी एवं जातिवादी राजनीति है । यह राजनीति धार्मिक लोगों के विश्वास को चूसती है । इस राजनीति के पीछे अंग्रेज़ी सत्ता है, स्वार्थी धार्मिक एवं राजनीतिक नेता हैं और उनके दलाल भी हैं । और इसके मूल में अंग्रेज़ों की "भेद-नीति" ही कार्यरत है । इसलिए उपन्यास के अंग्रेज़ी शासक अपनी पत्नी लीज़ा से कहता है कि "डार्लिंग , हुकूमत करनेवाला यह नहीं देखते कि प्रजा में कौन-सी समानता पायी जाती है, उनकी दिलचस्पी तो यह देखने में होती है कि वे किन-किन बातों में एक दूसरे से अलग है ।"[2] आगे वह अपनी भेद-नीति को और भी स्पष्ट करता है कि "अगर प्रजा आपस में लडे तो शासक को किस बात का खतरा है ।"[3] याने "तमस" का वास्तविक कारण धर्म नहीं राजनीति है ही । वह अपनी स्वार्थ-पूर्ति केलिए धर्म को भडकाती रहती है और अपने को सुरक्षित एवं स्थायी बना रखती है । धर्म को भडकाकर लोगों को अन्धा बनाने केलिए कुटिल राजनीति दलालों एवं धार्मिक नेताओं को साथ लेती है । अतः धर्म और राजनीति परस्पर मिलजुलकर रहते हैं । उपन्यास में मुराद अली दलाल का काम करता है । शासक के दलाल के रूप में वह सुअर मरवाता है और मस्जिदों की सीढियों पर फिंकवाता है । फिर वह मुस्लिम लीग के झुंड के पीछे दिखाई पडता है[4] और अन्त में अमन समिति के बस में शान्ति-दूत के रूप में भी प्रत्यक्ष होता है ।[5] इसतरह सांप्रदायिक दंगे फैलाने,

---

1. आलोचना, अप्रैल-जून 1989 - पृ: 10 - भीष्म साहनी ।
2. तमस - पृ: 45 - भीष्म साहनी ।
3. वही - पृ: 47.
4. वही - पृ: 33.
5. वही - पृ: 253.

पकिस्तान की माँग करने, हत्याकांड, लूट-पाट, आग-जनी सबको भड़काने में और अमन कायम करने, सबमें मुराद अली का हाथ है । साधारण जनता को भड़काने में धार्मिक नेताओं का हाथ है । क्योंकि जनता उन्हें "परम" मानती है ।[1] धार्मिक नेता शासक को भला-मानस दिखाने की कोशिश भी करते हैं ।[2] संक्षेप में कहे तो "तमस" लिखने का मूल कारण स्वार्थी एवं कुटिल राजनीति है और उसके सहायक दलाली लोग एवं धार्मिक नेता {स्वार्थी} भी है ।

तमस: आम आदमी की त्रासदी

तमस विभाजन की त्रासदी की कहानी है । वह "सामान्य जनता द्वार भोगी गयी उस त्रासदी को प्रस्तुत करता है जो परायी कुटिल नीति एवं स्वार्थता का परिणाम है ।"[3] लेखक ने इसमें अनेक त्रासदीय सन्दर्भों एवं पात्रों को प्रस्तुत किया है जो बीच बीच में आज भी उभरता रहता है । तमस में चित्रित मानवीयता और त्रासदी ने ही गोविन्द निहलानी को सबसे पहले आकर्षित किया है । उन्होंने लिखा है कि तमस में जो गहरी मानवीयता और त्रासदी का अंकन हुआ है इसी तथ्य ने मुझे प्रथमत: उसकी ओर आकर्षित किया है ।[4] डा. धर्मवीर भारती ने तमस के त्रासदीय सन्दर्भों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "ट्रैजडी के इन धूमछाही रंगों में इतिहास का संघर्ष तो है ही, संकीर्ण धर्मान्ध सांप्रदायिकता के खूनी अंधड के बीच हर धर्म के लोग किसप्रकार मानवीय मूल्य और पारस्परिक प्रेम की सहज संवेदना को प्राणपण से बचाये रहने का दुःसाहसी

---

1. तमस - पृ: 93 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 176.
3. "Thamas high lights the trauma befalting the common man what he has to suffer for no fault of his own" - (Govind Nihalani) Illustrated Weekly of India (January 31 - February 6), 1988- Pritish Nandi.
4. "And it was precisely this element in the original novel that attracted me to it in the first place the tremendous humanism and compassion" - Ibid.

प्रयास करते हैं, इसका भी मार्मिक चित्रण है ।"[1] भीष्मजी का उद्देश्य दंगे पर ज़ोर देना और उसके माध्यम से आगे की पीढी को इस त्रासदी से बचाना भी है । साथ ही "परिस्थितियों के दबाव में सूखते जानेवाले स्नेह-सूत्रों तथा टूटते जानेवाले आदर्शों एवं मूल्यों और विसंगतियों से उत्पन्न होनेवाला दर्द उन्होंने गहनता तथा उत्कटता से स्थापित किया है ।"[2]

तमस की त्रासदी सम्पूर्ण भारत एवं मानवता की कारुणिक कथा है । इसमें हिन्दु-मुस्लिम-सिख जनता की त्रासदी को लेखक ने बडे स्वाभाविक एवं सहज ढंग से चित्रित किया है । हिन्दु-मुस्लिम-सिख जनता राजनीति एवं धर्म की चाल में पडकर अपने दुश्मनों को भूलकर परस्पर लडती है । सारा सिख समुदाय गुरुवचन एवं स्वाभिमान की रक्षा केलिए अपने को कुरबान कर देता है । हिन्दू-मुस्लिम जनता आपस में लूट-पाट, आग-जनी, मार-काट और बलात्कार केलिए तैयार होती हैं । इसप्रकार आम आदमी इस हादसे का शिकार होता है । इसके बारे में न्यायाधीशों का कहना है कि तमस "भारत"पाक विभाजन पूर्व दुखद् काल की कहानी है । इसमें इसका चित्रण है कि किस तरह दोनों संप्रदायों के कठमुल्लों और अतिवादियों ने जातीय दंगे भडकाये और किसतरह मासुम लोग उनके नापाक इरादों के शिकार बने ।"[3] मासुम लोगों में अधिकांश इस त्रासदी के पीछे कार्यरत राजनीति, दलालीवृत्ति एवं धर्म के बारे में अनभिज्ञ है । भीष्मजी के अनुसार "कोई बहुत ही अनजान आदमी ऐसा होगा जिसे इन दंगों के पीछे अंग्रेज़ों की क्रूर और कुटिल नीति का हाथ नज़र आता हो ।"[4] यह आम आदमी की कथा होने के कारण कोई प्रमुख पात्र नहीं है । कथा में अनेक पात्र आते-जाते हैं और कुछ पात्र एक ही चमक में अपना असर छोडता है । ऐसे पात्रों में नत्थू, जरनैल सिंह, हरनाम सिंह एवं बन्तो, इक्बाल सिंह और राजो मुख्य है ।

---

1. धर्मयुग - 21 फरवरी, 1988 - सं. गणेश मंत्री ।
2. उपन्यास समीक्षा के नये प्रतिमान - पृ: 108 - डा. दंगल झाल्टे ।
3. नवभारत टाइमस - जनवरी 24, 1988.
4. वही - फरवरी 21, 1988.

<u>नत्थू</u>

उपन्यास के कथापटल पर सबसे पहले नत्थू, एक निर्धन चमार आता है । वह कस्बे का चमार है, धर्म एवं उसके आचार-विचार पर विश्वास करता है । अज्ञता, ईमानदारी, एवं निष्कपटता उसके गुण हैं । इन सबकी वजह से वह पापबोध, धर्मभीरुता इत्यादि का शिकार हो जाता है ।

नत्थू ने अभी तक सुअर मारा नहीं, चमडा उतारना मात्र उसका काम रहा था । "मुराद अली से रोज़ काम पडता था, नत्थू कैसे इन्कार कर देता ।"[1] क्योंकि उसे मुराद अली से काम मिलता था और पाँच रुपया अग्रिम पेशगी भी स्वीकार किया है । वह सुअर को मारने केलिए सुनी-सुनाई सभी मार्गों का इस्तेमाल करने पर भी मरता नहीं है । "नत्थू ये सब तरकीबें कर चुका था । एक भी तरकीब काम नहीं आयी थी । इसके एवज़ उसकी अपनी टांगों और टखनों पर जख्म हो चुके थे । चमडा साफ करना और बात है, सुअर मारना बिलकुल दूसरी बात ।"[2] अन्त में किसी न किसी तरह सुअर मारा जाता है तबसे नत्थू बेचैन हो उठता है ।

तनाव, भय, खीझ इत्यादि से आतंकित नत्थू घर लौटता है । बीच में उसका पैर एक "टोने" से टकराता भी है । "उसे लगा जैसे उसके पाव से टकराकर कोई चीज़ बिखर गई है । फिर वह समझ गया और समझते ही उसका शरीर झनझना उठा । . . . कोई बदनसीब औरत अपना क्लेश किसी दूसरे घर पर डालने केलिए "टोना" कर गयी थी । नत्थू ने इसे अपनेलिए अपशगुन समझा ।"[3] इसकी वजह से धर्म भीरु नत्थू पापबोध का शिकार भी बन जाता है ।

बेचैन नत्थू शहर की गली-गली में घूमकर परिस्थिति को आँकने का प्रयास करता रहा । बीच-बीच में उसे आश्वासन मिलता रहा था । "एक प्रकार की

---

1. तमस - पृ: 11 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 10.
3. वही - पृ: 27.

धुकधुकी जो सुबह से उसे परेशान करती रही थी, एक अज्ञात-सी आशंका जो उसके दिल को कुरेदती रही थी, अब बहुत दूर हो गयी थी ।"[1] परन्तु वह आश्वासन क्षणिक मात्र था । उसने अपना दौरा खत्म नहीं किया और इस बीच एक फकीर से डरकर भागता है ।

नत्थू ईमानदार एवं निस्वार्थ है । वह कुटिल राजनीति या स्वार्थी धर्म से अनभिज्ञ है । मुराद अली की इस नीति से अनभिज्ञ होने के नाते वह इस दलदल में पड जाता है । भीष्मजी के शब्दों में "सुअर मारनेवाले उस नत्थू चमार को यह बात बार-बार कचोटती रहती है कि उसी ने सुअर मारकर ये दंगे करवाए हैं, यह उसी के "पाप" का फल है ।"[2] इसलिए नत्थू "सब जानकर अनजान होकर चलनेवाले मुराद अली" के पीछे भागता है । "नत्थू लडखडाता हुआ मुराद अली के पीछे हो लिया । आगे और ज़्यादा अन्धेरा था मगर दूर मुराद अली की काया उसे बराबर नजर आ रही थी । वह गिरता पडता बढता गया । जैसे-तैसे वह भागने लगा था । हुज़ूर को बताना तो बहुत ज़रूरी है कि काम पूरा हो गया है ।"[3] फिर भी नत्थू ने उसका पीछा करना नहीं छोड दिया और अन्त में उसे पीछा करना भला न लगा । तब मुराद अली को "पीठ पीछे से नत्थू को फिर लगा जैसे कोई प्रेत बढता जा रहा है, दूर होता जा रहा है लेकिन आँखों से ओझल नहीं हो रहा ।"[4]

थके-हारे नत्थू परेशान होकर घर पहुँचता है । साधारण तौर पर नत्थू पीकर अधिक बोलनेवाला था । लेकिन आज वह हतबुद्धि-सा बैठ रहा है । "नत्थू का शरीर सिर से पाँव तक झनझना उठा । वह आँखें फाडे छत की ओर देखे जा रहा था । लगता था जैसे उसे लकवा मार गया हो ।"[5] एक ओर दंगे फिसाद की अफवाहें

---

1. तमस - पृ: 100 - भीष्म साहनी ।
2. नवभारत टाइमस 21 फरवरी, 1988 - भीष्म साहनी ।
3. तमस - पृ: 104 - वही ।
4. वही ।
5. वही - पृ: 109.

सुनकर उसका दिल बैठ जाता है तो दूसरी ओर पापबोध, धर्म भीरुता एवं अपने पिता की बात - "इज्जत की रोटी खाना" - उसे और भी चिन्ता में डुबा देते हैं । इसी समय उसके मन में मुसलमानों से भी डर है क्योंकि सुअर उसने ही मारा है । इन सबके दबाव में आकर वह अपनी बीवी से सारी बातें कह देता है और तात्कालिक शान्ति पाता है । डा. महीप सिंह के अनुसार "सुअर मारनेवाला नत्थू एक अजीब से तनाव को भोगता है और उसके कारण बौराया-सा रहता है । अन्त में अपनी पत्नी से सबकुछ कहकर वह कुछ शान्ति पाता है ।"[1] नत्थू की मृत्यु दंगे में होती है तब उसके मन को चिर-शान्ति मिलती है ।

जरनैल सिंह

जरनैल "तमस" का सबसे जीवन्त पात्र है । वह तन-मन से गाँधीजी का शिष्य है । उसी तरह सत्यता, निडरता एवं निष्ठा उसके कर्मों में है ही । वही उसके जीवन का सार भी है । परन्तु उसका सनकीपन एक अभिशाप भी है । सत्यवक्ता जरनैल का काम स्वाधीनता के लिए जनता को एकत्रित करना है ।

जरनैल देखने में उम्र से अधिक बूढा लगता है । परन्तु वह उसके बारे में बेफिक्र है । उसका जीवन जैल में ही था । "जरनैल की उम्र पचास के कुछ ऊपर ही होगी पर बरसों की जेल के बाद उसके शरीर में कुछ रह नहीं गया था । जहाँ शहर के अन्य कांग्रेसियों को कम-से-कम बी-क्लास मिलता था, जरनैल को हमेशा सी-क्लास में डाला जाता रहा, जिससे वह बीमार भी पडता रहा और बालू से भरी रोटी भी खाता रहा पर जरनैल ने न तो तोबा की, न ही अपनी जरनैली वर्दी को छोडा । ... पुलिस के लाठी चार्ज में जहाँ बाकी लोग जान बचाकर निकल जाते थे, वहाँ जरनैल अपनी सनक का मारा अपनी छोटी-सी झुर्रियोंभरी छाती फैलाए खडा रहता था और पसलियाँ तुडवाकर आता था ।"[2] कांग्रेस के हर काम में वह भागीदार होता है । उसे कमाने की

---

1. संचेतना, 1975 - पृ: 43 - अतिथि सं. हरदयाल ।
2. तमस - पृ: 24 - भीष्म साहनी ।

चिन्ता नहीं है । वेश-भूषा अजीब ढंग का है । जूते फटे थे और मैले खाकी की वर्दी पहनता है । सिर पर मूँगिया रंग की पगडी भी । कोट पर गाँधीजी एवं नेहरू के तमगे लगा देता है । व्यवहार भी सनकीपन की वजह साधारण तो नहीं है । वक्त-बेवक्त अपनी खरज-फुसफुसाती आवाज़ में भाषण देना, जिद करना उसका आदत है । "जरनैल ही एक ऐसा आदमी था जो आन्दोलन हो या न हो, जैल जाता रहता था, जलसे हो या न हो, शहर में स्वयं तकरीरें करता फिरता था, हर आए दिन शहर में कहीं न कहीं उसकी पिटाई हो जाया करती थी ।"[1] वह हर काम केलिए आगे हैं । मस्जिद के आगे से सुअर हटाने, नाले साफ करने, प्रभात फेरी में भाग लेने, अमन का सलाह देने चाहे जो भी हो वह सबके आगे हैं ।

जरनैल में एक ओर जोश है तो दूसरी ओर वह निडर एवं निस्वार्थ है । अतः वह वक्त-बेवक्त को पहचानता नहीं । वह दंगे के वक्त मुस्लिम इलाके में जाकर - "श्री जवहरलाल नेहरूजी ने रावी के किनारे पूर्ण स्वराज्य की शपथ ली थी, और वह वहाँ रावी के किनारे नाचे थे और मैं भी नाचा था और हम सबने शपथ ली थी"[2] - पुराने शपथ की याद दिलाता है । वह गाँधीजी के शब्दों को दुहराकर अमन का अपील करता है "साहिबान, गाँधीजी ने कहा है कि हिन्दू-मुसलमान भाई-भाई है । इन्हें आपस में नहीं लडना चाहिए । मैं आपसे, बच्चे, बूढे, जवान, मर्द और औरतों सभी से अपील करता हूँ कि आपस में लडना बन्द कर दें । इससे मुल्क को नुक्सान पहूँचता है । देश की दौलत इंग्लिस्तान में जाती है, अंग्रेज़ - यह गोरा बन्दर - हमपर हुकूम चलाता है ।"[3] इसप्रकार वह सदा स्वाधीनता एवं एकता की दुहाई देता ही रहता है ।

जिस देश की स्वाधीनता, अखंडता एवं भलाई केलिए वह प्रयत्नशील था, उसकी हत्या वहाँ की सन्तानों के हाथों से होना जरनैल जैसे राजनीतिक कार्यकर्ता के जीवन की विडंबना है । वह शान्ति-दूत का काम करता है, देशीय एकता केलिए प्राण

---

1. तमस - पृ: 19 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 140.
3. वही ।

न्योछावर करनेकेलिए तैयार होता है । वह कहता है कि "मैं भी कहता हूँ पाकिस्तान मेरी लाश पर बनेगा, हम एक हैं, हम भाई-भाई हैं, हम मिलकर रहेंगे । इतना कहते ही "तेरी माँ की - आस-पास खडे लोगों में से एक ने कहा और लाठी के एक ही भरपूर वार से जरनैल की खोपडी फोड दी ।"[1] इस प्रकार शुभचिन्तक जरनैल का शुभचिन्तन समाप्त हो जाता है ।

सचमुच जरनैल एक जीवित पात्र है, इतिहास सत्य है । इसके बारे में भीष्मजी ने लिखा है कि "जरनैल ज़िन्दगी में से उठाया हुआ पात्र है, उसे मेरे सैकडों हमवतनों ने पहचान लिया है और उस सनकी पात्र की इमानदारी, लगन, प्रतिबद्धता देश की एकता में अटूट विश्वास, इतने बरस बीत जाने पर भी दिल को गहरे में छू जाता है ।"[2]

हरनाम सिंह एवं बन्तो

मानवीयता की संकट-स्थिति का एक अमूर्त-चित्र भीष्म साहनी हरनाम-परिवार के ज़रिए देते हैं । हरनाम परिवार और उस इलाके के मुसलमानों के बीच का सौहार्द एवं बर्ताव और उसके बिगड जाने का दृश्य दिखाकर कैसे संप्रदाय मानवीयता का गला घोंट देता है, दिखा देते हैं । प्रस्तुत परिवार विभाजन के वक्त के आम आदमी का सही प्रतिनिधित्व करता है । व्यक्ति के बीच आपस में कोई वैमनस्य, मनमुटाव या जिद तो नहीं , वे परस्पर अच्छा व्यवहार करते हैं । मगर वे धर्म व संप्रदाय के नाम पर आपस में पशुओं की तरह लडते हैं और मनुष्यत्व का अंश ऊपर उड जाता है ।

ढोक इलाहीबख्श उस बूढे दम्पति के लिए सबकुछ है । हरनाम सिंह एक चाय की दूकान चलाता है जिसमें चारों ओर के लोग आते हैं । अतः हरनाम सिंह मिट्ठी से अधिक अपने परिवेश से कहीं अधिक जुडा हुआ है । अपने परिवेश एवं मिट्ठी से

---

1. तमस - पृ: 141 - भीष्म साहनी ।
2. नव भारत टाइमस - फरवरी - 21, 1988.

ज़मीन - जायदाद से उखड जाना मानव केलिए दर्दनाक कार्य है । परन्तु परिस्थितियों के धक्के से वह उखाड फेंकता है । हरनाम सिंह अपने परिवेश से इतना जुडा हुआ है कि उसे तोडना तर्क या बुद्धि केलिए संभव नहीं है । उसकी जगत तर्क की नहीं विश्वास की है । "जहाँ बन्तो का दिल किसी-किसी वक्त डूबने लगता था, वहाँ हरनाम सिंह एक बार भी विचलित नहीं हुआ । उसका चेहरा बराबर खिला रहा । सारा वक्त वह गुरु महाराज का नाम लेता रहा और उसे देखकर बन्तो को भी त्राण मिलता था ।"[1] सांप्रदायिक उन्माद के आगे विश्वास या तर्क केलिए कोई स्थान नहीं । धार्मिक भावना तेज़ी से घायल हो जाती है और अन्धी हो जाती है । इसके आगे हरनाम दम्पति भी ठिक नहीं पाया । मौत की छाया मंडराने लगी, विश्वास और तर्क का स्थान पलायन ने ले लिया है । ऐसी अवस्था में आकर हरनाम सिंह कहता है कि "मरने मारने पर नौबत आ गयी तो मैं पहले तुम्हें मार दूँगा, फिर अपने को मार डालूँगा ।"[2]

पति-पत्नी घर छोडने का निर्णय लेकर दरवाज़े पर ताला लगा देते हैं । "घर के बाहर कदम रखते ही सारा प्रदेश पराया हो गया । कहाँ जायें? किधर को घूमें? बाये हाथ को गाँव फैला था, उसी ओर कस्सी थी और कस्सी के पार से बलवाइयों के ढोल सुनायी दे रहे थे । दायी ओर पक्की सडक् खानपुर की ओर चली गयी थी, उस ओर जाना खतरे से कम खाली नहीं थी ।"[3] दोनों दिशाहीन अन्धेरे में भटकने लगे । दोनों परेशान हो गए और बन्तो चल भी नहीं पाती है । तब अपने पति से कहती है कि "तुम चलते जाओ जी, रुको नहीं ।"[4] यहाँ मौत का डर उन्हें डसने लगा था । "बन्तो का मुँह सूख रहा था और हरनाम सिंह की टाँगें बार-बार लडखडा जाती थीं । पर इस समय केवल वे दो ही नहीं, अनगिनत लोग दर्जनों गाँवों में से इसी भांति जान बचाने घूम रहे थे, अनेक लोगों के कानों में टूटते किवाडों की आवाज़ें पड रही थी ।

---

1. तमस - पृ: 162 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 163.
3. वही - पृ: 165.
4. वही - पृ: 167.

पर उनके पास न सोचने केलिए वक्त था, न भविष्य के मनसूबे बाँधने केलिए वक्त था जैसे-तैसे जान बचा पाने केलिए । उस वक्त तक चलते जाओ जब तक रात के साये तुम्हें अपनी ओट में लिए हुए हैं । शीघ्र ही दिन चढ आएगा और ज़िन्दगी के खतरे चारों ओर से भूखे भालुओं की तरह हमला कर देंगे ।"[1] आगजनी, लूट-पाट, मार-काट इत्यादि भयावह दृश्य देखकर व भोगकर मनुष्य कभी कभी निश्चिन्त होता है । हरनाम सिंह अपनी जलती दूकान को देखकर कहता है "क्या है बन्तो, दूकान जल रही है, और क्या है ।"[2]

हरनाम दम्पति रात-भर घूमकर पौ फटते वक्त राजो के घर पहूँचते हैं । वहाँ उन्हें थोडी हिचक के बाद स्वागत तो मिलता है परन्तु वातावरण अच्छा नहीं था । शरणदाता ही अपने लीगी बेटे के प्रति सन्देह प्रकट करती है । ऐसी अवस्था में शरणार्थी हरनाम अपनी बीवी से कहता है कि "अगर कोई बुरी बात हो गयी बन्तो, हमारी जान पर बन आयी तो मैं पहले तुम पर गोली चलाऊँगा, तुम्हें अपने हाथ से खत्म कर दूँगा ।"[3] यहाँ जनता का आत्मभिमान प्रज्ज्वालित होता है । एक ओर निरीह जनता अभिमानी है तो दूसरी ओर अपने धर्म का आचारानुष्ठान का पालन भी करती है । अतः जनता सन्मार्गी है साथ ही छल-कपट में फंसती भी है । अपने आचार-विचार की वजह दोनों राजो के हाथ से लस्सी स्वीकार करने में हिचकते हैं ।

एहसन अली के पीछे रमजान भी पहूँचता है । अली हरनाम का परिचित व्यक्ति है मगर बेटा रमजान तो धार्मिक उन्माद में उबलता रहता है । उसके आगे "दोनों बलि के बकरे नज़र आ रहे थे ।"[4] और अन्त में बूढा दम्पति शरणार्थी कैम्प में पहूँचते हैं । अपनी संपत्ति एवं जायजा, बेटा एवं बेटी खोकर शरणार्थी कैम्प में रहनेवाले बूढे-दम्पति अधिकारियों का मुँह ताक रहे हैं जिनका मान-अभिमान सब कुछ चूर गया है । ऐसी अनेक कारुणिक घटनायें उक्त सांप्रदायिक दंगे में हुई हैं ।

---

1. तमस - पृ: 168 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 168.
3. वही - पृ: 191.
4. वही - पृ: 196.

इक्बाल सिंह

इक्बाल सिंह हरनाम दम्पति का एकमात्र पुत्र है । वह एक मुसलमान इलाके में, कुछ दूर रहनेवाला है । दंगे के वक्त माँ-बाप की खोज में निकला इक्बाल सिंह पकडा जाता है ।

इक्बाल सिंह का इक्बाल अहमद बनाना मानवीयता पर एक शर्मनाम हादसा है । माँ-बाप की खोज में निकला इक्बाल सिंह धार्मिक पाखण्डों द्वारा घेरा जाता है । मुसलमान बलवाइयाँ उसका पीछा करके पत्थरों की वर्षा करते हैं । "ढेले बराबर तीनों खोहों में पडते रहे । पर थोडी देर बाद एक खोह में से कराहने-बिलकाने की दबी-दबी आवाज़ आने लगी । अब हमलावरों को यकीन हो गया कि वह इसी खोह में दुबका बैठा है, और ढेलों की बौछार और तेज़ हो गयी ।"[1] इस समय इक्बाल सिंह अपनी सारी मान-मर्यादाओं और आस्थाओं को छोडकर बाहर आता है । "खोह के अन्दर से हाथों और पैरों के बल चलता हुआ सरदार खोह के मुँह पर आ गया । उसकी पगडी खुलकर गले में लटक आयी थी, कपडे मिट्ठी से सने थे और जगह-जगह से फट गये थे और ढेलों के कारण उसका माथा और घुटने जगह-जगह से सूज रहे थे, और जख्मों में से खून रिस रहा था ।"[2] खोह से बाहर आने के पहले ही उससे मुसलमान बनने का वादा ले लेते हैं । फिर भी वे उसकी खिल्ली उठाते हैं । तब ग्लानि से ग्रस्त होकर वह कहने लगा कि "देखो रमजान जी, मुझे अभी भी धक्के लगा रहे हैं । उसने उठते हुए बिलबिलाकर कहा, उस बालक की तरह जिसे अच्छा व्यवहार करने की सौगन्ध खाने के बाद भी पीटा जा रहा हो ।"[3] तब इक्बाल की स्थिति मर्मभेदक है ही । "उस वक्त आत्मसम्मान के निम्नतम स्तर तक पहूँच चुका था, जब जीवन से चिपके रहनेवाला त्रस्त जीव केवल गिडगिडा सकता है, रेंग सकता है, हंसने केलिए कहे तो हंस देगा, रोने केलिए कहो तो रो देगा ।"[4]

---

1. तमस - पृ: 202 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 203.
3. वही - पृ: 204.
4. वही ।

इतना होने पर वह मुस्लिम कबूल करा दिया गया, कलमा पढाया गया, मुंडन करवाया गया और उसका सुन्नत भी करवाया गया । इसके सिवा और भी पैशाचिक दृश्य है कि "बाये हाथ से इक्बाल सिंह का मुँह खोला और दायें हाथ में पकडा मांस का बडा-सा टुकडा जिसमें से टप-टप खून की बूँदे चू रही थी, इक्बाल सिंह के मुँह में डाल दिया । इक्बाल सिंह की आँखें बाहर आ गयीं । उसका सांस रुक गया था ।"[1] इससे बडी त्रासदी मानव जीवन में नामुमकिन-सा लगता है । मानसिक एवं शारीरिक ताडनों के अलावा उसे अपने माँ-बाप, बहिन, घर-परिवार, धर्म, आचार-विचार सब खाना पडे । इसके अलावा अपने माँ-बाप, बहिन और अपने को प्रताडितों के बीच में रहना भी एक दुरनियति है ।

बख्शीजी

बख्शीजी एक और त्रासद चरित्र है । अपने वैयक्तिक जीवन ही नहीं, राजनीतिक जीवन भी सहानुभूतिपरक है ही । आरंभ से अन्त तक वह कांग्रेस में काम करता है, स्वाधीनता, शान्ति एवं एकता केलिए काम करता है ।

बख्शीजी कांग्रेस का मुख्य कार्यकर्ता है । प्रभातफेरी, तामीरी काम इत्यादि में वह उस इलाके का नेतृत्व संभालता है । इस बीच लीगवालों से कांग्रेस की धर्मनिरपेक्षता के बारे में बताता है । "कांग्रेस सबकी जमात है । हिन्दुओं की, सिखों की, मुसलमानों की । आप अच्छी तरह जानते हैं महमूद साहिब, आप भी पहले हमारे साथ ही थे ।"[2] आगे वह कांग्रेस के अन्य धर्मावलम्बियों को दिखाता भी है । इस प्रकार के विरोधों के अलावा बीच-बीच में उसे सहकर्मियों का मुकाबला करना पडता है । कांग्रेस के आपसी झगडे में वे मध्यस्थ का काम करता है । इतना करने पर भी वे सशक्त नेता के रूप में वह उभर नहीं पाया । देवदत्त के अनुसार वह "सोलह साल जेल में रह चुका था । भले ही उसका जेहन साफ न हो, राजनीतिक गुत्थियाँ सुलझाने में वह

----

1. तमस - पृ: 206 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 32.

असमर्थ हो, लेकिन वह ख़ूँरेज़ी नहीं चाहता । वह तुनक-तुनककर पिछले दिनों में सबसे बोल रहा है । क्योंकि वह बौखलाया हुआ है, अन्दर से परेशान है, स्थिति उसके काबू में नहीं है ।"[1] एक ओर मुस्लिम लीग, गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति एवं हिन्दू महासभा गृहकलह में तुले हुए हैं तो दूसरी ओर अंग्रेज़ी सरकार उसे प्रोत्साहन भी देती रहती है । इसलिए शहर में अमन कायम करने की कोशिश असफल रहती है । इससे निराश होकर वह कहता है कि "क्या नहीं किया है? मुस्लिम लीगवालों के पास गए हैं कि शहर में अमन रखने केलिए हमारे साथ मिलकर काम करो, डिप्टी कमीश्नर के पास गए हैं कि फौज बैठाओ और फिसाद को रोको । और हम कर ही क्या सकते थे?"[2] वह अंग्रेज़ों की चाल और दलाली कामों से भी भिन्न है । परन्तु धर्म द्वारा भड़काये लोगों के कानों में उसका कहना नहीं पहूँचता है । इससे परेशान होकर थके-हारे बख्शीजी कहता है कि "फिसाद करवानेवाला भी अंग्रेज़, फिसाद रोकनेवाला भी अंग्रेज़, भूखों मारनेवाला भी अंग्रेज़, रोटी देनेवाला भी अंग्रेज़, घर से बेघर करनेवाला भी अंग्रेज़, घरों में बसानेवाला भी अंग्रेज़ ।"[3]

जीवन से बख्शीजी एक योगी है, उसकेलिए "न रन्न न कन्न"।[4] लौकिक जीवन में पराजित वह अपने राजनीतिक जीवन में भी असफल होता है । इसतरह की असफलताओं के फलस्वरूप वह अन्त में बुद-बुदाता है कि "चीलें उड़ेंगी, अभी और उड़ेंगी...।"[5]

<u>तमस के कट्टरवादी</u>

"धर्म जनता की अफीम"[6] है । यह कट्टरवादियों केलिए मात्र सौ-फी-सदी ठीक होगा । मगर धार्मिक का कट्टरवादी होना अनिवार्य नहीं है । क्योंकि

---

1. तमस - पृ: 139 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 223.
3. वही ।
4. वही - पृ: 81 - "तुम्हारा क्या है, तुम तो साधु-बैरागी हो, तुम्हारी न सन्न न कन्न ।"
5. वही - पृ: 253.
6. आलोचना - अप्रैल - जून, 1989.

"सन्मार्ग की ओर अतीव आग्रह तथा पूर्णता को प्राप्त करने की इच्छा मनुष्य को धार्मिक बना देते हैं ।"[1] इसकी पुष्टि लेखक भी करते हैं । उनके अनुसार धर्म स्वतः हानिकारक तो नहीं है, उसे भटकाना ही खतरनाक है । उपन्यास में राजो के मुँह से वे कहलवाती है कि "मेरा घरवाला तो अल्लाह से डरनेवाला आदमी है, तुम्हें कुछ नहीं कहेगा, पर मेरा बेटा लीगी और उसके साथ और लोग भी है ।"[2] लेकिन धार्मिक अन्धे एवं कट्टरवादी धर्म को समझे बिना अपने अपने धर्म को सबसे श्रेष्ठ दिखाने का प्रयास करते हैं । कभी-कभी अपने स्वार्थ की पूर्ति केलिए भी धर्म का दुरुपयोग करते हैं । इसकेलिए धार्मिक नेता जनता को धर्म के बन्धन में बाँधना चाहते हैं । धर्म द्वारा उत्पीडित मनुष्य धर्म के नाम पर सबकुछ सहता है । वह पंडित, पुजारी, मुल्ला, पीर, गुरु इत्यादि को देवता का प्रतिनिधि मानता है । ऐसे प्रतिनिधि केलिए जनता के दिल को पकडना और भडकाना आसान कार्य है । धर्म विश्वास पर चलता है और धार्मिक नेता भावुकता पर जीता है । इसीलिए धर्म सबसे जल्दी घायल हो जाता है और घायल धर्म मनुष्यत्व का परित्याग कर "धर्म" की रक्षा करता है । यहीं कट्टरवादी निकलता है । उपन्यास में रणवीर, तेजासिंह, महमूद साहिब, देवव्रत, वानप्रस्थिजी, लाला लक्ष्मीनारायण, हयातबख्श, पीर साहब, निहंग सिंह इत्यादि कट्टरवादी के रूप में उभरते हैं । उपन्यास में रणवीर तेजासिंह और मुहमूद साहिब ही अधिक तेज़ नज़र आते हैं । अतः हम उनपर विचार करेंगे ।

रणवीर

रणवीर हिन्दू धर्मावलम्बी व्यापारी लाला लक्ष्मीनारायण का इकलौता बेटा है । वह अखाडा संचालक देवव्रत के शिष्य के रूप में आता है । वह बचपन से हिन्दू वीर नायकों की कहानियाँ सुनता था । उसके मन में हिन्दू एवं हिन्दू नायकों -

---

1. India Today (Malayalam) January 7, 1990 - p.64.
2. तमस - पृ: 189 - भीष्म साहनी ।

शिवजी एवं महाराणा प्रताप - का चित्र ही उभरकर आता है । पुराण और इतिहास की कहानियाँ सुनाकर उसके स्वप्न में हिन्दूनायक को पला है । ऐसे रणवीर उत्साही नज़र आता है । उसके "पीछे-पीछे चलते हुए पन्द्रह साल के तरुण रणवीर के दिल में उमंगें लहरों की तरह उठ रही थीं और रोम-रोम पुलक रहा था ।"[1] युवक रणवीर दीक्षा लेकर नायक बनने का स्वप्न देख रहा है । आज उसकी परीक्षा होगी और परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ तो दीक्षा मिलेगी । "रणवीर उम्र में छोटा था, इसीकारण उसकी आँखों में अभी भी कुतूहल और सरल विश्वास झलकते थे, उसमें संजीदगी नहीं थी जो विशिष्ट परीक्षण केलिए ज़रूरी है । पर संजीदगी न सही, उत्साह तो था, मास्टरजी के आदेश पर मर मिटने की क्षमता तो थी, दृढ संकल्प तो था ।"[2] उसकी संकल्प शक्ति एवं दृढता को और सुदृढ़ बनाने केलिए वेद, योगी, योगशक्ति इत्यादि की बातें सुनायी जाती हैं । रणवीर की परीक्षा चलती है । "पर रणवीर के माथे पर पसीना आ गया था और उसका चेहरा बुरी तरह से पीला पड गया था । मास्टरजी समझ गए कि उसे मतली आनेवाली है ।"[3] दूसरी बार वह परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है और युवकसंघ का नायक बन जाता है । ऐसे वह धर्म द्वारा उत्पीडित हो जाता है और "धार्मिक" बन जाता है ।

रणवीर म्लेच्छों का दुश्मन बन गया है । उसके अनुसार "म्लेच्छ तो गन्दे लोग होते हैं, म्लेच्छ नहाते नहीं, पाखाना करके हाथ नहीं धोते, एक दूसरे का झूठ-खा लेते हैं, समय पर शोच नहीं जाते . . . ।"[4] इसप्रकार पडोस का मोची, मंजीफा माँगनेवाला फकीर, इत्रफरोश, गाडीवाला सब म्लेच्छ बन जाते हैं । परन्तु देवव्रत के सुझाव के अनुसार मुसलमान मात्र म्लेच्छ निकलता है । और वह एक दिन इब्राहिम इत्रफरोश, जो इत्र-फुलेल लेकर गली गली जाकर बिकता है, की हत्या करके अपने नायकत्व की पुष्टी करता है । इस बीच वानप्रस्थीजी के निर्देशानुसार कडाही लेने के लिए भी

----

1. तमस - पृ: 64 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 65.
3. वही - पृ: 67.
4. आज़ादी की कहानी - पृ: 160 - मौलाना आज़ाद ।

वह उद्यत होता है, और हलवेवाले की दूकान से दूकानदार के "दाए गाल पर खून की धार" बहाकर कड़ाही भी लेता है । ऐसे युवक रणवीर कट्टरवादी हिन्दू बन निकलता है ।

<u>मुहमूद साहिब</u>

इतिहास की भांति "तमस" में मुसलमान ही अधिक धार्मिक-राजनीति की चाल में आ गए हैं । इतिहास में हिन्दू महासभा की भांति उपन्यास में कट्टरवादी हिन्दू महासभा का चित्रण हुआ है । मुसलमानों का चित्र भी इसीप्रकार इतिहास सत्य है । इतिहास में जिन्ना का हठ एवं कट्टरता स्पष्ट झलकता है ।[1] उपन्यास में मुहमूद साहिब और हयातबख्श यही पेश करते हैं । "यह सब हिन्दुओं की चालाकी है बख्शीजी, हम सब जानते हैं, आप चाहे जो कहें, कांग्रेस हिन्दुओं की जमात है और मुस्लिम लीग मुसलमानों की ।"[2] इस वादा से मुहमूद साहिब यह सिद्ध करना चाहता है कि कांग्रेस को मुसलमानों का नुमाइन्दगी करने का अधिकार नहीं है ।

मुहमूद साहिब अब रूमी टोपी पहनकर लीगी बन गया है । पर वह भी पहले कांग्रेस का कार्यकर्ता रहा था । अब धार्मिक नीति की राजनीति में फंस गया है । वह सदा लीग को ही मुसलमानों का रक्षक मानकर चलता है । उसका रोष हिन्दुओं की अपेक्षा कांग्रेस में कार्यरत मुसलमानों से है । वह बख्शीजी से कहता है कि "अज़ीज़ और हकीम हिन्दुओं के कुत्ते हैं । हमें हिन्दुओं से नफरत नहीं इनके कुत्तों से नफरत है । . . . मौलाना आज़ाद हिन्दुओं का सबसे बड़ा कुत्ता है । गाँधी के पीछे दुम हिलाता फिरता है, जैसे ये कुत्ते आपके पीछे दुम हिलाते फिरते हैं ।"[3] मुहमूद में धार्मिक नीति की राजनीति की अन्धता है । वह आगे घोषणा करता है कि "हिन्दुस्तान की आज़ादी हिन्दुओं केलिए होगी, आज़ाद पाकिस्तान में ही मुसलमान आज़ाद होंगे ।"[4]

---

1. हिन्दूस्तान में कई राष्ट्रीयतायें हैं जिनका आधार धार्मिक भेद है । इनमें प्रमुख राष्ट्र दो हैं - हिन्दू और मुसलमान, और अलग-अलग राष्ट्र होने के नाते उनके अलग-अलग राज्य भी होने चाहिए - पृ: 160 - आज़ादी की कहानी - मौलाना आसाद ।
2. तमस - पृ: 32 - भीष्म साहनी ।
3. वही ।
4. वही ।

तेजासिंह

सिख समुदाय इतिहास एवं भावुकता पर जीते हैं । गुरु उनका धार्मिक एवं राजनीतिक नेता है । तेजासिंह सिख-मुख्य है । उसके वचनों को अमर मानकर सिख समुदाय जीते रहते हैं । गुरु वचन पर अडिग रहनेवाले सिख-समुदाय - कर्मों, वचनों एवं भावनाओं से - सदियों पुराना हैं । "तीन सौ साल पहले भी ऐसा ही गीत दुश्मन से लोहा लेने से पहले गाया जाता था । आत्मबलिदान की भावना से ओत-प्रोत वे सबकुछ भूले हुए थे । इस विलक्षण क्षण में उनकी आत्मा अपने पुरखाओं की आत्मा से जा मिली थी, वे फिर से जैसे अतीत में जा पहुँचे थे । तुर्कों के साथ लोहा लेने का फिर से समय आ गया था ।"[1] तेजासिंह के नेतृत्व में सिख समुदाय सबकुछ करने केलिए तैयार हैं ।

तेजासिंह बहुत भावुक दिखाई पडता है । वह भावुकता के सहारे सारे सिख समुदाय पर विजय प्राप्त करता था । गुरुद्वारे की दहलीज़ पर सिर नवाते वक्त भी उसका हाथ काँप रहा था । वहाँ से "आकर गुरु ग्रंथ साहब की वेदी के सामने माथा नवाने केलिए झुक गए । यहाँ भी देर तक झुके रहे । उनका चेहरा लाल हो गया और टप-टप आँसू फर्श पर बिछी सफेद चादर पर बराबर गिरते रहे ।"[2] सिख समुदाय अपने आध्यात्मिक एवं राजनीतिक गुरु की भावुकता पर लीन हुए और उसकी आज्ञा का पालन करने केलिए तैयार हो गए हैं । "सारी संगत दम साधे देखे जा रही थी, सभी के कलेजे दिल को आ रहे थे । जब तेजासिंहजी उठे तो एक लहर-सी सारे हाल में दौड गयी ।"[3] अपने में वशीभूत समुदाय को वह कुरबान करना चाहता है, धर्म के नाम पर । वह भगवान के जीभ से बोलने लगा कि "हमारे इम्तहान का वक्त आ गया है, हमारी आजमाइश का वक्त आ गया है । महाराज का इस वक्त एक ही हुक्म है कुरबानी।।कुरबानी । कुरबानी ।"[4]

---

1. तमस - पृ: 170 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 174.
3. वही ।
4. वही - पृ: 175.

तेजासिंह की चेतना में अंग्रेज़ नहीं था । "शहर और प्रान्त में बैठे अंग्रेज़ अधिकारियों की ओर भी नहीं, मानो देश में उनका कोई अस्तित्व न हो । अस्तित्व था तो तुर्क का ।"[1] इस झूठे विश्वास से सोहनसिंह जनता को मुक्त करना चाहता था तब अपनी भावुकता के बल पर ही उसे दबाया जाता है । उसके अनुसार अंग्रेज़ी शासक भला मानस है । बात यह है कि रिचर्ड से इसका निकट का संबन्ध भी है । जनता को भटकाकर सबकी हत्या करवाई गयी । फिर भी तेजासिंह अपनी पूँजी को सुरक्षित रखना चाहता है । समझौते केलिए रुपए देने को कहते वक्त भी वह हाथ मलता है । तब एक आदमी कहता है कि यदि "देना चाहें तो दो लाख आप अकेले दे सकते हैं, तेजासिंहजी, आपने बडी माया इकट्ठी की है ।"[2] तब भी उसकी ओर ध्यान दिए बिना तेजासिंह चर्चा जारी करता है ।

तेजासिंह कट्टरवादी का सही प्रतीक है । वह एक ओर जनता को भटकाने एवं भडकाने में सफल हुआ तो दूसरी ओर पूँजी एकत्रित करने में भी । यहाँ कट्टरवादी का स्वार्थ सबसे अधिक स्पष्ट हुआ है ।

तमस की प्रासंगिकता

स्वातंत्र्योत्तर युग में हिन्दी के औपन्यासिक क्षेत्र ने काफी विस्तार पाया है । इस युग में उपन्यास साहित्य की मुख्य चेतना सामाजिक रही है । प्रस्तुत सामाजिकता को लेखकों ने अपनी-अपनी मान्यताओं और संवेदनाओं के बल पर प्रस्तुत कियाहै। मैला-आंचल, झूठा-सच, अन्धेरे बन्द कमरे, अलग-अलग वैतरणी, मुरदाघर, यह पथबन्धु था, तमस, राग-दरबारी, आधा गाँव, जिन्दगी नामा, उखडे हुए लोग, मुट्ठी भर कांगर, पानी और पुल इत्यादि इस बीच के बहुचर्चित औपन्यासिक कृतियाँ है ।

---

1. तमस - पृ: 173 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 210.

देश-विभाजन एवं सांप्रदायिकता संबन्धी अनेक उपन्यास इस काल में प्रकाशित हुए हैं। आजकल इस प्रकार के उपन्यासों की प्रासंगिकता बढ रही है। क्योंकि देश में इतिहास की वह दुखद घटना की याद दिलाने लायक स्थिति मौजूद हो रही है। एक और पंजाब एवं काश्मीर है तो दूसरी ओर रामजन्मभूमि व बाबरी मस्जिद मामला भी है। इसलिए "तमस" की प्रासंगिकता बढ रही है।

भारत-विभाजन सन् 1947 में हुआ। परन्तु सांप्रदायिक दंगे एवं उससे जुडी राजनीतिक हलचलें उसके पहले ही शुरू हुई थीं। भारत-पाक् जनता केलिए विभाजन एवं तत्कालीन हादसा एक अच्छा पाठ होने पर भी जनता उसे भुला दी है। अत: विभाजन के बाद भी सांप्रदायिक हलचलें शुरू हुई तब भीष्म साहनी ने जनता को अवगत कराने के लिए इतिहास का सहारा लेकर "तमस" की रचना की है। तमस उपन्यास की सबसे बडी प्रासंगिकता भी वही है। इतिहास की गलती को दिखाकर जनता को चेतावनी देना एवं दंगे और त्रासदी का यथार्थ चित्रण करके जनता को सच्चाई की ओर लाना उनका मतव्य रहा है। "तमस" के सृजन के बाद ही नहीं, उसका प्रसारण दूरदर्शन द्वारा किया जाने के बाद भी जनता गल्ती को मानने केलिए तैयार नहीं है। तमस के प्रसारण को कट्टरवादी एवं धार्मिक नीति के राजनीतिज्ञों द्वारा बन्द करने का प्रयास हुआ था। इसीलिए दिल्ली के दोनों न्यायाधीशों ने कहा है कि "जो इतिहास भुला देता है, वे दोहराने केलिए अभिशाप्त है।"[1] दूरदर्शन द्वारा उसका प्रसारण भी उसकी प्रासंगिकता को दिखाता है ही। क्योंकि आजकल देश में हर कहीं विघटनवाद एवं धार्मिक मनमुटाव बढ रहा है। साथ ही साथ सांप्रदायिक एवं साम्राज्यवादी राजनीति की ताकत बढती रही है। इसके बारे में शासक भी सहमत है।[2] यह भी सच है कि इस राजनीतिक - धार्मिक गढबन्धन में विदेशी हाथ है। उपन्यास में

---

1. नवभारत टाइमस (जनवरी 24) 1988.

2. "... Notes a recent Home Ministry document, adding that the growing temptation to Communalise politics has become a strong impediment to the normalisation of communal relations" - p.26 - India Today (January 3) 1990.

धार्मिक लोग बाहर की सहायता लेकर इलाकेवालों से लडते हैं, इसके बारे में सोहन सिंह कहता है कि "अगर उन्हें मुरीदपुर से असला आ रहा है तो क्या हम लोग कहूटा से असला मंगवाने की कोशिश नहीं करते ।"[1] इसके अलावा सांप्रदायिक झगडे को शुरू कर देने के बाद बीच-बीच में आग में घी डालने का काम भी अंग्रेजी सत्ता करती है । इसकी जानकारी कुछ लोगों को हैं । "हमें खबर मिली है कि अभी घण्टा-भर पहले आपके अंग्रेज़ पुलिस अफ्सर राबर्ट साहिब ने जबरदस्ती से एक मुसलमान परिवार को एक घर में से निकाला है । इससे उस सारे इलाके में तनाव बढ गया है, क्योंकि वह मुसलमान एक हिन्दू मालिक मकान का किरायेदार था ।"[2] इस प्रकार आज भी विदेशी हाथ मौजूद है, लेकिन कहीं नाम और कहीं रंग बदला हो । आजकल पंजाब और काश्मीर के मामलों के पीछे पाकिस्तानी हाथ है । सांप्रदायिकता की वृद्धि के बारे में सब जानकार हैं । सन् 1989 में जनवरी से सितम्बर के बीच में करीब 336 आदमी मारे गये हैं ।[3] सांप्रदायिक हलचलें दिन-ब-दिन बढकर अपने चरम कोटि तक पहूँची हैं । ध्यान देने की बात यह है कि सन् 1971 में अतिभावुक घोषित घटनाओं की गिनती 80 रहा था वह पिछले वर्ष में 213 तक पहूँचा । अतिभावुक जिलों की संख्या पिछले वर्ष में 82 रही, उसने 1989 में अभी ही सौ को पार कर दिया ।"[4]

---

1. तमस - पृ: 177 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 76.
3. 'This year, between January and September some 336 people have been killed' - p.27 - India Today - January 3, 1990.
4. 'Also alarming in the fact that against 80 communal incidents classified as hyper sensitive in 1971, the number rose to 213 last year. The number of hyper sensitive districts last year was 82, in 1989 the hundred mark has already been crossed' - p.27 - India Today - January 3, 1990.

विभाजन संबन्धी उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य उसकेलिए कारण बन गयी धार्मिक एवं सांप्रदायिक अन्धता और साम्राज्यवादी ताकतों की चाल और दंगे में खोई हुई मानवीयता का अंकन करना है । इसकेलिए दंगे पर ज़ोर देना अनिवार्य है । डा. प्रभातकुमार त्रिपाठी के अनुसार "सांप्रदायिक दंगों को लेकर की जानेवाली बहसों में जो सबसे बडी गलती की जाती है वह यह है कि इनमें सांप्रदायिकता के ऊपर ज्यादा जोर दिया जाता है और दंगों पर कम । अगर ज़रा भी ठंडे दिल से सोचा जाए तो यह समझने में देर न लगेगी कि दंगावाली प्रवृत्ति सांप्रदायिकता का चेहरा पहनकर सामने आती है और निदान करनेवाले रोग की जडों को समझने में भूल करते हैं ।"[1] श्री नवल किशोर की राय भी इससे मिलती जुलती है । उनके अनुसार जो शक्तियाँ स्वार्थों केलिए सांप्रदायिकता को जिलाए रखती हैं, उनके बारे में खुलकर लिखा जाना चाहिए । सैकडों वर्षों की सांप्रदायिक मानसिकता से मुक्ति का प्रयास भी तभी सफल होंगे जब हम उस तंत्र को भी साथ ही तोडने को उद्यत होंगे जो आज सांप्रदायिकता को प्रश्रय देता है ।"[2] "और इन्सान मर गया", "देश की हत्या", "झूठा-सच", "इन्सान" और "तमस" में सांप्रदायिक दंगों का चित्रण है । "देश की हत्या" का यथार्थ एक रोमांटिक रुख के साथ दंगे फिसादों का वर्णन किया है । "झूठा-सच" का ध्यान सबसे अधिक शोषित नारी पर है साथ ही उसमें दृष्टिकोण तटस्थ नहीं है । "काले-कोस", "आधागाँव" "मुट्ठी भर कांगर" आदि में दंगे-फिसादों का सीधा साक्षात्कार नहीं है । इन सबकी अपेक्षा "तमस" में दंगों और उससे निसृत विभीषिकाओं का वर्णन अधिक निरपेक्ष दृष्टि से हुआ है । डा. शिवकुमार मिश्र के अनुसार "भीष्मजी का यह उपन्यास यथार्थ सन्दर्भों में देश के विभाजन को उसकी संपूर्ण मानसिकता तथा बाहरी आयामों में पेश करता है ।"[3] मधुरेश के शब्दों में कह तो "तमस में परम्परागत किस्म की वर्णन बहुलता से विद्यमान है , लेकिन वह वर्णन "काले कोस" और "झूठा-सच" जैसी किस्सागोईवाली वर्णन बहुलता न होकर परिवेशगत स्थितियों और मानसिकता को उभारने और रेखांकित करनेवाली वर्णन बहुलता है जो अपने स्वरूप में पूर्णतया निःसंग और अतिरेकी आग्रहों से मुक्त है ।"[4] इन सबके

---

1. आलोचना - 13 अप्रैल - जून, 1970.
2. गवाह (सांप्रदायिक विरोध अंक) जनवरी-सितम्बर, 1981 - पृ: 2 - सं. डा. भगवान दास वर्मा ।
3. प्रेमचन्द : विरासत का सवाल - पृ: 148 - शिवकुमार मिश्र ।
4. आलोचना - 25 अप्रैल - जून, 1973 - पृ: 53.

अलावा भीष्मजी के वर्णन में अनुभव की सत्यता एवं सूक्ष्मता भी है । उसमें उक्त दंगे-फिसादों के मूल की खोज भी है । इसीलिए राजेन्द्र यादव ने लिखा है कि "मूलतः तमस सांप्रदायिक विस्फोट के कार्य-कारण का समानान्तर अध्ययन है ।"[1] इस प्रकार "तमस" एक समकालीन उपन्यास है ।

हिन्दी उपन्यासों में कभी-कभी लेखक की मान्यतायें उभरकर आती हैं, कभी-कभी विचार-बौछार अधिक होता है और बीच-बीच में लेखक खुद बोलता भी है । भीष्मजी की महत्ता इसमें है कि वे अपने को रचना से सर्वथा अलग रखते हैं । तमस "हिन्दी का संभवतः पहला उपन्यास है जिसमें लेखक कम-से-कम, प्रायः नहीं के बराबर स्वयं कुछ बोलता है ।"[2]

"तमस" एक व्यंग्य रचना न होने पर भी उसमें उसका अभाव नहीं है । व्यंग्य एवं अन्तर्विरोधों से उपन्यास एक व्यंग्य रचना बन गया है । इसमें व्यंग्य संश्लिष्ट एवं सतही दोनों ढंग से आता है । उपन्यास में सबसे बडा व्यंग्य रिचर्ड है । उससे लीज़ा का कथन है "इस वीक एण्ड को कहाँ चलोगे?. . . टेक्सिला ?"[3] इसमें बाहरी तौर पर कोई व्यंग्य तो नहीं है । इसका व्यंग्य रिचर्ड के पूरे व्यक्ति-चरित्र पर है । इसतरह कांग्रेस एवं गाँधीवाद पर एक व्यंग्य है "अगर कोई तुम पर हमला करे तो तू उसे कहना, ठहर मैं कांग्रेस के दफ्तर से पूछ आऊँ कि मुझे अपना बचाव करना या नहीं ।"[4] "तमस" के व्यंग्य के बारे में डा. विवेकी राय ने यों लिखा है कि "विरोधी स्थितियों और चित्रों की सृजन कुशलता तथा कहीं भी वाच्य कोटि में न आनेवाले तेज व्यंग्यों की रचना प्रस्तुत कृति की सफलता के दो मुद्दे हैं" । . . . व्यक्ति को स्थितियों के रूप

----

1. अठारह उपन्यास - पृः 161 - राजेन्द्र यादव ।
2. हिन्दी उपन्यास : उत्तर शति की उपलब्धियाँ - पृः 170 - विवेकी राय ।
3. तमस - पृः 39 - भीष्म साहनी ।
4. वही - पृः 236.

रूप में व्यंग्य करने की विशेषता लेखक में अद्भुत है । उपन्यास का सबसे बडा व्यंग्य रिचर्ड है । पूरी स्थितियों के व्यापक अर्थ में पूरा उपन्यास ही व्यंग्य उपन्यास बन जाता है । ... तमस का व्यंग्य अर्थ व्यंग्य है, स्थितियों को आत्मसात् करने के बाद भीतर से झकझोरनेवाला ।"[1]

संक्षेप में "तमस" विभाजन और सांप्रदायिक हलचलों पर आधारित उपन्यासों में सबसे श्रेष्ठ ही है । मानवीयता की प्रस्तुति में, दंगे का वर्णन करने में, अनुभव की सच्चाई में, साम्राज्यवादी-सांप्रदायिक राजनीति के पर्दाफाश करने में और व्यंग्य करने में "तमस" इस परम्परा में अद्वितीय है । निस्सन्देह स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी के बहुचर्चित उपन्यास में एक है तमस ।

---

1. हिन्दी उपन्यास : उत्तर शति की उपलब्धियाँ - पृ: 170 - डा. विवेकी राय ।

अध्याय - चार

भीष्म साहनी की कहानियों का वस्तुपरक अध्ययन

भीष्म साहनी नई कहानी के प्रमुख कहानीकारों में एक हैं । इसलिए यह स्वाभाविक है कि उनकी कहानियों में नई कहानी की प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं । नई कहानी की एक मुख्य प्रवृत्ति है उसमें निहित सामाजिक यथार्थ । इस दौर के लेखकों में विशेषकर भीष्मजी की कहानियों की विशेषता यही सामाजिक चेतना है ही । इस दृष्टि से वे नई कहानी के सबसे समर्थ लेखक भी हैं । अतः उनकी कहानियों के अध्ययन के पहले नई कहानी की सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डालना अनिवार्य लगता है ।

नई कहानी की अन्वेषित दिशायें

नई कहानी का उद्‌भव और विकास स्वातंत्र्योत्तर काल में हुए हैं । लेकिन इसकी पूर्वकालीन परिस्थितियों के संघर्ष ने ही कहानी - क्षेत्र में एक नए आन्दोलन केलिए पृष्ठभूमि तैयार की थी । प्रेमचन्द के तीसरे दौर की कहानियाँ जैसी "पूस की रात" और "कफन" में नई कहानी के कुछ गुण मिलते हैं । ये गुण अज्ञेय की "रोज़", यशपाल की "पराया सुख", रांगेय राघव की "गदल" जैसी कहानियों के ज़रिए स्वातंत्र्योत्तर काल तक पहूँचते हैं ।

स्वाधीनता प्राप्ति भारतीय जनता का एक चिरन्तन स्वप्न था । इस कारण से ही व्यक्ति और समाज के आगे स्वतंत्र भारत के बारे में आकांक्षायें और अभिलाषायें भरपूर थीं । समाज और राष्ट्र के विकास केलिए स्वातंत्र्योत्तर काल में कई योजनायें और कार्यक्रम आयोजित किए गए । जनता एक वर्णहीन एवं वर्गहीन स्वतंत्र समाज तथा सदियों के शोषण से जर्जर देश के पुर्नजागरण की प्रतीक्षा में थी । लेकिन स्वातंत्र्योत्त

भारत जनता को उदासीन एवं मोहभंग की ओर ले गया । स्वतंत्रता के साथ घटित भारत विभाजन की समस्याओं ने देशवासियों के मन में गहरा घाव पैदा किया था । साँप्रदायिकता के आधार पर देश का विभाजन हो गया था साथ ही हिन्दू-मुस्लिम जनता के बीच के धार्मिक विद्वेष रक्त की नदियाँ बहाने का हेतु बन गया । इस पाशविक विभीषिका ने आदर्श, विश्वास, संस्कृति एवं जीवन मूल्य तथा सामाजिकता को झकझोर कर दिया। देश विभाजन ने एक महायुद्ध जैसा परिवर्तन समाज में पैदा किया । इसके अलावा दो विश्वयुद्ध के परिणामों ने भी भारत को परोक्ष रूप से प्रभावित किया है । यों उलझे हुए समाज में स्वातंत्र्योत्तर काल के सामाजिक विकास और औद्योगीकरण व्यक्ति में यांत्रिकता का विष फैलाने लगे । समाज में जीवनमूल्य, मान्यतायें, विचारधारा आदि का परिवर्तन क्रमगत ढंग से चलता रहा । कमलेश्वर के अनुसार "स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही देश का वैचारिक पुर्नजन्म हुआ था ।"[1] व्यक्ति के जीवन में मोहभंग और उसके व्यक्तित्व खण्डित एवं विघटित होने लगा । इसी सामाजिक परिवर्तन ने नयी कहानी की नींव डाल दी ।

युगीन कथाकार यह महसूस करने लगा कि स्वतंत्रता पूर्व देश का अन्त हो गया है और यह एक नयी दुनिया है । बदलते माहौल में वे व्यक्ति और समाज में सारे के सारे अन्तर्विरोध ही देख रहे थे । राजेन्द्र यादव का यह कथन सही लगता है कि "ज्यों ही संघर्ष का युग समाप्त हुआ और सत्ता का युग आया, त्योंही यह ऊपरी भव्यता और प्रभामंडल अकस्मात निस्तेज पड़ने लगा ।"[2] जनता मोहभंग एवं भग्नाशा से गुज़रने लगी । बदली हुयी परिस्थिति में ये मोहभंग और व्यक्ति की व्यथा जो उसके जीवन परिवेश और पारिवारिक जीवन हर कहीं मौजूद थे, उसे कहानीकारों ने अभि-व्यक्ति दी । कहानीकारों ने "अपने समाज के मानसिक, आर्थिक और नैतिक रूप से प्रताड़ित, दलित और टूटे हुए पात्रों को ही सहानुभूति और संवेदना दी थी ।

---

1. नई कहानी की भूमिका - पृ: 9 - कमलेश्वर ।
2. कहानी स्वरूप और संवेदना 5 पृ: 77

. . . लोक जीवन से सीधा संबन्ध जोडा था ।"[1] जैसे व्यक्ति को अपनी सहज एवं सही दुर्बलताओं के साथ देखनेवाली नई कहानी या युगचेतना की कहानी तीव्र गति से पनपने लगी ।

नये परिवेश के नये जीवन की अभिव्यक्ति में पुराने कहानीकार असफल रहे । इस समय कहानी क्षेत्र में एक नयी पीढी का उदय हुआ । बदलते परिवेश को ये लेखक नये ढंग से और नयी शैली में प्रस्तुत करने लगे । वास्तव में नयी कहानी का आन्दोलन कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से एक संभावनापूर्ण आन्दोलन था । "आज की कहानी व्यक्ति और परिवेश का वह संबन्ध क्षण है जो ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में युग की एक-एक नब्ज छूता है - उसे नाम देने, समझने की कोशिश करता है ।"[2] इसमें सिद्धांत व दर्शन के मोह की अपेक्षा यथार्थ का प्रस्तुतीकरण है । इसका क्षेत्र सामाजिक जीवन में व्याप्त मानवीय संकट, विसंगति, विडंबना एवं अन्तर्विरोध है । कमलेश्वर के अनुसार "नई कहानी इसीलिए मानव-मानव के नये उभरते और शक्ल लेते या टूटते संबन्धों को सबसे पहले रेखांकित करती है क्योंकि वह अपने "मैं" से निकलकर "वह" या "उसकी" प्रामाणिक अभिव्यक्ति करती है , और अपने "मैं" से निकलकर जैसे ही वह दूसरे से संबद्ध होती है, लेखक प्रतिबद्ध हो जाता है । नये कहानीकार की प्रतिबद्धता का अर्थ इसलिए जीवन से प्रतिबद्धता का है, मत-मतान्तरों, फैशनों या वादों से आक्रान्त होने का नहीं ।"[3] इसतरह नयी कहानी नये युग के नये मानवीय यथार्थ का वाहक है ।

स्वातंत्र्योत्तर कहानी का नया मोड सबसे पहले आंचलिक कहानियों में प्रकट होने लगा । शिवप्रसाद सिंह की "दादी माँ" नई कहानी की पहली कहानी है ।[4] औद्योगीकरण की दौड में गाँवों में भी हलचल पैदा होने लगा । वहाँ भी परिवर्तन और

---

1. नई कहानी की भूमिका - पृ: 71 - कमलेश्वर ।
2. एक दुनिया समानान्तर - पृ: 29 - राजेन्द्र यादव ।
3. नई कहानी की भूमिका - पृ: 15 - कमलेश्वर ।
4. हिन्दी कहानी के आन्दोलन , उपलब्धि और सीमायें - पृ: - रजनीश कुमार ।

आधुनिक जीवन की समस्याओं एवं स्पर्धा प्रकट होने लगे । आंचलिक कहानियाँ ग्रामीण जीवन की समस्याओं एवं कष्टपूर्ण जीवन को सामने लाती हैं । यों ग्रामीण कथाओं और पात्रों के प्रति सहानुभूति एवं तादात्मय प्रकट करनेवाले रचनाकारों में शिवप्रसाद सिंह के अलावा मार्कण्डेय, रेणु, राजेन्द्र अवस्थी, रामदरश मिश्र, शैलेश मटियानी मुख्य हैं ।

जीवन की यथार्थता पर नई कहानी अधिक ज़ोर देती है । इसमें यथार्थता का आरोपण नहीं, स्वयं यथार्थता ही उपस्थित होती है । कमलेश्वर की "नीली झील" में यथार्थ का अंकन उसे सहज एवं प्रामाणिक बना देता है । सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में मौजूद जो भ्रष्टाचार और पाखण्ड है, उसे नये कहानीकारों ने पकडने का प्रयास किया है । मोहन राकेश की "परमात्मा का कुत्ता", भीष्म साहनी की "मौकापरस्त" आदि यहाँ उल्लेखनीय है । इसप्रकार नयी-पुरानी पीढीतर संबन्धों को लेकर भीष्म साहनी की "चीफ की दावत", राजेन्द्र यादव की "बिरादरी बाहर" और उषा प्रियंवदा की "वापसी" आती हैं । राजेन्द्र यादव की "छोटे छोटे ताजमहल", मोहन राकेश की "एक और जिन्दगी", श्रीकान्त वर्मा की "परिचय" भीष्मजी की "डोरे" - पारिवारिक संबन्धों के उलझाव को प्रतिबिंबित करती हैं । आधुनिक व्यस्त जीवन में व्यक्ति कभी अकेला एवं, अजनबी बन जाता है । मन्नु भण्डारी की "अकेली", कमलेश्वर की "खोई हुई दिशायें," निर्मल वर्मा की "परिन्दे" ऐसे मनुष्य को दिखाती हैं ।

नयी कहानी की मुख्य प्रवृत्ति भी सामाजिक चेतना है । इसपर मार्क्सवाद का प्रभाव भी देख सकते हैं । मार्क्सवाद से प्रभावित कहानियाँ जीवन के अधिक निकट हैं । इसमें यथार्थ ही मुख्य है । इस यथार्थ का तात्पर्य जीवन की सच्चाई, अन्तर्विरोध, विडम्बनायें एवं संघर्ष है जो प्रगतिशील कहानी की मूल संवेदनायें हैं । निम्न-वर्ग के प्रति इसमें विशेष सहानुभूति द्रष्टव्य है । भीष्म साहनी, अमरकान्त, शेखर जोशी, मार्कण्डेय और शिवप्रसाद सिंह के अलावा कुछ अन्य लेखकों की कहानियाँ भी इस दृष्टि से चलती है । प्रगतिशील लेखक मनुष्य को एक सामाजिक इकाई के रूप में देखना चाहते हैं । वह अपनी कहानियों द्वारा सामाजिक-धार्मिक रूढियों, वर्जनाओं, गलत मान्यताओं और जड आचार-संहिताओं पर प्रहार करता है । इसमें भीष्मजी की कहानियाँ सबसे आगे हैं ।

भीष्म साहनी की कहानियों का वस्तुपक्ष

भीष्म साहनी की कहानियाँ जीवन की खरी एवं बेलौस तस्वीर पेश करती है । वे एक प्रतिबद्ध लेखक हैं और उनकी प्रतिबद्धता मानव जीवन से है । उनकी कहानियों में इस गहरे दायित्व-बोध की झाँकियाँ अवश्य मिलती हैं । उसे लेखक के गहरा अनुभव एवं समझ और सामाजिक चेतना ने ऐतिहासिक सच्चाई दी है । उन्होंने अपनी कहानियों में यथातथ्य का नहीं, यथार्थ का पुनःसृजन किया है । इसलिए उनकी कहानियों में उन सारे पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक सन्दर्भों की ऐतिहासिकता एवं परिवेशगत सच्चाई मूर्त होती है ।

भीष्म साहनी की कहानियाँ यथार्थ की सही पहचान देती है । वह आरोपित व काल्पनिक स्थितियाँ, पात्र व मुद्रायें नहीं जीवन की वास्तविकता है जो समूचे समाज के ऊपर प्रश्न चिह्न लगा देती है । जीवन के हर पक्ष, हर मोड एवं हर कोण से वे परिचित हैं । अतः उनकी कहानियों का वस्तुपक्ष व्यक्ति, परिवार, समाज, धर्म, संस्कृति, राजनीति - सबको स्थान देता है । "साहनी की वस्तु और चरित्र रचना के केन्द्र में उनकी ऐतिहासिक समझ जो परिस्थिति और परिवेश के अन्तर्विरोधों को सामने लाती है तथा उन्हें दूर करते हुए विकासमान नतीजों तक ले जाती है ।"[1] शहरी मध्यवर्ग उनकी कहानियों का मुख्य केन्द्र है फिर भी निम्नवर्ग उसके पोषक रूप अथ से इति तक उसके साथ है । जीवन के सभी पक्षों को उभारते समय कहानियों के वस्तुपक्ष में विविधता का होना अस्वाभाविक नहीं लगता है । अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उनकी कहानियों के वस्तुपक्ष को इसप्रकार विभक्त कर सकते हैं ।

---

1. इतिहास, विचारधारा और साहित्य - पृ: 59 - राजेश्वर सक्सेना ।

सामाजिक अन्तर्विरोध एवं विडम्बनायें

आज का समाज अन्तर्विरोधों और विडम्बनाओं का है। समाज में ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं जो अन्तर्विरोधों एवं विसंगतियों से मुक्त हो। समाज के अंग-अंग में - परिवार, धर्म, समूह, अर्थ, राजनीति, संस्कृति और खुद व्यक्ति में अन्तर्विरोधों की कमी नहीं है। भारतीय समाज में, खासकर मध्यवर्ग में इसकी गुंजाइश अधिक है। धार्मिक क्षेत्र एवं नैतिक क्षेत्र में मध्यवर्ग का मन अब भी परम्परा के अनुकूल ही चलता है, लेकिन वह अपने को आधुनिक दिखाने के प्रयास में अपनी असलीयत को छिपाना चाहता है। आर्थिक दृष्टि से भी उसकी स्थिति सुस्थिर नहीं है। परन्तु वह अपने को उच्चवर्गीय एवं सभ्य दिखाने का छद्म प्रयास करता है। राजनीतिक क्षेत्र में ऐसे विरोधाभासों की कमी नहीं है। वह प्रगतिशील बातें करता है, मगर कथनी और करनी में समानता नहीं दिखाई पडती है। अपनी स्वार्थ-पूर्ति के हेतु वह धर्म एवं राजनीति को एक साथ लेने का षडयंत्र चलाता है। इसप्रकार समाज के - आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं पारिवारिक हर क्षेत्र में हर कहीं अन्तर्विरोध, विसंगतियाँ और विडम्बनायें हैं ही।

प्रगतिशील रचनाओं का, विशेषकर कथा-साहित्य में, आधार ये सामाजिक अन्तर्विरोध एवं विडम्बनायें हैं। यथार्थवादी रचना के मूल में यही कार्य ढूँढा जा सकता है। व्यंग्य के हेतु भी यही कार्य है। भीष्म साहनी ने अपनी कहानियों द्वारा सामाजिक अन्तर्विरोधों का पर्दाफाश किया है। उन्होंने बडी दक्षता एवं सूक्ष्म ढंग से अपने यथार्थ-बोध के आधार पर इसमें सफलता प्राप्त की है। श्रेष्ठ कहानियों में इन दोनों का सामंजस्य होता है। इसलिए नामवर सिंह ने लिखा है कि "कहानी जीवन के टुकडे में निहित अन्तर्विरोध, द्वन्द्व, सक्रान्ति अथवा क्राइसिस को पकडने की कोशिश करती है और ठीक ढंग से पकड में आ जाने पर यह खण्डगत अन्तर्विरोध भी बृहत् अन्तर्विरोध के किसी-न-किसी पहलु का आभास दे जाता है। यह खण्डगत अन्तर्विरोध की पकड श्रेष्ठ कहानियों के कथानक में कहीं नाटकीय मोड पैदा करता है तो कहीं चरित्र को वस्तु-स्थिति के साथ संघर्ष करते दिखलाता है और कभी स्वयं उस चरित्र के भीतर संकल्प-विकल्प की दुविधा

दरसाता है या फिर उसके चिन्तन और कार्य के बीच विडंबना {आयरनी} को चित्रित करता है ।"[1] प्रकार अन्तर्विरोधों एवं विडंम्बनाओं का सही सामंजस्य भीष्मजी की कहानियों में मौजूद है । इसके बारे में नामवर सिंह ने कहा कि "नए कहानीकारों में भीष्म साहनी में एक ही साथ इन दोनों विशेषताओं का सर्वोत्तम सामंजस्य मिलता है । इस दृष्टि से भीष्म साहनी सबसे सफल कहानीकार हैं ।"[2] भीष्मजी की इस सिद्धि के पीछे उनका गहन अनुभव ही है । स्वाधीनता तक रावलपिंडी में और उसके बाद, पंजाब, बंबई, मोस्को एवं दिल्ली का जीवनानुभव उन्हें प्राप्त है । बचपन से ही आर्य समाजी-सनातनधर्मी के छद्म पारस्परिक विरोध, हिन्दु-मुस्लिम-सिख सांप्रदायिक तनाव और कांग्रेस, मुस्लिम लीग, हिन्दु महासभा एवं साम्यवादी दल से भी उन्हें निकट का संबन्ध है । इसके अलावा उनका जन्म एक आर्यसमाजी मध्यवर्गीय परिवार में ही हुआ था । साथ ही उनका लंबा जीवनानुभव भी उनकी रचनाओं की यथार्थोन्मुखता केलिए सहायक सिद्ध हुआ है ।

"चीफ की दावत" कहानी एक मानवीय संकट के साथ शुरू होती है और वह धीरे-धीरे एक विडम्बना में परिणत हो जाती है । यह विडम्बना समाज के व्यापक अन्तर्विरोधों की ओर संकेत करती है । शामनाथ चीफ को खुश करने केलिए घर में तैयारियाँ कर रहा है । फाल्तू सामान छिपाये जाने लगा तभी उसके सामने बूढी माँ की समस्या आयी । माँ को एक कोठरी से दूसरी कोठरी में बदलकर छिपाने की योजना से खुद माँ सहमत हो जाती है और वह उसमें खुश होती है, क्योंकि बेटे की तक्की हो जाएगी । चीफ के आगमन के वक्त सारे रहस्य खुल जाता है और शामनाथ झेंप जाता है । "और अन्त में शामनाथ ने देखा कि जिस "सामान" को छिपाने केलिए उन्होंने इतनी परेशानियाँ उठाई, वह खुल ही नहीं गया, बल्कि हितकर भी साबित हुआ । यहाँ तक कि दावत से भी बढ़कर । यह सबसे बडी विडम्बना है ।"[3] इसमें माँ परम्परा एवं

---

1. कहानी : नयी कहानी - पृ: 32-33 - नामवर सिंह ।
2. वही - पृ: 33.
3. वही ।

संस्कृति का प्रतीक भी है । जिस परम्परा का तिरस्कार शामनाथ करना चाहता था, उसी परम्परा में ही उसकी भलाई है । यही कार्य व्यापक समाज में चलता रहता है । इसी तरह "जख्म" नामक कहानी में युवक यात्री अपनी पूर्व परम्परा को जख्म करता ही नहीं बल्कि नष्ट करने की कोशिश करता है । "मुर्गी की कीमत" कहानी का आरंभ भी एक मानवीय संकट से शुरू होता है । उसमें अहमद ज़ीसन का मज़दूर है । उसके पास पाँच महीने के आय के रूप में बारह आने हैं । अपने गाँव तक पहूँचने केलिए पूरा सरमाया गाडी को खर्च करना है । अहमद को घर पहूँचना है और बीवी-बच्चे को खुश भी करना है । छः आना देकर वह एक मुर्गी खरीदकर आधा दूर पैदल चलता है । बाकी आधा दूर का छः आना लोरी को देकर सैर पूरा करता है । इस बीच लोरी चुंगी पहूँचते ही वह मुर्गी को दबा देता है क्योंकि मुर्गी की आवाज़ सुनाई दे तो चुंगी को महसूल देना पडेगा । अन्त में अहमद लोई का पल्ला ढीला करके देखता है और ऊँगली गडाकर देखता है फिर भी कोई हलचल नहीं देख पाता । मुर्गी मर चुकी है । जब उसकी आवाज़ लोरी में सुनाई पडी तब मुर्गी का अन्तिम शब्द था, जिसे वह अपना सर्वनाश का क्षण समझता था । विडंबना यह है कि जिसे वह अपना सर्वनाश का क्षण माना था वह वास्तव में मुर्गी का और स्वयं अहमद के सर्वनाश का क्षण था । आजकल देश में डाकू, चोर, बडे-बडे - व्यापारी एवं उद्योगपति चुंगी का महसूल दिए बिना लाखों - करोडों के माल का यातायात करते हैं । कोई कर, चुंगी, महसूल कुछ भी नहीं देता है, जबकि निर्धन व्यक्ति को एक मुर्गी केलिए भी महसूल देना पडता है । फिर भी वह समाज में तुच्छ, दोषी एवं निम्न है, बाकी सब आदरणीय । मधुरेश के शब्दों में "मुर्गी की कीमत" में काश्मीर के हतों की गरीबी और विडंबनापूर्ण ज़िन्दगी का अंकन जितने वास्तविक और संवेदनशील ढंग से हुआ है उसे देखकर आश्चर्य होता है ।"[1]

मध्यवर्ग परम्परावाद और आधुनिकता के बीच समझौता करने का प्रयास कर रहा है । इस प्रयास से कभी वह चंचल होता है और कभी उसका दोहरा चरित्र स्पष्ट हो जाता है जिससे वह कुंठित हो जाता है । अपने घर में परम्परागत रूढियों,

---

1. दस्तावेज़ - 26 - सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ।

विश्वासों का पालन करके समाज में आधुनिक पोशाक पहननेवाला मध्यवर्ग का पर्दाफाश करने में भीष्मजी सफल हुए हैं । "घर की इज्ज़त" इसका दृष्टांत है । एक संयुक्त परिवार के बडे भाई घर में कट्टरवादी और समाज में समाजसुधारक भी है । नारी शिक्षा एवं उत्थान, कला, संस्कृति सबकी अनिवार्यताओं पर वह ज़ोर देता है । "बडे भाई तो ऐसे कई अधिवेशनों पर सभापति पद पर भी बैठ चुके थे । पर वह तब वह स्वयं दार्शक हो, कला के प्रशंसक ।"[1] छोटे भाई की बीवी सुनन्दा शिक्षित एवं कला-प्रेमी है, जो "पति सेवा का पुज्य" कमाने की इच्छा से अधिक अपने पाँव पर रहना चाहती है । इसपर बडे भाई के माथे पर सिकुडन आते हैं । सुनन्दा एक नाटक खेलने जा रही थी, इस बात पर घर में कोहल्ला मच रहा था । विरोधाभास यह है कि उस सभा के सभापतित्व का पद बडा भाई ही संभालता है । वह डिप्टी कमीश्नर का स्वागत कर, भाषण शुरू करता है । "हमारे नाटक हमारे देश के इतिहास और संस्कृति का एक गौरवमय अंग हैं । मुझे खुशी है कि इस कार्य में हमारी बालिकाओं और स्त्रियों ने भाग लिया है । देश की कला देश की स्त्री जाति पर अवलंबित है । उनका भाग लेना कला केलिए मंगलकारी है ।"[2] "शिष्टाचार", "पिकनिक्", "त्रास", "राधा-अनुराधा" और "चाचा मंगलसेन" मध्यवर्गीय छद्म सहानुभूति, झूठा सम्मान एवं अमानवीयता के पर्दाफाश करती हैं । "शिष्टाचार" में मालिक को शिष्टाचार का पाठ अपने जीवन (कर्म) द्वारा सिखानेवाला नौकर है । इसके द्वारा नैतिकता, शिष्टाचार संस्कार के छद्म-पोशाक पहननेवाले मध्यवर्ग का पर्दाफाश करता है । "पिकनिक" में दूध और बिस्कुट देकर पालनेवाले बच्चों की रुग्णता एवं उदासीनता के आगे गली में लुटकनेवाले बच्चों की तन्दुरुस्ती का विरोधाभास है । उच्चवर्ग एवं मध्यवर्ग अपने बच्चे को प्रकृति से तोडकर नए वातावरण में आधुनिक भोजन देकर पालते हैं, जिसे प्रतिरक्षा की शक्ति नहीं मिलती है । मगर जन्म से गली में पलनेवाले बच्चे प्रकृति से मेल खाते हैं और उनके खेल-कूद एवं साहस और कठिनाइयों को देखते वक्त मालिकिन को "पिकनिक्" लगती है । "राधा-अनुराधा" श्यामा बीवी की छद्म सहानुभूति एवं बेचैनी को प्रस्तुत करती है । एक ओर वह अपनी सुविधा केलिए राधा की प्रशंसा करती है तो दूसरी ओर उस पर शंका भी प्रकट करती है । राधा अनाथ होकर भी उसे चैन है लेकिन सारी सुविधा होने पर भी श्यामा बीवी रोगी एवं बेचैन है ।

---

1. भाग्यरेखा - पृ: 121 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 128.

"चाचा मंगलसेन" के बलराम में छद्म सहानुभूति है । वह अपने चाचा को समाज-डर से घर ले जाना चाहता है न कि चाचा के प्रति प्रेम से । विसंगति यह है कि गली में पड़े चाचा को बलराम का घर मरनकोठरी लगता है । बल्राम याने वह शिक्षित वर्ग, डिग्री, धन की स्थिति, हैसियत को देखकर हर चीज़ को तोलना चाहता है । वह होम्योपैत डाक्टर की डिग्री पूछता है जहाँ वह चिकित्सार्थ आ चुका है । इसपर एक स्थलवासी का जवाब है कि "हमें शफा से मतलब है साहिब, हमें इनकी डिग्री को चाटना है ।"[1]

"मुर्ग मुसल्लम" राजनीतिक एवं अफ्सरशाही की विकृतियों को प्रस्तुत करती है । राजनीतिज्ञों की सुख-सुविधा जुडाकर अपनी तक्कीं को अफसर लोग निष्कंटक बना देते हैं । एक होटल के खानसामें को कारावास में बन्द करके उससे जेल में पडे राजनीतिज्ञों केलिए भोजन का प्रबन्ध करवाता है । जेल मुक्त होने पर राजनीतिक नगरपाल बन गया, जैलर को तक्कीं मिली और खानसामे को गली । उसे गली ही नहीं समाज में कैदी का मुहर भी । "यही फर्क है । जेल में से अण्डर-ट्रायल सयासतदान लौटे तो उसका सितार चमकता है, बावर्ची लौटे तो माथे पर मुजरिम का टप्पा लगा होता है ।"[2] "मालिक का बंदा" में सद्धर्म, सत्य, ईश्वर केलिए रेलवे के सामान लूटकर मन्दिर बनानेवाला हवलदार हैं । इतना ही नहीं वह टिकट लेकर यात्रा करने आए लोगों को चढने नहीं देकर कविगण को सुविधा देता है । एक और न्याय का प्रतिनिधि हवलदार और जनवादी कविगण है तो दूसरी ओर आम आदमी है । "फैसला" और "लीला नन्दलाल की" में हमारी कानून-व्यवस्था एवं पुलिस सेना की सीमाओं, कानेपन एवं अकर्मण्यता पर प्रकाश डाला गया है । "फैसला" में जज शुक्लाजी सत्य एवं ईमानदारी का प्रतीक बन जाता है । लेकिन हमारी कानून - व्यवस्था जो मिस्ल पर चलती है, शुक्लाजी की फैसले को टुकरा देती है । मुजरिम को मुक्त करते हुए ऊपरवाले शुक्लाजी की न्यायप्रियता एवं ईमानदारी पर प्रश्न उठाते हैं । 'फैसला' में मिस्ल की कमी है तो

---

1. निशाचर - पृ: 99 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 17.

"लीला नन्दलाल की" में गवाही का अभाव है । एक ओर मिस्ल होने पर भी मुआवजा नहीं दिया जाता है, जहाँ दफ्तर काना लगता है । इसके द्वारा लेखक हमारी बैंक, बीमा निगम और अन्य संस्थाओं की "जनसेवा" की ईमानदारी पर प्रश्न-चिह्न लगा देते हैं । इसमें समाज के उन्मुक्त नन्दलालों - चोर, डाकू, पूँजीपति - को दिखाकर कानून व्यवस्था की कंदरों और रंध्रों की खिल्ली उडाते हैं । चोरी गयी स्कूटर चोर की कृपा से वापस मिलती है और चोर को पहचानकर भी पुलिस गवाही की प्रतीक्षा करती है । "आप सच बोल रहे हैं, मगर कोई गवाही है आपके पास?"[1] दूसरी ओर हमारी आदालतों की उदासीनता पर भी व्यंग्य है । स्कूटर वापस मिली, बर्षों बाद वह खराब हो जाती है, फिर भी मुकद्दमा खत्म नहीं हुआ । "मुकद्दमा बराबर अभी भी चल रहा है । इस बीच मेरी कनपटियों के बाल सफेद हो चुके हैं । . . . यह पाँचवें मजिस्ट्रेट है जो इस मुकद्दमे की देखभाल कर रहे हैं ।"[2] इसप्रकार और तक सरकारी कर्मचारी की विकृतियों की कहानी है "जोत" । रेंजर पहाडी इलाके की जनता की सहायता केलिए नियुक्त है, और भगवान भक्त की रक्षा करता है, ऐसा विश्वास है । विसंगति यह है कि जानकू किसान का सर्वनाश ये दोनों मिलकर ही करते हैं । आज का युग विज्ञापन का है । "बाप-बेटा" नामक कहानी में फौज का विज्ञापन देखकर वहाँ घुसनेवाले निरीह बाप-बेटा है । एक ओर "फौज में दाखिल करो और देश की सेवा करो" का विज्ञापन है तो दूसरी ओर उसकेलिए छीना-झपटी भी है ।

"वाङ्चू" देश, समाज और राजनीति से कटे धर्म और दर्शन के अप्रासंगिकता पर संकेत करती है । इसमें समाज, राजनीति और देश से कटा हुआ चीनी बौद्धभिक्षु व शोधछात्र की जीवन त्रासदी है । समय के अनुसार अपने विश्वास, धर्म और दर्शन को न समझ पानेवाला वाङ्चू के व्यर्थ जीवन एवं शोधकार्य पर कोई ध्यान नहीं देता है । "अहं ब्रह्मास्मि", "मेड इन ठटली", और "ढोलक" पाश्चात्य प्रेम की निरर्थकता की ओर इशारा करती हैं । इन कहानियों में मिस्टर भाटिया, मीरा तथा रामदेव के

---

1. शोभायात्रा - पृ: 120 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 127-28.

स्वभाव के अन्तर्विरोधों को सही रूप में प्रस्तुत किया गया है । छद्म पाश्चात्य प्रेम के समान छद्म क्रान्तिकारिता को लेकर "गलमुच्छे" और "नया मकान" नामक कहानियाँ आती हैं । "गलमुच्छें" में मज़दूर एवं यूनियन की सेवा करनेवाला कैसे इन्स्टीट्यूट का डायरक्टर बन जाता है और "नया मकान" क्रान्तिकारी गिरिजा कैसे नया मकान बना सकता है, इसके पीछे छिपी विसंगतियों को प्रकाश में लाता है ।

"ओ हरामजादे" एक मानवीय संकट को लेकर आती है । इसके लाल को एक पाश्चात्य युवती हेलेन के साथ शादी करने की वजह वहाँ ठहरना पडता है । उसे अपनी मिट्टी, भाषा एवं परिवेश के प्रति गहरा प्रेम है । दूसरी ओर अपने परिवार प्रेम और यथार्थ जीवन है । लाला यथार्थ को समझकर वहाँ ही ठहरता है तो "दिवास्वप्न" का लेखक यथार्थ को समझकर भी कल्पना एवं स्वप्न में जीता है । समाज को यथार्थ का अवगाह करनेवाला लेखक के यथार्थ जीवन दिखाकर लेखकीय चरित्र के विरोधाभासों को प्रकाश में लाते हैं । "पर हम लेखक लोग, जो लोगों को यथार्थ का बोध कराते फिरते हैं, स्वयं दिवास्वप्नों में जीते हैं । यथार्थ से तो मेरी पत्नी पूछ रही थी मैं तो अपने जुनून में खोया हुआ था ।"[1] दिवास्वप्न में लेखक के आदर्श और जीवन में अन्तर है तो "पोखर" में महानुभावों के चरित्र का विरोधाभास है । "पोखर" का महानुभाव भारतीय संस्कृति, उसकी महिमा एवं एकता के बारे में सुनाता है । वास्तव में यही वर्ग भारत की दुस्थिति का उत्तरदायी है । सण्डास जाकर वह "क्षण भर केलिए ठिठकते ज़रूर हैं, पर फिर यह सोचकर कि किसे पता चलेगा कि मैं ने खुला छोडा है या किसी दूसरे ने' अपने बर्थ की ओर चल देते हैं ।"[2] इसके बारे में मधुरेश ने लिखा है कि "डिब्बे के वाशबेसिन की तरह पूरे देश को पोखर बना देनेवाले लोग ही वस्तुतः भावुक होकर सुविधा, सुरक्षा और सहिष्णुता की बात कर सकते हैं क्योंकि इसी में उनके वर्गहित सुरक्षित है ।"[3] "दहलीज" नामक कहानी में सामाजिक प्राणी मनुष्य की

---

1. निशाचर - पृः 107 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृः 153.
3. दस्तावेज़ - पृः 26 -

विभिन्न आदतों के अन्तर का रेखांकन है तो "नदामत" हमारे "स्पॉर्ट्स मैन स्पिरिट्" और वास्तविक "स्पॉर्ट्स मैन स्पिरिट्" के वैपरीत्य को प्रस्तुत करती है । दहलीज़ में पलायनवादी व्यक्ति की जिन्दगी है । "कांटे की चुभन" में आर्यसमाज एवं सनातन धर्म के बीच का मिथ्या आदर्शों और विरोधों को दिखाने केलिए अनन्तराम और गिरिधर दास को प्रस्तुत किया गया है । "एषधर्म सनातनः" महन्त रामदास की वर्ण व्यवस्था का अन्तर्विरोध है । वह चमारों से अशुद्ध होने की वजह मन्दिर छोड़कर चला जाता है और अन्त में चमारों के भीखमंगे का अंश पाकर जीता है । उसी तरह "शोभायात्रा" में अत्याचारी शासक के राजनीतिक एवं धार्मिक ढोंग का पर्दा-फाश करता है ।

मध्यवर्गीय जीवन परिवेश

दूसरे अध्याय में मध्यवर्ग के बारे में विशद ढंग से अध्ययन किया गया है । अतः यहाँ उसके विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता नहीं है । यह भी बताया गया है कि समाज में मध्यवर्ग का स्थान उच्चवर्ग और निम्नवर्ग के बीच में है । इस विभाजन का मुख्य आधार अर्थ है । यह वर्ग समाज में सबसे बड़ा कौम होने की वजह इसमें विविधता एवं अन्तर्विरोधों का होना स्वाभाविक है । भारतीय समाज में इसका फैलाव बहुत असन्तुलित है । इसमें उच्चमध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग यों आय के आधार पर विभाजित किया जा सकता है । परन्तु संस्कार, जीवनरीति, सामाजिक एवं धार्मिक रुख में समानता है ही । राजनीति एवं सत्ता और शिक्षा एवं बुद्धि के क्षेत्र में यह वर्ग सबसे आगे हैं । इस वर्ग के अन्तर्गत किसानों को लेकर वकील, डाक्टर, इंजीनीयर, अफ्सर, अध्यापक, क्लर्क एवं व्यापारी लोग आते हैं । यह वर्ग सदा महत्वाकांक्षा पालकर जीता है । लेकिन मोहभंग एवं निराशा के फलस्वरूप घुटन और तनाव भोगकर जीवन काटता है । वह एक ओर आर्थिक उलझन में तड़पता है तो दूसरी ओर सामाजिक, धार्मिक और पारिवारिक समस्याओं के बीच में भी । समाज में अपने को अपनी स्थिति से बेहतर दिखाने की चेष्टा करके यह वर्ग जीवन को खोखला बना देता है । प्रदर्शन प्रियता, दिखावटीपन, मिथ्याभिमान और ढोंगी संस्कार

मानसिक संघर्ष का कारण बन जाते हैं क्योंकि यह सच्चाई को जानता है । "आश्चर्य की बात है कि यही तथाकथित सभ्य मध्यवर्गीय दिन-रात मूल्यों की बात करते नहीं थकते, लेकिन कभी यह स्पष्ट करने का कष्ट नहीं करते कि इनके मूल्य क्या है' ".[1] यही वर्ग सामाजिक जीवन की जडता पर दुःख प्रकट करता है, परन्तु परिवर्तन या क्रान्ति केलिए आगे नहीं खडा रहता है, क्योंकि वह अपने को समाज, सत्ता एवं परिवार के आगे नारेबाजी - पात्र बनना नहीं चाहता है और अपने को सम्माननीय बनाने की मिथ्या धारणा में भटकता भी है । इसके बीच में शिक्षा और अच्छी समझ के ज़रिए विद्रोह और परिवर्तन करने के बजाय समझौता और घुटन सहने की आदत है । क्रोध के स्थान पर खिझलाहट, क्रान्ति की जगह शान्ति और बदलाव की जगह समझौता इस वर्ग की पहचान बन गयी है । इससे प्रस्तुत वर्ग का अन्तर्विरोध भी द्रष्टव्य है । इसप्रकार के मध्यवर्गीय जीवन परिवेश को ही कथा साहित्य में प्रमुख स्थान मिला है ।

भीष्म साहनी की कहानियों का केन्द्र बिन्दु मुख्यतया मध्यवर्गीय जीवन है । वे स्वयं मध्यवर्ग के होने के कारण इस वर्ग के जीवन-यापन, आचार-विचार, संस्कार एवं रीति-रिवाज़ से निकट का संबन्ध है । उनकी कहानियों में दोहरे चरित्र की बिडंबना में जीनेवाले मध्यवर्ग के विचार और कर्म, चिन्तन और रचना, जीवन और यथार्थ के बीच के भयानक फर्क को प्रस्तुत किया गया है । साथ ही उनके पात्रों एवं घटनाओं में सहजता एवं प्रामाणिकता झलकती है ।

भीष्मजी का मध्यवर्ग शहरी एवं शिक्षित है । उनकी बहुचर्चित कहानी "चीफ की दावत" मध्यवर्ग के मूल संस्कार लेकर आती है । इसका शाम नाथ अपनी तरक्की केलिए चीफ को तृप्त करने का प्रयास कर रहा है । वह भी घर को सजधजकर रखना चाहता है । अपनी असलीयत को छिपाना इस वर्ग का मुख्य लक्षण है । उसमें झूठी अहं, दिखावटीपन और पाश्चात्य भ्रम अधिक है । "अब घर का फालतू सामान

---

1. आंखन देखी - पृ: 345 - सं. कमला प्रसाद ।

अलमारियों के पीछे और पलंगों के नीचे छिपाया जाने लगा । तभी शामनाथ के सामने सहसा एक अडचन खडी हो गयी, माँ का क्या होगा ।"[1] वह माँ को एक कमरे में से दूसरे कमरे में छिपाने का प्रबन्ध कर चीफ का स्वागत करता है । मगर माँ को बुरी हालत में ही चीफ का स्वागत करता है । मगर चीफ के आगे माँ को बुरी हालत में देखकर शामनथ खीझ उठता है । शामनाथ के समान आधुनिक चीफ निरक्षर माँ से अंग्रेज़ी में हालचाल पूछता है और हाथ मिला देता है । चीफ माँ के आगे पंजाबी गीत सुनाने एवं फुलकारी बनवाकर देने का प्रस्ताव रखता है और माँ से वह बहुत प्रभावित होता है । इस प्रकार जिस परम्परा एवं संस्कृति का तिरस्कार शामनाथ ने करना चाहा था, उसी केलिए चीफ अधिक लालायित दिखाई पडता है । "ओ मम्मी ! तुमने तो आज रंग ला दिया ! . . . साहब तुमसे इतना खुश हुआ कि क्या कहूँ । ओ अम्मी ! अम्मी ! माँ की छोटी-सी काया सिमटकर बेटे के आलिंगन में छिप गयी ।"[2] चीफ की दावत की माँ अपनी परम्परा एवं संस्कृति की वजह अन्त में माननीय होती है तो "कुछ और साल" का मधुसूदन अपनी संस्कृति की वजह अकेला एवं अनचाहा व्यक्ति बन जाता है । इसमें मध्यवर्गीय नौकरी - परस्त परिवार का सही चित्र है । इसमें उस वर्ग के अफ्सरी ठाट-बाट, सोच-विचार एवं व्यवहार के साथ बोरियत, अकेलापन, अहं, कुंठा-सबकुछ उभरकर आये हैं । घर में दो नौकर और गारेज हैं । हर काम केलिए निष्ठा एवं अनुशासन है । शिवशंकर एवं मधुसूदन सहपाठी थे । परन्तु आज दोनों दो कोठि में है । अर्दली की चापलूसी करके शिवशंकर मधुसूदन से मिलता है । फिर भी व्यवहार में सहजता एवं निकटता का अभाव है, वातावरण में स्वच्छता नहीं है । "साहब की आवाज़ में निकटता का भास भी था और दूरी का भी, अपनेपन का भी और अजनबीपन का भी, बराबरी का भी और बडप्पन का भी । बडे लम्बे प्रशिक्षण के बाद मधुसूदन यह ग्रहण कर पाए थे ।"[3] वार्तालाप के बीच "सोफे पर

---

1. पहला पाठ - पृ: 9 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 18.
3. भटकती राख - पृ: 125 - वही ।

आराम से बैठते हुए अपना दूसरा पैद भी उठाकर शिवशंकर की कुर्सी की बाँह पर रख दिया ।"[1] इस बीच कपूर आता है मगर शिवशंकर का परिचय नहीं कराता है । मधुसूदन के बदलाव का वर्णन मध्यवर्गीय परिवर्तन का सही चित्र प्रस्तुत करता है । "पहले छः महीने के अन्दर-ही-अन्दर शरीर और मन सरकारी अफसरी के साँचे में ढलने लगा, जिस्म में चुस्ती आ गयी, गर्दन में तनाव आया, लोग कुछ दूर-दूर तक नज़र आने लगे, . . . आध्यात्मिक सवाल, राजनीतिक सवाल, अच्छे और बुरे के प्रश्न तो मन में यों झर गए, जैसे नयी कोंपलें निकलने से पहले सूखे पत्ते पेड पर से झर जाते हैं ।"[2] मधुसूदन रिटायर्ड हो चुका, बीवी मर चुकी, बेटे-बेटी चारों ओर बसने लगे । अब नौकर नहीं, गारेज में गाडी नहीं । दो मंजिला मकान में मधुसूदन अकेला हो गया, होटल का बैरा भोजन दे रहा है, और घर भी उसके समान झरने लगा । अब वह अकेलापन एवं बोरियत का शिकार है, बेटा-बेटी कोई नहीं आता है । पडोसियों से संबन्ध नहीं, घर कीदीवार पर इश्तहार चिपकाने लगे और वह दिन में बारह बजे सोने लगा । उसकी यंत्रणा इतनी बढ गयी कि "दिन में चौथी बार अख़बार उठा लिया ।"[3] चीफ की दावत" और "कुछ और साल" का अगला चरण हमें "गीता सहस्सर नाम" में मिलता है । चाची के घर के आगे कुत्ता है, क्योंकि वे अमीर हैं । "अमीर लोग घर को खुला क्यों छोड जाते हैं' क्या सचमुच इनके नौकर इनकी चीज़ें नहीं उठाते'."[4] घर में सब ऊपर छत पर हैं । चाची नीचे एक कोठरी में बैठकर गीता सहस्सर नाम पढ रही है । "चाची ने आँखों पर चश्मा ठीक किया, एक कान पर फ्रेम चढाया, दूसरे पर धागा बाँधा । . . . दोनों हाथों से किताब को पकडे धीरे-से गुनगुनाने लगी . . . ये तो वेदमंत्र है, गीता के श्लोक तो नहीं है ।"[5]

---

1. भटकती राख - पृ: 127 - भीष्म साहनी ।
2. वही ।
3. वही - पृ: 138.
4. वही - पृ: 189.
5. वही - पृ: 193.

इसप्रकार अन्ध आधुनिकता के दौड में पड अपने को इसी उम्र में भी समयानुकूल बनाने का खोखला प्रयास कर रही है । वास्तव में बडी उम्र पारकर भी चाची आत्म प्रवंचना में पड गयी है । शायद वह स्वयं अंधेरी में पडी है । इसलिए कथावाचक {मैं} को सन्देह है कि "चाची अन्धेरी कोठरी में क्यों बैठी थी' . . . कोई वृद्ध बैठी हो तो अंधेरा और भयानक हो उठता है ।"[1] चाची के व्यवहार में ही नहीं, वहाँ के छोटे बच्चे भी इस रोग से पीडित है ।

"पटरियाँ" वर्ग संक्रमण की कथा है तो "चाचा मंगलसेन" और "खून का रिश्ता" उससे भिन्न स्तर की हैं । "खून का रिश्ता" मध्यवर्गीय ऐंठ, रोब और सामाजिक सम्मान की कथा है । इसमें सामाजिक हैसियत के आगे खून का रिश्ता हेय बन जाता है । वीरजी अपने सगाई के वक्त निर्धन चाचा को लेने का प्रस्ताव रखता है । तब माँ कहती है कि "हाय हाय बेटा, शुभ-शुभ बोलो ! अपने रईस भाइयों को छोडकर इस मरदूद को साथ ले जायें' सारा शहर तू-तू करेगा ।"[2] घर में मंगलसेन का स्थान नौकर का-सा है । बडे भाई नौकर, बच्चे, बीवी के समुख उसे पुचकारता है । अन्त में बडे भाई के साथ मंगलसेन सगाई केलिए जाता है और लौटकर घर पहूँचते ही सगाई के अवसर मिले सामानों की गिनती करती है और एक चम्मच की कमी होती है । तब बेटी मनोरमा सबके आगे चाचा मंगलसेन की छानबीन तक करती हैं । यहाँ रिश्ते का बल खून का, सत्य का नहीं धन-दौलत का मात्र है । "खून का रिश्ता" का चाचा मंगलसेन ठंडा स्वभाव का है । "खून का रिश्ता" की अगली कडी लगती है "चाचा मंगलसेन" की कथा । दूसरा चाचा पहले से बूढा है साथ ही स्वतंत्रता प्रेमी भी । दूसरा अन्तर यह है कि खून का रिश्तेवाला वहाँ जोंक की तरह रहता है तो "चाचा मंगलसेन" का चाचा अपने संबन्धी धनिक के घर में ठहरना नहीं चाहता है, वह उसकेलिए "मरन कोठरी" है । इसका बलराम मध्यवर्ग का प्रतीक है, जो सामाजिक डर से अपने चाचा को घर लेना चाहता है । उसके अन्तर यह विचार भी है कि यदि वह आए तो घर का

---

1. भटकती राख - पृ: 192 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 51.

भार बढेगा । डिग्री और धन के तुला पर सबको तोलनेवाला बलराम में पुराने संस्कार का अंश भी है । "कहीं पुराने संस्कार उसके दिल को कचोटने लगे थे, और कुछ इस बात का डर भी कि लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे कि उसके रहते मंगलसेन इस हालत में रह रहा है ।"[1] इन दोनों से भिन्न "पटरियाँ" का केशोराम अपने को मध्यवर्गीय पटरियों में बदल पाने का असफल प्रयास कर रहा है । और वह प्रयास पटरियाँ के समान कभी भी एक दूसरे से नहीं मिलता या सफल भी नहीं होता है । शिक्षित केशोराम आर्थिक पराभव के बावजूद अपने को बडा दिखाना चाहता है । इसी कारण वह अपनी वर्दी एवं धंधे को छिपाने का प्रयास करता है । इसके बारे में कोई प्रश्न सुनना तक वह नहीं चाहता है । उसके डर से ही "केशोराम का दिल बैठ गया । इसी प्रश्न से बचनेकेलिए वह कन्नी काट रहा था ।"[2] "ललक" में भी "पटरियाँ" की भांति वर्ग-भेद की समानान्तर पटरियाँवाली चेतना है । इसमें एक बालक है, जो कहानी में "वक्ता" के रूप में आता है । वह निम्न वर्ग को हेय समझकर उच्चवर्ग की प्रतीक्षा में रहता है । निम्नवर्ग को सताकर वह खुश होता है । "दिए की अस्थिर रोशनी में मुझे लगता कि उसकी आँखें अधिकांधिक खुलती जा रही हैं और उनके जर्द पीले चेहरे पर घूमने लगी है । वे आँखें जितनी ज़्यादा खुलती जाती, उतना ज़्यादा आश्वास महसूस करता ।"[3] हाँकी मैच खेलते वक्त उच्चवर्ग का हरदेव फाउल खेलने पर भी उसके माँ-बाप उसे प्रोत्साहन दे रहा था । इससे मैं {वक्ता} का हीनताबोध और बढ जाता है जिससे उभरी मानसिकता से वह एक झोंपडी को आग लगा देता है और एक बूढे को बुरी तरह पीटता भी है । इसप्रकार वक्ता एक स्तर का अमानवीय सुख प्राप्त करता है जो उच्चवर्गीय अमानवीयता से कम नहीं है ।

"अपने अपने बच्चे", "साग मीट", "राधा अनुराधा", "पिकनिक" और "संभल के बाबू" मध्यवर्गीय परिवार की अमानवीयता को उभारती हैं । इन कहानियों में नौकर-नौकरानी के प्रति उक्तवर्ग की दृष्टि स्पष्ट हो जाती है । "अपने

---

1. निशाचर - पृ: 11 - भीष्म साहनी ।
2. पटरियाँ - पृ: 10.
3. वही - पृ: 36.

अपने बच्चे" में मालिक के बच्चे और एक नौकरानी के बच्चे को एक साथ रखकर मध्यवर्ग की अमानवीयता की ओर संकेत करती है । चार वर्ष का बालक निक्कू को एक बिस्कुट देकर मालिक अपनी "शू" पालिश करवाता है जब अपना बच्चा आलीशान कोठरी में गहरी नींद में है । निक्कू मालिक के बच्चे के साथ खेलते देखकर उसे वहाँ से भगाती है । "तू यहाँ क्या कर रहा था' . . . तू इससे खेलेगा' जा भाग यहाँ से ! जा, आया के पास जाकर बैठ ।"[1] "अपने अपने बच्चे" में नौकरानी को स्थायी रूप में मिलने केलिए उसके बच्चे को बिस्कुट देता है और काम करवाता है तो "राधा अनुराधा" में खुद नौकरानी को छद्म प्रोत्साहन देती है । इसमें श्यामा बीवी की छद्म सहानुभूति और मध्यवर्गीय बेचैनी, सन्देह एवं भय की ओर इशारा है । राधा "बसन्ती" की बसन्ती के समान स्वच्छन्द एवं हँसी हंडी है । "पिकनिक" में निम्नवर्ग के बच्चों के प्रति मध्यवर्ग की क्रूर मानसिकता एवं घृणा है । हरगोपाल अपनी खाली पेटी नाली पर डालता है कि "बक्सों के उखडे कील नाली के किनारे तक बढे हुए थे । होनहार नाली में से न भी निकल पाए तो भी इन कीलों से उसे खरोंच लग सकती है, उसका बदन छिल सकता है ।"[2] डाक्टर, गिडवानी, वकील की बीवी सब यही कार्य करते हैं । वकील की पत्नी कुत्ता लेकर बच्चों को भगाना चाहती है । गिडवानी को इन बच्चों की परेशानी, कठिनाइयाँ खेल-कूद सब एक पिकनिक जैसी लगती है । इसप्रकार के लोग दलितों के बच्चों को फाटक के बाहर तक खेलने नहीं देते । "साग मीट" में नौकर के प्रति अफ्सरी जीवन का पाखंड है । घर मालिकिन सुमित्रा में वर्ग सहज शंका, डर एवं स्वार्थ है तो मालिक में अपनी व्यावसायिक बुद्धि अधिक तेज और क्रूर है । नौकर जग्गा की बीवी का मुँह छोटा मालिक काला कर देता है जिससे दुखी होकर जगा आत्महत्या कर लेता है । इसपर मालिक का कथन है कि "कोई बेसवा के पास तो नहीं गया, कोई बीमारी तो नहीं ले आया, हो गयी बात जो होनी थी, आगे केलिए इसे कान हो जायेंगे ।"[3]

---

1. भटकती राख - पृ: 182 - भीष्म साहनी ।
2. वाङ्चू - पृ: 46 - वही ।
3. वही - पृ: 43.

ऊपर की कहानियों से समानता रखने पर भी "संभल के बाबू" थोडा भिन्न स्तर की कहानी है। इसमें एक ओर मध्यवर्गीय सुखलोलुपता और उद्दण्डता है तो दूसरी ओर अपनी गत पीढी से आगे सोचनेवाली नई पीढी का नौकर नत्थू है। अपने आज्ञापालन के हेतु मालिक का नौकरों को मारना-कोसना स्वाभाविक रूप में चलता है। मालिक की अपनी गलतियों एवं गलतफहमियों का शिकार भी नौकर ही होता है। मगर नत्थू इसका विरोध ही नहीं करते अपने मालिक का हाथ पकडता है। ऐसे अवसर पर समझौतावादी - मौकापरस्ती मालिक अवसरवादी बन जाता है। "मैं स्वयं समाजवादी विचारों का आदमी हूँ। मैं ने तुम्हें सदा अपने बेटों के समान माना है। हम नौकर को बराबर का दर्जा देते हैं।"[1]

"रास्ता", "डोरे" और "विकल्प" मध्यवर्ग के पारिवारिक विघटन और बदलते संबन्धों की कहानियाँ हैं। "रास्ता" कहानी पति-पत्नी संबन्ध के गिरते नैतिक मूल्य को लेकर आती है तो 'डोरे' त्रिकोण प्रेम की समस्या को लेकर आती है। "रास्ता का पति" एक पंजाबिन के साथ और पत्नी अपने प्रेमी के साथ संबन्ध रखते हैं। इसकी जानकारी मिलने पर भी साला चुप रहता है। "डोरे" में आज के तिकोन-प्रेम के बीच पिसती बच्ची की हालत को व्यक्त किया गया है। साथ ही उसके अनिश्चित एवं अज्ञात भविष्य के प्रति प्रश्न चिह्न उठाया है। इसप्रकार के घर का वातावरण ठण्डा होता है जो "बच्चों केलिए असह्य होगा। बच्ची मालती घर के अन्दर चहक और कोलाहल चाहती है। "मालती क्यों ऐसा कर रही थी' वह मन-ही-मन जानती थी कि ऐसे अवसर घर में बहुत कम आते हैं - सौभाग्य से छिटकें हुए सुन्दर क्षण। ऐसे क्षणों को वह मानो पकड लेना चाहती थी, और घर में बनाए रखना चाहती थी। हंसी का, सुख का नन्हा-सा कालखण्ड जिसे वह घर में स्थिर कर लेना चाहती थी।"[2]

---

1. निशाचर - पृ: 86 - भीष्म साहनी।
2. पटरियाँ - पृ: 167 - वही।

"अहं ब्रह्मास्मि" और "मेड इन इटली" में मध्यवर्ग की फैशन-प्रियता, पाश्चात्य-प्रेम और बढ़पन की प्रस्तुति हुई है । "अहं-ब्रह्मास्मि" का मिस्टर भाटिया अंग्रेज़ी पुस्तकों का विक्रेता है जो अंग्रेज़ी जीवन-यापन और चाल-चलन से लालायित है । मगर वह अपने यथार्थ रूप को छोड़ने में असमर्थ निकलता है । वह अंग्रेज़ों के समान इतवार के दिन सिगार पीता है और कुत्ता लेकर घूमता है । वेश-भूषा भी अंग्रेज़ों जैसा ही करता है । वह पाश्चात्य दर्शन और संस्कृति का विद्वान होने का दिखावटीपन रचता है और अन्त में अंग्रेज़ी में भारतीय संस्कृति की प्रशंसा देखकर भारतीयता की ओर लौटना चाहता है । "ढोलक" में भी पाश्चात्य संस्कृति को श्रेष्ठ मानने का भ्रम है । रामदेव इसी भ्रम में पड़कर अपनी परम्परा एवं रीति-रिवाज़ को तोड़ने का प्रयास करता है तब उसकी प्रशंसा विदेशियों द्वारा सुनते ही, वह भारतीय संस्कृति की ओर लौटता है । मगर "मेड इन इटली" की मीरा अपने भ्रम को बदलने को तैयार नहीं है । वह भारतीय वस्तुओं में भी विदेशी लेबुल चिपकाना चाहती है । विदेशी बस-टिकट, होटल-बिल एवं हवाई जहाज़-टिकट दिखाकर वह अपने को समाज में ऊँची मानना चाहती है । इसतरह "लीला नन्दलाल की" में शहरी युवकों की प्रदर्शन प्रियता की झांकी मिलती है । दिल्ली जैसे शहर में युवकों केलिए स्कूटर अपनी पहचान है । "गले में रेशमी रूमाल लहरा रहा होगा, बाल उड़ रहे होंगे, आँखों पर मोटा चश्मा होगा । दिल्ली में स्कूटर के बिना जिन्दगी का लुत्फ ही क्या है? स्कूटर पर आगे युवक पीछे युवती, युवक की कमर में डाले हुए, उसकी पीठ पर झुकी हुयी . . . दिल्ली की खचाखच भरी, नीरस सड़कों पर रोमांस का रंग छिटक जाता है ।"[1]

"खिलौना" में बढ़ती हुयी संवेदनहीनता एवं जीवन संकट का अंकन हुआ है । वीणा और दिलीप आज के समाज की हैसियत के समान जीने को व्यग्र है । इसकेलिए दोनों काम करते हैं । पप्पु, जो पाँच वर्ष का लड़का है, को सबेरे ही दोपहर और शाम के भोजन साथ देकर स्कूल भेजा जाता है, जहाँ दोपहर तक मात्र स्कूल काम करता है । स्कूल छोड़कर अपनी माँ-बाप की प्रतीक्षा में एक दूकान आगे खड़े पप्पु वास्तव में एक पुतला ही है । उसे बचपन से ही एक पुतला बना दिया है । "मजाल है

---

1. शोभायात्रा - पृ: 109 - भीष्म साहनी ।

जो एक इंच भी इधर से उधर हो जाए । उस रोज़ हम चार घंटे देर से पहुँचे । साये उतर आये थे और बत्तियाँ जल चुकी थीं । यह दिल में घबराए कि पप्पु न जाने कहाँ होगा । . . . बुत का बुत, भूखा-प्यासा, दूकान के चबूतरे पर खडा था । बल्कि हमसे दूकानदार कहने लगा, जी, आपका बेटा तो सच्चा योगी है ।"[1] "त्रास" में मध्यवर्ग की अमानवीय सुख-प्राप्ति की कथा है तो "कण्ठहार" उस वर्ग की आशा, आकांक्षा, वासना एवं प्रदर्शन प्रियता की कहानी है । ये सब मालती के छाती पर कण्ठहार बनकर डोल रही है । उसे अपनी विकलांग बेटी को देखते ही "मानिया" आती है, परन्तु उसकी अपनी विकलांगता के कारण ही वह रूग्ण बच्ची को अपने जीवन की अभिशाप मानती थी ।"[2] अपनी पन्द्रह वर्षीय बेटी के आगे वह कहती है कि "हम रोज़-रोज़ नए-नए डाक्टर नहीं बुला सकते , तेरा इलाज करते करते तो हम अगले जहान में पहुँच जायेंगे ।"[3]

"विकल्प" की मुन्नी मालती से भिन्न है । मुन्नी पति के प्रेम, सम्मान और स्वतंत्रता की अपेक्षा सुरक्षा एवं सम्पत्ति चाहती है । आधुनिक समाज में नारी को अपने पाँव पर खडे करने का नारा, बुलन्द रहा है, तब भी मध्यवर्गीय नारी अपनी सुरक्षा को सम्मान एवं परिश्रम से अधिक महत्व देती है । "दिवास्वप्न" का लेखक अपनी स्थिति सुधारने का स्वप्न में भटक रहा है । उसे नाम, सम्मान एवं सम्पत्ति की चिन्ता है । "बीवर" कुत्ते की कथा न होकर मध्यवर्गीय महत्वाकांक्षा की कहानी है जो फैशन-प्रियता हेतु भटकती है । इसमें दो भाई एक आवारा कुत्ते को पालकर परिष्कृत बनना चाहते हैं, क्लब जाते हैं और इज़्ज़त के बजाय बेइज़्ज़ती मिलती है । दूसरी ओर उनकी निर्ममता है । "क्रिकेट मैच" एक मध्यवर्गीय परिवार में खेले जानेवाली क्रिकेट मैच है तो "कांटे की चुभन" में दो भिन्न धर्मावलंबियों के झूठी अहं का प्रस्फुटन है । इसप्रकार भीष्मजी की कहानियाँ मध्यवर्गीय जीवन के कोने-कोने झांकती हैं ।

----

1. शोभायात्रा - पृ: 27 - भीष्म साहनी ।
2. निशाचर - पृ: 33 - वही ।
3. वही - पृ: 43.

व्यंग्य की विद्रूपता

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के वर्षों भारतीय समाज सडी-गली, अस्त-व्यस्त एवं दारुण विभीषिका का साक्षात्कार कर रहा था । "यह मोहभंग का काल था जब कथनी और करनी के बीच का अन्तर उत्तरोत्तर बढ़ने लगा था, अतीत के सपने वर्तमान के यथार्थ पर चूर-चूर होने लगे थे । सियासतदानों और सत्ताधारियों की बातों पर से विश्वास उठने लगा था ।"[1] आज देश में हर कार्य राजनीतिकरण के अंक बन पडा है । अर्थ एवं राजनीति मानव जीवन के साध्य एवं साधन बन गये हैं । एसे माहौल में मानवीय संबन्ध, जीवन मूल्य, प्रेम एवं श्रद्धा के आधार, राजनीति का उद्देश्य, शिक्षा एवं साहित्य का क्षेत्र-सबका सब विषाक्त हो गये है । प्रस्तुत स्थिति में रचनाकार यथार्थ की अभिव्यक्ति केलिए कभी-कभी व्यंग्य का सहारा लेता है ।

व्यंग्य, आजकल एक स्वतंत्र विधा के रूप में विकसित हो रहा है । किन्तु उसका सहयोग कविता, कहानी, उपन्यास और नाटक में भी सही एवं प्रासंगिक रूप में विद्यमान है । सामाजिक यथार्थ की तह तक जाने केलिए रचनाकार अपनी रचनाओं में व्यंग्य का सहारा लेता है । "व्यंग्य किसी भी भाषा की ज़िन्दादिली और जीवन्तता का प्रतीक होता है ।"[2] व्यंग्य यथार्थ को पकडने का और मन को कुरेदकर सही दिशा दिखाने का एक साहित्यिक अस्त्र है । "व्यंग्यकार के अस्त्र होते हैं आयरनी, सरकाज़्म, इन्वेक्टिव और विट । उसका इलाका है पूरी व्यवस्था, मूल्य पद्धति और सामाजिक संरचना , उसका माध्यम है किसी विसंगति पर रोशनी केन्द्रित करना, उसका मकसद है , परिवर्तन और क्रांति और उसके शिकार आत्मतुष्ट और आत्मनिष्ट व्यक्ति और समाज ।"[3] इसके बारे में स्वयं भीष्मजी ने लिखा है कि "व्यंग्य सीधा पाखंड पर प्रहार करता है । व्यंग्य का मूल विषय ही पाखण्ड होता है । . . .उसे (लेखक को)

---

1. अपनी बात - पृ: 155 - भीष्म साहनी ।
2. आँखन देखी - पृ: 259 - सं. कमला प्रसाद ।
3. वही - पृ: 262.

इस बात की परवाह नहीं रहती कि वह निबन्ध लिख रहा है या कहानी या डायरी, उसे केवल इस बात की परवाह रहती है कि उसकी रचना वार करती है या नहीं और उसका वार निशाने पर बैठता है या नहीं ।"[1] आजकल राजनीति ही नहीं बल्कि धर्म, संस्कृति, अर्थ, समाज जीवन, मित्रता संपूर्ण इलाके भ्रष्ट हो गए हैं । रचना में सामाजिक यथार्थ की महत्ता के बढने के कारण आजकल व्यंग्य अधिक प्रयोजनशील रह रहा है । उसका मुख्य कार्य वस्तु-स्थिति की आलोचना के साथ आदर्श का निर्देश है । "इसप्रकार व्यंग्य का आशय सामाजिक संरचना में लेखक की शिरकत से सीधे ही संबद्ध हो जाता है और लेखक से प्रतिबद्धता की माँग करता है ।"[2] व्यंग्यकार केलिए यथार्थ का गहरा बोध होना अनिवार्य है, नहीं तो वह सतही बन जाता है। सही व्यंग्य पाठक की चेतना को झकझोर करके उसे सही दिशा की ओर कम-से-कम सोचने को बाध्य करता है । इसतरह "श्रेष्ठ व्यंग्य रचनायें गहरी मानवीय संलग्नता से उपजी हैं और आक्रामक मुद्राओं के बावजूद उनका लक्ष्य एक बेहत्तर मानव-समाज की कल्पना है ।"[3] व्यंग्य को वैचारिक आधार एक सही आलोचनात्मक रुख देता है जिससे उसे सही रास्ता मिलता है ।

हिन्दी कहानी में व्यंग्य कहानियों की एक परम्परा बराबर रही है । उसमें बेचेन शर्मा "उग्र" की कहानियाँ श्लाघनीय हैं । नई कहानी के दौर में हरिशंकर परसाई ने व्यंग्य - कहानियों की परम्परा को पुनरुज्जीवित किया है । लेकिन परसाई की सभी कहानियों में व्यंग्य की गहनता व गहराई नहीं मिलती है । भीष्म साहनी की व्यंग्य कहानियों में व्यंग्य का गहरा एवं गंभीर रूप ही अधिक मिलता है । यथार्थ से जीवन को जहाँ पकड नहीं सकते तब वे व्यंग्य के ज़रिए विद्रूपता को प्रस्तुत करते हैं । आज प्रजातंत्र के नाम पर विभिन्न दलों के बीच छीना-झपटी, दाँव-पेंच, आरोप-प्रत्यारोप और आक्रमण की आँख-मिचौनी निरन्तर चलती रहती है । भीष्मजी ने आज के यथार्थ के बढते दबाव को चित्रित करने केलिए व्यंग्य को तीव्र बना दिया है ।

---

1. अपनी बात - पृ: 153 - भीष्म साहनी ।
2. आलोचना - 88 - पृ: 52 - सं. नामवर सिंह ।
3. वही - पृ: 52.

"पूँजीवादी व्यवस्था में पनपती विषमता, अमानवीयता, शोषण और चरित्र संकट के विरुद्ध किसी प्रकार का फार्मूलाबद्ध स्थानी दृष्टिकोण न रखकर उनके विद्रूप को उजागर करने का काम भीष्म साहनी की कहानियाँ करती हैं ।"[1] भीष्मजी के व्यंग्यपरक कहानियों में राजनीतिक नेता, धार्मिक नेता, अफसर, परजीवी, अतीतजीवी, आकाशचारी सब आते हैं । इन कहानियों में व्यवस्था से उत्पन्न अन्तर्विरोधों, विसंगतियों, विडम्बनाओं, राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक उथल-पुथल आते हैं ।

"मौका परस्त" भीष्म साहनी की एक सशक्त कहानी है । इसमें वे राजनीतिज्ञों की मौकापरस्ती का अनावरण करते हैं । "उसमें एक हरफन-मौला किस्म के आदमी की बडी जीती-जागती तस्वीर हमारे सामने उभरती है, हमारे देश की राजनीति में जिनकी संख्या बहुत तेज़ी से बढी है, जो रास्ता चलने बूचडखाने को ले जायी जाती बकरियों के, बच्चों द्वारा खेल-खेल में दुह लेते देखकर शंभु की अर्थी का बडा मौलिक उपयोग करता है ।"[2] चुनाव के दो-तीन दिन पहले एक हादसे में शंभु मर जाता है, जो पार्टी का एक साधारण कार्यकर्ता मात्र था । मौकापरस्ती राजनीतिज्ञ उक्त मौके का सदुपयोग करके उस लाश को शहीदों की हैसियत देता है । ट्रक, जुलूस, लाउड स्पीकर एवं नारों के बीच शंभु का लाश एक शहीद का-सा अभिभूत होता है । नेता रामदयाल परम्परा और अन्धविश्वासों का विश्वासी नहीं, मौके का विश्वासी है, जिसके माध्यम से लेखक आज की भारतीय राजनीति के प्रतीक-पुरुष का खाका खींचता है । कहानी के अन्त में रामदयाल के मुँह से इसी अवसरवादिता के शब्द ही सुनाई पडता है । "हमसे तो जो बन पडा, हमने कर दिया । दुश्मन के गढ़ को तोड आए और क्या कर सकते थे । हमारे लिए तो उनके इलाके में घुसना मुश्किल हो रहा था । सब मौके की बात है ।"[3] "फैसला" में हमारे कानून व्यवस्था के कंदरों एवं रंध्रों को दिखाया है । सरकारी सत्य मिस्ल है, चाहे जज या और कोई, मिस्ल के अनुसार चलना पडता है । सरकारी कामकाज केलिए मिस्ल "ब्रह्मसत्य" है, वास्तविक सच्चाई

---

1. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना - पृ: 95 - सं. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर ।
2. दस्तावेज़ - पृ: 26 - सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ।
3. पटरियाँ - पृ: 74 - भीष्म साहनी ।

जो कुछ भी हो । इसलिए सत्य एवं ईमानदारी का प्रतीक शुक्लाजी की फैसले को ठुकराकर मुजरिम उन्मुक्त हो जाता है । आज की व्यवस्था में वही जीने योग्य है जिसके पास शक्ति, धन और कापट्य हैं । यही कार्य "लीला नन्दलाल की" नामक कहानी में भी द्रष्टव्य है । इसमें भी कानून एवं व्यवस्था के अन्तर्विरोधों पर व्यंग्य है । नन्दलाल को लीला पुलिस, अदालत, दफ्तर हर कहीं चलता है और वे पुराने राजाओं के समान उन्मुक्त जीवन जीता है । आजकल सामान्य जन को कार्य सिद्धि केलिए इन नन्दलालों का पैर पकडना पडता है । कहानी में मोटे नन्दलाल की सहायता से मुआबजा मिलता है और चोर की कृपा से स्कूटर भी वापस मिलती है । चोर को पहचानने पर पुलिस गवाही की प्रतीक्षा करती है । यहाँ चोर एवं मोटे नन्दलाल और "फैसले" का थानेदार भी एक ही कार्य करते हैं । "वह भी उसी लहजे में बोल रहे थे जिसमें मैं ने मोटे नन्दलाल को बोल्ते सुना था ।"[1] स्कूटर मिलने पर मुकद्दमा वर्षों तक चलता है । इस बीच स्कूटर खराब हो जाती है । "यह पाँचवें मजिस्ट्रेट है जो इस मुकद्दमे की देखभाल कर रहे हैं . . . कचहरी में पहूँचते घंटे-भर के अन्दर ही मेरी हाजिरी लगाकर मुझे अगली तारीख दे देते हैं ।"[2] इसप्रकार आज के नन्दलालों की व्यवस्था पर व्यंग्य करते हैं । "मालिक का बन्दा" रेलवे हवलदार नत्थसिंह के सत्य एवं भक्ति और चोरी एवं चापलूसी को एक साथ पालने के विरोधाभासों पर प्रकाश डालती है । वह अपने उच्च अधिकारी की साहयता प्राप्त कर रैलवे के सामान से मन्दिर बनवाता है । दूसरी ओर जनवादी कविगण की सुविधा केलिए सामान्य यात्रियों को तंग करता है । इसमें व्यंग्य बाण एक ओर जनवादी कवि के सुविधा - प्रेम की ओर है तो दूसरी ओर रैलवे रक्षक हवलदार की भक्षकवृत्ति पर है । "बात की बात" हमारी पुलिस सेना की अकर्मण्यता और अनास्था पर उसके कर्मों को दिखाकर खिल्ली उडाती है । पुलिस प्रायः सही मुजरिम को नहीं पकड पाती है मगर उसके स्थान पर आम आदमी भोगता है । पुलिस अपने दायित्व को भूलकर अकर्मण्य एवं आलसी बन गयी है । इसमें एक उलझन को मिटाने के बहाने एक निरीह खोमचेवाले को

---

1. शोभायात्रा - पृः 118 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृः 128.

बरबाद करता है । इसकी और जनता की प्रतिक्रिया है कि "अब बात हुई न । सरकार ने जड को पकडा है । देखा सरदारा, गोरमेंट का इन्साफ । कानून कानून है आखिर ।" "गंगो का जाया" भारतीय कानून - व्यवस्था और भारत के यश, महिमा एवं प्रताप पर चोट करती है । यहाँ बच्चों से काम करवाने का कार्य गैरकानूनी है साथ ही उन्हें अनिवार्य शिक्षा देने का कानून भी है । परन्तु हमारी राजधानी दिल्ली में चमारबालक, जो पाँच वर्ष का है, हाथ में "ब्रुश" एवं पालिश लेकर भटकता है । बच्चे को उपयोग करने का ढंग भी मालूम नहीं है और वह गली में उसका अध्ययन करता है जिसकेलिए गली ही गुरु होती है, गली ही विद्यालय भी होती है । प्रस्तुत वर्ग की हालत परम्परागत रूप में ही यही होती है, आरक्षण और सुविधायें कानून में होने पर भी । इसलिए घीसू कहता है "मुझे कौन काम सिखाने आया था' सभी गलियों में ही सीखते हैं । मरेगा नहीं, घीसू का बेटा है, कभी - न - कभी तुझे मिलने आएगा ।"[2] सरकार अछूतोद्धार एवं आरक्षण केलिए खर्च करती है परन्तु वह अफसरों, ठेकेदारों के हाथ में पहूँचता है । तब भी रीसा मुँह में ऊँगली दबाकर गली में घूमता ही रहता है । उसका विधाता वही ठेकेदार बन पडता है । "ठेकेदार हर मज़दूर के भाग्य का देवता होता है । जो उसकी दया बनी रहे तो मज़दूर के सब मनोरथ सिद्ध हो जाती है, पर जो देवता के तेवर बदल जाये तो अनहोनी भी हो के रहती है ।"[3]

आजकल भारतीयों की फैशन-प्रियता बढ रही है । पाश्चात्य सभ्यता के प्रति गुण-दोष विवेचना के बिना उनमें बडा मोह है । पाश्चात्य जीवनरीति, पाश्चात्य वस्तु, चाल-चलन एवं भाषा के प्रति भारतीय लालायित दिखायी पडते हैं । "मेड इन इटली" की मीरा, "अहं ब्रह्मास्मि" का मिस्टर भाटिया और "ढोलक" का दुल्हा रामदेव इसके उदाहरण हैं । मीरा पाश्चात्य भ्रम में पडकर अपने अस्तित्व तक भूल जाती है । वह इटली जाकर वहाँ की बस -टिकट तक बटोरती है । वहाँ से

---

1. भटकती राख - पृ: 69 - भीष्म साहनी ।
2. भाग्यरेखा - पृ: 91 - वही ।
3. वही - पृ: 84.

एक मनपसन्द बैग खरीदती है, पर कुछ देर बाद उसपर चिपके भारतीय लेबुल देखकर वह चौंकती है और लौटकर दूकान में पड़ी टोपी की लेबुल लेकर उसपर चिपकती है । इसके अलावा अतिरिक्त मूल्य देकर वह कुछ विदेशी लेबुल स्वायत करती है । वहाँ के लोगों से सांस्कृतिक जगहों के नाम सुनते ही "मीरा ने शुद्ध यूरोपीय मुस्कान के साथ कह दिया था कि अगर मुझे खण्डहर ही देखने थे तो भारत में खण्डहर क्या कम है' मैं तो यहाँ शॉपिंग करने आयी हूँ ।"[1] भाटिया अंग्रेज़ी पुस्तकों का विक्रेता है जो अपने को पाश्चात्य विद्वान एवं दार्शनिक दिखाता है । अंग्रेज़ी जीवन ढंग से आकृष्ट वह उनका अनुकरण करता है । लेकिन आन्तरिक स्तर पर उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता है । "इतवार के दिन वह सिगार पीता और कुत्ता लेकर घूमने जाता, और ऐसा कोट पहनकर जाता, जिसकी कोहनियों पर चमड़े के झब्बे लगे रहते थे । गर्मी के मौसम में वह दिन में चार बार अपनी कमीज़ और दस बार बनियान बदलता था, और दिन में तीन - तीन बार अपने बैरे गुसल लगाओ का हुकम देता था ।"[2] रोग से पीड़ित भाटिया अबोधावस्था में अपनी रुग्ण मानसिकता का प्रदर्शन करता है । "अस्पताल की नर्स कानों पर हाथ रखे बाहर भाग आयी थी, "हे भगवान मैं नहीं जानती थी कि एक अनब्याहा आदमी बेहोशी में ऐसी लेचर बातें बोल सकता है ।"[3] अपने को विदेशी दर्शन का पारखी दिखानेवाला भाटिया एक विदेशी किताब में भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा को देखकर भारतीय वेदांतों को रटना शुरू करता है । वह अपना असली रूप फिर भी दिखाता है जब अंग्रेज़ों द्वारा धक्का खाकर उनसे माँफी माँगकर घर में "अइ एम द डिवइन फेल्म" का जप करता है । "ढोलक" का रामदेव भारतीय परम्परा एवं रीतिरिवाज़ों का तिरस्कार करता है परन्तु अंग्रेज़ों द्वारा उनकी प्रशंसा सुनते ही भारतीय पोशाक पहनता है ।

मध्यवर्गीय जीवन अन्तर्विरोधों एवं विडम्बनाओं से भरा हुआ है । भीष्म साहनी अपनी अनेक कहानियों में इनके जीवन के अन्तर्विरोध को पकड़ने केलिए व्यंग्य का सहारा लेते हैं । "बीवर", "कुछ और साल", "चीफ की दावत", "ईमला",

---

1. शोभायात्रा - पृ: 38 - भीष्म साहनी ।
2. निशाचर - पृ: 120 - वही ।
3. वही ।

"जख्म", "शिष्टाचार" जैसी कहानियों में यही कार्य देख सकते हैं । "बीवर" में दो बालक एक साधारण कुत्ते को पालते हैं और क्लब में ले जाते हैं । आधुनिक समाज में कुत्ता पालना एवं उसे साथ लेकर घूमना सामाजिक हैसियत को बढाने का कार्य है । परन्तु दोनों भाई अपने कुत्ते की वजह समाज के आगे अपमानित होते हैं । शहर में लोग इसका नस्ल, वर्ग समझकर बीवर को औसत कुत्ता कहते हैं और उसे क्लब के अन्तर ले आने की अनुमति भी नहीं देते । पर कुत्ता अन्दर आकर भाइयों के पास खडा होता है और भौंकता भी है । इस तरह बीवर हैसियत बढाने की वजह गिरा देता है । दोनों भाई बीवर से मुक्त होना चाहते हैं, मगर ईमानदार कुत्ता उन्हें छोडता भी नहीं । अन्त में चुंगी के लोग उसे पकडते हैं तब भी वे अपनी सहानुभूति नहीं प्रकट करते हैं । इसप्रकार मध्यवर्ग की संवेदन हीनता पर व्यंग्य करते हैं । "कुछ और साल" का शिवशंकर और मधुसूदन सहपाठी थे । शिवशंकर एक लेखक एवं अध्यापक है तो मधुसूदन कुमार्ग से पदोन्नति प्राप्त करता है । "पहले छः महीने के अन्दर-ही-अन्दर शरीर और मन सरकारी अफ्सरी के साँचे में ढलने लगा, जिस्म में चुस्ती आ गयी, गर्दन में तनाव आया, लोग कुछ दूर-दूर तक नज़र आने लगे, कुछ छोटे छोटे नज़र आने लगे ... आध्यात्मिक सवाल, राजनीतिक सवाल, अच्छे बुरे प्रश्न तो मन में से यों झर गए, जैसे नयी कोंपलें निकलने से पहले सूखे पत्ते पेड पर से झर जाते हैं । नयी कोंपलें जो खिलीं, तो तरक्की-तबादले की, कामकाजी दक्षता की, रोब-दाब और डील-डोल की ।"[1] इसपर भी टिप्पणी करते हुए मित्र शिवशंकर कहता है "तुम उन दिनों खादी पहना करते थे और तुमने कहा था कि चलो देश-सेवा का काम करो ।"[2] मधुसूदन में मध्यवर्गीय संस्कार और महत्वाकांक्षा बढती-रहती थी । वह प्रगति का पद पार करता ही रहता था । इस बीच वह किसी उलझन में नहीं पडता है, "जैसे झील की सतह पर राजहंस तैरता हुआ निकल जाता है "[3] वैसे मधुसूदन भी । "चीफ की दावत" की माँ अपने

---

1. भटकती राख - पृ: 127 - भीष्म साहनी ।
2. वही ।
3. वही - पृ: 128.

पुत्र की शिक्षा केलिए जेवर तक बेचती है और अन्त में पुत्र शामनाथ को वही माँ फलतू नज़र आती है । पदोन्नति के मोह में पडकर चीफ को दावत देना चाहता है और चीफ के आगे घर को सज-धज करने की कोशिश में उसे माँ भी फालतू या अयोग्य नज़र आती है । लेकिन चीफ माँ के गुण से तृप्त होता है तब शामनाथ माँ की तारीफ करता है । ऐसे मौकापरस्तों एवं विरोधाभासों पर लेखक प्रकाश डालता है । "कहा नहीं, मगर देखती नहीं, कितना खुश गया है । कहता था, जब तेरी माँ फुलकारनी बनाना शुरू करेंगी, तो मैं देखने आऊँगा कि कैसे बनाती हैं ।"[1] "जख्म" में भी "चीफ की दावत" के समान परम्परा विरोधियों पर व्यंग्य है । इसलिए बूढा कहता है कि "यही ठीक है ना' उसने मुस्कुराकर कहा - शायद तुम ठीक कहते हो, बूढों को ज़िन्दगी से किनारा कर लेना चाहिए । बेहतर है, ये अन्धकार में डूब जायें ! जन्म लेते ही मर जायें ! फिर धीरे से बोला - मैं तो दो - तीन बरस में जाऊँगा । पर तुम' . . . ' तुम्हारा क्या होगा' "[2] "इमला" में अध्यापक की आदर्शहीनता की खिल्ली उडाता है तो "शिष्टाचार" में मालिक की संवेदनहीनता एवं अमानवीयता पर नौकर का शिष्टाचार दिखाकर चुप करा देता है ।

धार्मिक व सांप्रदायिक क्षेत्र में विरोधाभासों की कमी नहीं है । धर्म की, लोग अपनी आवश्यकताओं के अनुसार, व्याख्या करने लगे । भीष्मजी को धर्म एवं धार्मिक पाखण्डता को निकटता से देखने समझने का अवसर मिला है । एक सनातनी माँ और आर्यसमाजी पिता के पुत्र होने के कारण धार्मिक बुराइयाँ और अन्तर्विरोधों की सही जानकारी उन्हें मिली है । "समाधी भाई रामसिंह", "एष धर्म : सनातनः", "कांटे की चुभन", "भगोडा" जैसी कहानियाँ धर्म एवं भगवान के नाम पर चलती छद्म वृत्तियों पर प्रश्न-चिह्न लगाती हैं । भाई रामसिंह अपने को संत बनाने की कोशिश करता है । एक दिन वह अपने को वैरागी कहकर सुबह चार बजे अपनी स्वर्ग-यात्रा की प्रतीक्षा करते हैं । समय निकल जाने पर लोग उसे गालियाँ देते हैं और अन्त में मार देते हैं । "हाँ उसकी देह कीचड और मिट्टी और खून से लथपथ हो गयी थी और

---

1. पहला पाठ - पृ: 18 - भीष्म साहनी ।
2. पटरियाँ - पृ: 84 - वही ।

उसके इर्द - गिर्द जूतों और पत्थरों का ढेर लग गया था ।"[1] इतना होने पर लोगों का मन बदलने लगा और जिन्होंने उनकी हत्या की है उन्होंने नगर के एक दर्शनीय स्थान पर एक समाधि बनाकर उसकी पूजा करना शुरू किया । महन्त रामदास सनातन धर्म केलिए अपने मन्दिर एवं गाँव छोड देता है क्योंकि मन्दिर में चमारों का स्पर्श हुआ था । उससे उसे वहाँ बू फैला हुआ लगता है । लेकिन अन्त में वह भीख माँगकर ब्राह्मणों के बीच पहूँचता है और वहाँ से भगा जाने पर चमारों का सहारा स्वीकार करता है । "काँटे की चुभन" में सनातन धर्म एवं अवसरवादिता है तो "भगोडा" में शान्ति की खोज करनेवाला एक कायर है । कायर को कभी भी शान्ति नहीं मिलेगी यह भूलकर वह भटकता है और अन्त में साधारण जीवन की ओर लौट आता है । मनुष्य का शान्तिगृह अपना परिवार है ही ।

भारत अपनी संस्कृति एवं दर्शन केलिए ख्याति प्राप्त देश है । भारतीय संस्कृति में नारी पूजनीय है, नारी सम्मान उसकी विशेषताओं में एक है । वही भारत में आज नारी खडी बनकर गली-गली घूमती है और अपने जीवन बिताने केलिए सुरक्षा, सम्मान इत्यादि को हवा में उडा देती है । आज उनके बीच की स्पर्धा बढ रही है और यह हमारे देश की संस्कृति की, निम्न से निम्नतर होने की सूचना देती है । इस क्षेत्र में दलालें, दादा मियाँ, ग्राहक एवं मनोरंजन करनेवाले भी हैं, अतः उलझन भी है । "इस सारी बेपर्दगी और झुंझलाहट के बावजूद उनकी आँखें संभावित ग्राहकों को खोजती रही, कोई नज़र आता तो झट से चेहरे पर मुस्कान ओढ लेती, लुभावने इशारे लगती, उनके चेहरे से लगता जैसे ग्राहकों से भी कहीं अधिक ये वासना में अधीर हुई जा रही है । ग्राहक उपेक्षा में आगे बढ जाता तो इनके चेहरे पर से मुखौटा उतर जाता, चेहरे पर वितृष्णा, थकान, उभर जाती, आँखों की चमक बुझ जाती, होंठ सिकुड जाते और रंडी मुँह में से पान की पाक थूँक देती ।"[2] नारी की इस स्थिति को दिखाकर कहानीकार हमारी संस्कृति पर डींग मारनेवालों के मुँह बन्द करते हैं । "पोखर" में रेलवे की एक

---

1. पहला पाठ - पृ: 66 - भीष्म साहनी ।
2. पटरियाँ - पृ: 101 - वही ।

डिब्बे के माध्यम से भारत की दुःस्थिति एवं "संस्कृति प्रेमियों की ईमानदारी पर भी प्रश्न चिह्न लगाकर उसके सही दोषी को पकडते हैं । भारत की जनता की स्थिति पर व्यंग्य किया गया है - "लगता है इनसान का शरीर रेल के डिब्बों को ध्यान में रखकर ही बनाया गया है । सीधा लेटने के बजाय पहलू के बल लेट जाओ, टाँग-पर-टाँग चढा लो, तो एक-एक बर्थ पर दो-दो आदमी सो सकते हैं । सो ही नहीं सकते, सोये-सोये उज्ज्वल भविष्य के सपने भी देख सकते हैं । भगवान ने पहले ही समझ लिया होगा कि आदमी जहाँ भी होगा दूसरे के बर्थ पर घुसकर अपनेलिए ज़रूर जगह बनाएगा ।"[1] "अतीत के स्वर" एक इतिहासवेत्ता के माध्यम से स्वार्थ एवं महत्वाकांक्षा के कारण अपने दायित्व एवं इतिहासबोध भूल जानेवालों पर व्यंग्य है । कहानी में एक गाँव के बह जाने की सूचना मिलने पर गाँववासियों को चेतावनी दिए बिना अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध करता है, साथ ही वहाँ के एक पुराने मन्दिर के चित्र भी खींच लेता है । उसे मात्र इसकी चिन्ता है कि "जब ये चित्र छपेंगे तो उनके साथ यह विवरण भी छपेगा कि जिस दिन मन्दिर काल विगलित हुआ, उसी दिन मन्दिर के सहस्रवर्षीय जीवन के अन्तिम दिन, अमुक अनुसंधानक ने ये चित्र उतारे थे । क्या मालूम इस चित्रमाला को मेरे ही नाम से पुकारे जाने लगे ।"[2] "भाग्यरेखा" तीन उँगलो खोए गए हाथ की भाग्यरेखा खोजनेवाले ज्योतिषी की खिल्ली उडाती है तो "अशान्त रूहें" में समय के अनुसार अपने को बदल न पानेवाले एक दयानतदार पर व्यंग्य है । वह अपनी बेचैनी को छिपाने केलिए दूसरों पर उसका आरोपण करता है ।

"लेनिन का साथी" में एक पैंसठ वर्ष का बूढा अपने को लेनिन का साथी कहकर ऐंठता है । आजकल लोग समाज के आगे अपने को महान या बडा दिखाने केलिए बडों के साथ संबन्ध रखना चाहते हैं । बडों के बारे में बढा-चढाकर कहकर उसके साथ अपने संबन्धों पर अधिक ज़ोर देते हैं । कहानी में इस प्रवृत्ति को दिखाने केलिए लेखक ने व्यंग्य पात्र को चुना है, जो अपने को ऐतिहासिक व्यक्ति लेनिन का साथी मानता है ।

---

1. निशाचर - पृः 150 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृः 182.

"नया मकान" और "गलमुच्छे" छद्म क्रांतिकारिता पर व्यंग्य है । "नया मकान" का क्रान्तिकारी गिरिजा समाज सुधार करके अपने को तथा परिवार को सुधारता है । वह नया मकान बनवाकर उसमें एक "इन्क्लाबी कमरा" और उसमें किताबें, शराब की बोतलें रखकर घर में ही क्रांति का भाषण देता है । वह शराबी कमरे में बैठकर बकने लगा कि "मैं राजनीति केलिए बना था . . . मैं क्रांति केलिए बना था . . . उसने कहा । और फिर अपना वाक्य अंग्रेज़ी में दोहराने लगा - आइ वाज़ मींट फॉर दारिवल्यूशन ।"[1] "नया मकान" का गिरिजा क्रान्ति के नाम पर अमीर बना है तो "गलमुच्छे" का नायक मित्र यूनियन में काम करके एक इन्स्टीट्यूट का डायरक्टर बन जाता है । यूनियन और पार्टी के कार्यकर्त्ता ही आजकल विभिन्न संस्थाओं का अध्यक्ष बन बैठते हैं, उसे देखकर ऐसा लगता है कि अपने पार्टी व यूनियन की सेवा करने का मुआवजा हैं ये पद । यहाँ बैठकर लोग बहुत कुछ कमाते हैं । ऐसे वक्त वे अपने को विद्वान एवं दार्शनिक तक मानते हैं । "मैं ने एक लेख भी इस मजमून को लेकर लिखा है - "इण्डियन पालिटिक्स : एक ऐस्ससमेन्ट" । मैं तुम्हें पढने केलिए दूँगा । मैं ने उसमें भी यही बात उठायी है कि अगर हमारे राष्ट्रीय नेता कार्यकर्ताओं की ओर अधिक ध्यान देते तो कांग्रेस को सच्चे माने में एक प्रभावशाली जमात् बना देते ।"[2] "शोभायात्रा" में अत्याचारी शासक की कथनी और करनी के वैपरीत्य को दिखाने का प्रयास है । उसके धार्मिक एवं राजनीतिक ढोंग का पर्दाफाश हुआ है । पराक्रमी राजा उदयगिरी की "आस्था विजय अभियानों से हटकर धर्मसेवा और जनसेवा की ओर उन्मुख होने लगी ।"[3] धर्मसेवा एवं जनसेवा में मग्न राजा एक बकरी की हत्या के रोकने के अनेकों आदमी की हत्या करता है । वह उसकेलिए कारण भी ढूँढ लेता है "यह अधिष्ठाता की अवहेलना नहीं, मेरी अवहेलना है । यह विधर्मियों की अज्ञता नहीं, उनकी उद्दण्डता और अहंमन्यता है ।"[4] आधुनिक राजनीतिज्ञ भी अपनी गलतियों को छिपाने के लिए और कभी अपनी सत्ता को कायम करने केलिए भी इसप्रकार के कार्य करते हैं ।

---

1. पटरियाँ - पृ: 51 - भीष्म साहनी ।
2. वाङ्चू - पृ: 76 - वही
3. शोभायात्रा - पृ: 83 - वही ।
4. वही - पृ: 89.

सामाजिक अन्तर्विरोधों एवं विसंगतियों को खोलकर उसकी विकृतियों एवं विद्रूपताओं को दिखाने में भीष्मजी सफल हुए हैं। उनका व्यंग्य हास्य कोटि का या सतही नहीं वह गहरा एवं अर्थपूर्ण है।

विभाजन की कारुणिकता

सन् 1947 का भारत विभाजन एक अनहोनी घटना थी। इसके पीछे मुख्यत: धार्मिक एवं राजनीतिक शक्तियों के साथ विदेशी हाथ भी कार्यरत था। विभाजन भारतीय जनता को भौगोलिक एवं राजनीतिक स्तर पर ही नहीं विभक्त किया था, बल्कि समूचे मानवीय संबन्धों को टुकरा दिया, मनुष्य को मानसिक एवं आत्मिक, भौतिक एवं आन्तरिक स्तर पर धक्का पहूँचाया था। इससे जनता को अपने सगे-संबन्धी, निजी संस्कृति एवं परिवेश, धरती एवं ज़मीन-जायदाद सबको छोडने केलिए बाध्य किया और अब भी भारतीय समाज विभाजन एवं सांप्रदायिकता के शिकंजे पर पिस रहा है।

"व्यक्ति को, सन्मार्ग के प्रति अतीव आग्रह और पूर्णता को प्राप्त करने की इच्छा, धार्मिक बना देते हैं। सतही व्यक्ति अपने धर्म को सबसे श्रेष्ठ दिखाना चाहता है।"[1] इस सतहीपन एक ओर से धार्मिक वैमनस्य का हेतु बन जाता है। हमारा इतिहास इस सतहीपन और स्वार्थता का प्रमाण देता है। इतिहास में दोनों के मिले-जुले जीवन का प्रमाण तो मिलता है मगर विघटन और वैमनस्य ही अधिक उभरा हुआ दिखाई पडता है। अधिकांश मुसलमान शासक हिन्दुओं के प्रति अच्छा व्यवहार नहीं बरते थे। "इससे हिन्दू मानस में मुसलमानों का सामाजिक अपवर्जन या बहिष्कार करने की मनोवृत्ति बद्धमूल होती गयी और मुसलमानों में धार्मिक आक्रामकता और अक्खडपन बढता गया। हिन्दुओं - मुसलमानों के दिलों में दुबका हुआ यह संस्कार, नयी परिस्थितियों में जागृत और उत्तेजित होकर देश के बंटवारे का कारण बना।"[2] साथ ही स्वार्थी धार्मिक

---

1. India Today (Mal) - p.64 - Editor. Arun Puri.

2. सिक्का बदल गया - पृ: 14 - नरेन्द्र मोहन।

नेतावर्ग एवं पुरोहितवर्ग अपनी स्वार्थपूर्ति-हेतु धार्मिक उथल-पुथल का कारण बन जाते हैं। मन्दिरों और मस्जिदों में धार्मिक नेता जनता को धार्मिक अनुशासन में खडे करने केलिए एक दूसरे पर दोषारोपण करते हैं। इसके परिणाम स्वरूप जनता में, चाहे हिन्दू हो या मुसलमान धार्मिक अन्धता दृढ हो जाती है। स्वाधीनता के बाद भी जनता पूर्णतया धार्मिक नेताओं के पंजों से मुक्त नहीं हुई। इसलिए डा. नरेन्द्र मोहन मंटो के शब्दों को अपनाकर कहते हैं कि "हिन्दुस्तान आज़ाद हो गया था। पाकिस्तान अस्तित्व में आते ही आज़ाद हो गया। लेकिन इन्सान दोनों देशों में गुलाम था - सांप्रदायिकता का गुलाम, धार्मिक पागलपन और जनून का गुलाम। पशुता और अत्याचार का गुलाम।

संप्रदायिकता को विभाजन तक खींच लाने और आगे भी उसे जीवित रखने में राजनीतिक स्वार्थ ही मुख्य है। ब्रिटिश सरकार की भेद-नीति ने इसमें सफलता प्राप्त की थी। हिन्दू-मुसलमानों में दरार डालकर दुर्बल को सहारा देकर उन्होंने अपनी "भेद-नीति" का रास्ता निष्कंटक बना दिया। इसकेलिए अंग्रेज़ी अफ्सर, प्रोफसर, वायसराय एवं व्यापारी भी इकट्ठे हुए थे। इसके अलावा भारतीय राजनीति और यहाँ की धार्मिक राजनीति ने भी इसमें अपना-अपना हिस्सा बाँट लिया था। हिन्दु महासभा हिन्दु धर्म की रक्षा केलिए राजनीतिक पोशाक पहनती थी और मुसलमान के विरुद्ध हिन्दु सांप्रदायिकता को बरकरार करती थी। दूसरी ओर मुसलमानों का लकीर का फकीर बन बैठना धार्मिक अन्धता को बढावा देना था। मुस्लिम समाज पूर्णतया मजहबी है। वह आज भी उससे मुक्त होना नहीं चाहता है, ऐसा लगता है। यदुनाथ यत्ते के अनुसार "अभी भी मुस्लिम समाज मज़हब परस्तों के चंगुल में फंसा है और थोक वोट पाने के मोह से एक भी राजनैतिक दल संविधान में निर्देशित रास्ता पकडने को तैयार नहीं है।"[2] "मुसलमानों को वास्तविकता का थान कराने की कोशिश पर्याप्त मात्रा में नहीं की जाती और इसीलिए वे लकीर के फकीर बन बैठे हैं। न उनके नेता यह होने देते हैं, न अन्य राजनैतिक दल के नेता इसकेलिए कभी किसी तरह की कोशिश करते हैं।"[3]

---

1. गगनांचल - पृ: 122 - नरेन्द्रमोहन का लेख।
2. गेवाह - जनवरी-सितम्बर, 1988 - सं. भगवानदास वर्मा।
3. वही - पृ: 12.

यह सही है कि विभाजन के प्रत्यक्ष नारे लगाने में मुस्लिमलीग ही आगे थे। पहले लीग केलिए बहुमत प्राप्त नहीं था और अधिकांश मुसलमान कांग्रेस में काम करते थे। लेकिन बाद में लीग ने सांप्रदायिक राजनीति की आड में शक्ति संपन्न की तथा निरीह मुस्लिम जनता में सांप्रदायिक अन्धता का विष फैला दिया और चुनाव लडने लगा। "जो मुस्लिम लीग सन् 1937 के आमचुनाव में बुरी तरह मात खा गई थी, उसे सन् 1945 के चुनाव में शानदार सफलता प्राप्त हुई। 10 वर्ष के छोटे से वक्त में {सन् 1937-47} मुस्लिमलीग, सांप्रदायिकता की राजनीति पर चलकर घृणा और शत्रुता की ऐतिहासिक वृत्तियों को भडकाकर भारतीय राजनीति में एक शक्ति के रूप में उभर आयी थी।"[1] यही शक्ति विभाजन के पहले विभाजन के दिनों में और बाद में हुए दंगों में भी प्रकट किया था। आजकल वे अल्पसंख्यक के नाम पर भी सांप्रदायिक कौम एकत्रित करने में कर्मरत हैं। जिन्ना का हठ, अंग्रेज़ी शासन और कांग्रेस का नासमझीपन भी विभाजन के कारणों में मुख्य हैं।

हिन्दु-मुस्लिम वैमनस्य के भीतर भी अपनी एक मिली-जुली संस्कृति एवं मित्रता थी, जो सहजीवन, परिवेश, भाषा, जीवन-रीति इत्यादि के फलस्वरूप मौजूद था। उसे तोडने में दंगे सफल हुए। "पाकिस्तान के निर्माण के पक्षधर यह भली-भांति जानते थे कि पाकिस्तान बनने के रास्ते में सबसे बडी बाधा हिन्दुओं-मुसलमानों का सांझा जातीय सांस्कृतिक संस्कार है। वे इस संस्कार को कमज़ोर और नष्ट कर देना चाहते थे। इन्हीं संस्कारों को तोडने और मिटाने केलिए सांप्रदायिक तनाव और दंगे पैदा किए गए।"[2] विभाजन का परिणाम वहाँ भी समाप्त नहीं होनेवाला था। इससे दोनों देशों की आर्थिक एवं सामाजिक जीवन तो बिगड गए साथ ही शान्ति एवं समाधान भी। पंजाब तथा काश्मीर और भारत के उत्तर-पूर्वी भागों दंगे एवं विघटन की प्रक्रिया से धूमिल हो रही है। डा. रामविलास शर्मा के अनुसार विभाजन से "काश्मीरी जनता की आन्तरिक एकता को धक्का लगा है, पंजाब और बंगाल का सांस्कृतिक विकास कमज़ोर हुआ है।"[3]

----

1. दृश्यांतर - पृ: 194 - नरेन्द्र मोहन।
2. सिक्का बदल गया - पृ: 14 - वही।
3. सारिका - पृ: 14 - नवंबर, 1969.

विभाजन की त्रासदी आम आदमी की कारुणिक कथा है । उसमें साधारण जनता ने ही सबसे अधिक कठिनाइयाँ महसूस की है । आम लोग ही आततताइयों के अत्याचारों के शिकार हुए, वे ही शरणार्थी बनकर खानाबदोश आदमी बन गए और उन्होंने ही सांप्रदायिक राजनीति से प्रभावित अपने भाई-बहनों को कत्ल करने को तुला है । इन अभियानों में गुजरने के कारण कथाकारों का अनुभव भी यथार्थपरक है । अपने अनुभवों के बल पर उन्होंने कहीं उस आतंकित, संत्रस्त मानव को पेश किया, कहीं खानबदोशों की भाँति भटके मानव को, कहीं अनाथ-अपाहिज व लुटेरों से पीडित आदमी को, कहीं टूटे हुए सामाजिक - सांस्कृतिक जीवन के सांस को तथा कहीं विभिन्न धर्मावलंबियों का परस्पर विश्वास और मजबूरी में आकर उसका उल्लंघन और कहीं धरती से मनुष्य के संबन्ध को दिखाया है । इन लेखकों में यशपाल, अज्ञेय, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, विष्णु प्रभाकर, मोहन राकेश, भीष्म साहनी कमलेश्वर, कृष्णा सोबती, महीप सिंह, नरेश, सुदीप, श्रवणकुमार, विजय चौहान आदि मुख्य हैं ।

"अमृतसर आ गया है" नामक कहानी विभाजन के दिनों पाकिस्तान से भारत की ओर आनेवाली एक गाडी के डिब्बे में घटित होती है । इस समय पाकिस्तान के बनाए जाने का ऐलान किया गया था तथा उत्तर-पश्चिमी भारत में जगह-जगह दंगे हो रहे थे और लोग भाग रहे थे । इस समय एक ओर नए राष्ट्र का उत्साह है और दूसरी ओर स्वतंत्रता की तैयारी भी है । गाडी की गति के अनुसार डिब्बे एवं रास्ते में दंगे बल पकडतर है । मुसलमान इलाके में पठान डिब्बे के दुबले हिन्दु बाबु की हँसी-मज़ाक करते हैं और उसके धर्म एवं पौरुष को चुनौती भी देते हैं । निरामिष बाबू से गोश्त खाने और जनाना डिब्बे जाने को कहते हैं । "माँस नई खाता ए, बाबू तो आओ जनाना डब्बे में बैठो, इधर क्या करता ए' फिर कहकहा उठा ।"[1] गाडी बजीराबाद पहूँचते ही बाहर आग दिखाई पडती हैं, लोग भाग रहे हैं और उनमें से अनेक गाडी में चढते भी हैं । डिब्बे में चढते एक हिन्दू परिवार को पठान चढने नहीं देता और वह जगह नहीं कहकर भगाना भी चाहता है । "और पठान ने आव देखा न ताव, आगे बढकर ऊपर से ही उस मुसाफिर के लात जमा दी, पर लात उस आदमी को लगने के बजाय उसकी पत्नी के

---

1. "पटरियाँ" - पृ: 22 - भीष्म साहनी ।

कलेजे में लगी और वह वहीं हाय-हाय करती बैठ गयी ।"[1] गाडी बजीराबाद से छूटते ही डिब्बे में तनाव बढ गया । "मुझे लगा, जैसे अपनी-अपनी जगह बैठे सभी मुसाफिरों ने अपने आसपास बैठे लोगों का जायजा ले लिया है । सरदारजी उठकर मेरी सीट पर आ बैठे । नीचेवाली सीट पर बैठा पठान उठा और अपने दो साथी पठानों के साथ ऊपरवाली बर्थ पर चढ गया ।"[2] स्टेशन बजीराबाद पहुँचते ही "पठानों का मन का तनाव फौरन ढीला पड गया, जबकि हिन्दू-सिख मुसाफिरों की चुप्पी और ज्यादा गहरी हो गई, . . . ।"[3] इतने समय तक अपने में सिमटा दुबला बाबू, हरबंशपुरा पहुँचते ही, उत्तेजित होता है । वहाँ से अमृतसर पहूँचते ही उसका शरीर उत्तेजना से कांपने लगे और पठानों को गालियाँ देकर प्लाटफार्म में उतरकर कहीं से डंडा लेकर आता है । तब तक तीनों पठान अपने सामान लेकर भाग चुके हैं । वहाँ से भी गाडी चलने लगी और बीच में एक आदमी डिब्बे में चढ रहा था और उसकी बीवी गाडी के साथ भाग रही थी । इस बीच उसके मुँह से "या अल्लाह" सुनाई पडा "और उसी वक्त मैं ने बाबू के हाथ में छड को चमकते देखा । एक ही भरपूर वार बाबू ने उस मुसाफिर के सिर पर किया था । मैं देखते ही डर गया और मेरी टाँगे लरज गई ।"[4] डंडे छोडकर बाबू सीट पर बैठ गया । इस यात्रा की दहशत और दुश्मनों के बीच में भी भीष्मजी अपनी मानवीयता को छोडने केलिए तैयार नहीं थे । डिब्बे में बैठी बूढी औरत मानवीयता का प्रतीक बनकर आयी है । वह पहले पठानों की वृत्ति की और बाद में दुबले बाबू की वृत्ति की भर्त्सना करती है और दलितों की सहायता केलिए उद्यत होती है ।

प्रस्तुत कहानी में स्थिति सापेक्ष क्रूर मानसिकता को "क्लोस-अप" में दिखाकर लेखक ने उसकी भयावहता एवं स्प-भाव को सूक्ष्म ढंग से प्रस्तुत किया है । भौगोलिक बदलाव के अनुसार दंगे एवं तनाव की वृद्धि होना और ढीला पडना बडी सहज

---

1. "पटरियाँ - पृ: 24 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 25.
3. वही ।
4. वही - पृ: 31.

ढंग से अंकित किया है । डा. नरेन्द्रमोहन के शब्दों में "भीष्म साहनी ने अपनी कहानी "अमृतसर आ गया है" में विभाजन के समय के खूनी माहौल का, बदलते हुए भूगोल के समानान्तर हिन्दुओं, सिखों और पठानों की दहशत और दुश्मनी की हत्यारी मनोवृत्तियों का बडा मार्मिक और सटीक चित्रण किया है ।"[1]

"जहूर बख्श" विभाजनपूर्व के सांप्रदायिक दंगे से पीडित परिवार की कथा है । यह कहानी वास्तविक घटना पर आधारित है ।[2] सांप्रदायिक दंगे का असर एवं उसका परिणाम एक परिवार को कैसे तोडता है यही "जहूर बख्श" है । जहूर बख्श एक जाने-माने हिन्दी लेखकथे । हिन्दू आतंकवादी उनपर एवं उनके परिवार पर हमला करता है और आग लगा देता है । दंगे और आगजनी से त्रस्त एवं आतंकित जहूर बख्श अन्त में पागल हो जाते हैं । "तब वह सैकडों-हज़ारों जैसा ही एक लगा था । न सुन रहा था न बोल रहा था । बस, केवल खडा था, जैसे दीवार के साथ खडे-खडे जड हो गया हो ।"[3] एक ओर उनके रचनाकार व्यक्तित्व को और दूसरी ओर उनके परिवार को आग लगा देता है । बेटी आतंकित होकर जड हो जाती है । समान लूटा जाता है । और उनके सम्मुख "पाण्डुलिपियाँ पन्ना-पन्ना हो गयी, रेजा-रेजा और जहूर बख्श दीवार के साथ लगा रुँधे गले से, फटी-फटी आँखों से देखता रहा, मानो अपनी मौत स्वयं देख रहा हो ।"[4] अपने परिचत चेहरों के आगे बडे विश्वास के साथ वे निकलनेवाले थे और आतंकवादियों से कहते हैं कि "इस शहर में कौन है, जो मुझे नहीं जानता' और जहूर बख्श बडे इत्मीनान से दरवाजा खोलने केलिए आगे बढा था ।"[5] जहूर बख्श धर्म निरपेक्ष एवं भारतीय संस्कृति के विश्वासी लेखक थे । लेकिन "म्लेच्छ हिन्दी में लिखता है यही वाक्य जहूरबख्श के कानों में पडा और उसकी चेतना जड हो गयी ।"[6] सांप्रदायिक अन्धे को संप्रदाय के अलावा कुछ भी नज़र नहीं आता । उसके आगे कृति या कृतिकार, संस्कृति या सभ्यता, मानवता या ममता कुछ भी नहीं है ।

---

1. सिक्का बदल गया - [भूमिका] - पृ:25 - सं. नरेन्द्र मोहन ।
2. "यह कहानी सच्ची है । मैं ने श्रीमती सुभद्रा जोशी के मुँह से सुनी है - भीष्म सा
3. निशाचर - पृ: 120 - भीष्म साहनी ।
4. वही - पृ: 121.
5. वही - पृ: 123.
6. वही - पृ: 125.

"सरदारनी" एक सिख सहधर्मिणी की धर्म की वास्तविक कहानी है । यह भी यथार्थ घटना पर आधारित है ।[1] दंगे की वजह जन-जीवन तितर-बितर हो गया है । सब दहशत और प्रतिशोध को मन में रखकर कान लगाकर बैठते हैं । "यह ऐसा वक्त था कि अगर किसी घर के चूल्हे से चिंगारी भी उडती तो सारा शहर आग की लपेट में आ सकता था । ऐसा माहौल बन गया था जब आदमी न तो घर पर बैठ सकता था न बाहर-खुले-बन्दों घूम सकता था ।"[2] दंगे-फिसाद शुरू हो रहा था । सरदारनी ने अपने पडोसी मास्टर करमदीन को सुरक्षा का वादा दिया था । वह गुरु गोविन्द सिंह का कटार लेकर मास्टर को मुस्लिम इलाके तक पहूँचाती है। लेकिन उसे रास्ते में बहिनों, माताओं से लौटने का उपदेश और आततायियों से गालियाँ एवं धमकियाँ भी सुननी पडीं । शंकालु मास्टर उसके पीछे हाथ बाँधकर पीछा करता था । गली में आततायियों द्वारा घेरा गया, तब मास्टर एकदम जड हो गया । "मास्टर के जहन में ये शब्द बार-बार कौंध रहे थे, और उसके शरीर में बहता खून पानी में बदल रहा था । पाँव बार-बार लरज जाते थे ।"[3] दंगे-फिसाद के समाप्त होने के बाद सराहना करने आए मास्टर एवं उसके झुंड से वह बातें भी नहीं करती है ।

सम्पूर्ण देश सांप्रदायिकता के दलदल में रहते वक्त भी वैयक्तिक धरातल पर कहीं-कहीं मानवीयता का अंश टिमटिमाता रहता है । इसका एक उदाहरण है "सरदारनी" । अपनी जान को खतरे में डालकर वह अन्य धर्मावलम्बी मास्टर की रक्षा करती है, मानवीयता के वास्ते, न कि पागलपन, मान-सम्मान के आग्रह से ।

"पहला पाठ", "एष धर्म सनातन" और "काँटे की चुभन" जैसी कहानियाँ विभाजन एवं सांप्रदायिक दंगे से सीधा साक्षात्कार नहीं करती हैं । परन्तु इनमें धार्मिक अन्धता, धर्म के अन्दर संप्रदायों का पारस्परिक द्वेष, उसका विकास एवं वृद्धि की ओर इंगित है । "पहला पाठ" का विकसित व संवर्द्धित रूप हमें "तमस" उपन्यास के

---

1. निशाचर - पृ: 165 (यह घटना सच्ची है, श्रीमती सुभद्रा जोशी के मुँह से सुनी है । - भीष्म साहनी)
2. वही - पृ: 157.
3. वही - पृ: 162.

हिन्दु-महासभा के माध्यम से मिलता है । हिन्दु नेता वानप्रस्थिजी अछूतोद्धार के बारे में एक हिन्दु सभा में भाषण दे रहा था । सभा में बालक देवव्रत मंत्रमुग्ध-सा बैठा भाषण सुन रहा था । सभा में मैजिक लैन्टर्न के चित्र दिखाकर वानप्रस्थिजी भावुक कंठ से अछूतों की दर्दनाक स्थिति एवं उसके उद्धार करने की बात पर ज़ोर देता है । कुए से ब्राह्मण और उच्च धर्मावलम्बी पानी पी सकते हैं, कुत्ते, पशु इत्यादि को भी वहाँ से पानी मिलता है मगर डोम को नहीं मिलता । गरमी के दिनों डोम वहाँ आकर चक्कर काट रहा है । उसका भाषण गरीबी के कारण बचपन में ही बूढे होनेवाले युवकों पर चलता रहा । "गरमी के मौसम में जब ये जलाशय सूख जाते हैं तो यह अभागे इन कुएं के पास चक्कर काटते रहते हैं , इस कुएँ पर कुत्ते पानी पी सकते हैं, पशुओं को पानी मिल जाता है, पर मनुष्य को नहीं ।"[1] भाषण के समाप्त होने के बाद देवव्रत रास्ते में एक गरीब मुसलमान बाल्क को देखकर उसकी सहायता करना चाहता है । "फिर सहसा देवव्रत ने दोनों बाँहें फैलाकर उसे अपने आलिंगन में ले लिया और बडे स्नेह से कहने लगा - तू मेरा भाई है, तू अछूत है न, तू मेरा भाई है ।"[2] लेकिन फौरन दो तमाचा उसके सिर पर पडा - "और यह अछूत है' . . . ये तो मुसलमान है" - शब्द भी सुनाई पडा । इसप्रकार बालक देवव्रत को बचपन में ही अछूतों में भी विभागीयता की शिक्षा मिलता है । "सबसे पहली शिक्षा उसे हिन्दुत्वप्रेम की मिली, उस समय वह केवल आठ-नौ वर्ष का तरुण बालक था और अपने शहर के पास एक गुरुकुल का विद्यार्थी था ।"[3] यहाँ मनुष्य मनुष्य को इन्सान के नाते नहीं हिन्दू, मुसलमान की दृष्टि से देखता है और उसे परम्परागत रूप में सुरक्षित रखना चाहता है । इसी विचार या अवबोध को स्वार्थी राजनीति एवं धार्मिक नेता अपने आलू सीधा करने का उपकरण बनाते हैं ।

---

1. पहला पाठ - पृ: 34 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 37.
3. वही - पृ: 33.

"एष धर्मः सनातनः" एक पूजारी की कथा है जो निम्नजात को विकृत एवं बदरंग और बदबूदार समझता है । चमारों के आने के कारण मन्दिर धोनेवाले महन्त रामदास अन्त में रूष्ट होकर मन्दिर एवं गाँव छोड देता है । रामदास धो-धोकर मन्दिर को साफ करता है मगर बू नहीं हटजाती है । इष्टदेव को भोग लगाते तो उसे लगता है कि वह चमारों की जूठन का भोग लगाते हो । गाँव से बढकर उन्हें अपना धर्म और अगला जन्म प्यारा है इसलिए वह उसे दूषित नहीं करना चाहता है । रामदास लूटा जाता है और सहारा केलिए कई दरवाज़ा खटखटाकर निराश हो जाता है । अन्त में अहित होकर भी भिखमंगों के बीच में जा बैठता है तब एक बूढे कोढ़ी ने कहा "हटो यहाँ से, सिर फोड दूँगा, साला चमार कहीं का । जानता नहीं इधर ब्राह्मण बैठता है ।' फिर कमण्डलु विहीन ब्राह्मण रामदास चमारों के आगे हाथ पसारता है । "मैं भी ब्राह्मण हूँ बाबा, बहुत भूख हूँ . . . कुछ दया करो ।"[2] चमारों के पांथ में जगह मिलता है और उनसे भोजन भी खाता है फिर भी उसे नींद में गत-घटनायें सताने लगीं । यहाँ धार्मिक अन्तर्विरोधों, रूढियों, अन्धविश्वासों का पोला उखाडता है । इसी तरह "काँटे की चुभन" में आर्यसमाजी और सनातन धर्मावलम्बी की पारस्परिक होड है । अनन्तराम और गिरधर अपने अपने संप्रदाय को श्रेष्ठ मानना चाहते हैं ।

इसप्रकार इन कहानियों द्वारा भीष्मजी मानव समुदाय पर पडे विभाजन और उसको बढावा देकर कैसे देश का विभाजन भी संभव है, उसकी ओर संकेत करते हैं । उन्होंने अपनी सहानुभूति परस्पर लडते धर्मावलम्बियों पर नहीं प्रकट करते बल्कि उनकी ममता उसके बीच में बलि होनेवाले निरीह मानवों पर है ।

---

1. पहला पाठ - पृः 86 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृः 87.

भीष्म साहनी की कहानियों की दिशा और दृष्टि

असंतुलित समाज में प्रगतिशील चेतना का पनपना स्वाभाविक है। भारत जैसे देश में उसकी अनिवार्यता भी है। प्रजातंत्र के नाम पर यहाँ पूँजीवादी संस्कार पल रहा हैं जहाँ सामान्य जन पिसता जा रहा है। ऐसे देश में वर्ग-बोध की अनिवार्यता है। इसके दृष्टांत के रूप में आज का साहित्य सामाजिक चेतना के वाहक बन गया है। वह व्यक्ति एवं झूठी आधुनिकता के छद्म परिवेश को तोडकर आक्रमण एवं अनावरण करता है। स्वातंत्र्योत्तर साहित्य में क्रमशः सामाजिक यथार्थ पर ज़ोर बढने लगा और समय के अनुसार उसमें विद्रोही भावना बढती जा रही है। कविता एवं कथा में यह प्रकट है। ऐसे अवसर पर भीष्मजी की कहानियों की प्रासंगिकता बढती है।

स्वातंत्र्योत्तर काल में उन्होंने लेखन कार्य शुरू किया था और अब भी लिख रहे हैं। नई कहानी अपने प्रारंभिक दिनों में कुछ सामाजिक रचनायें प्रस्तुत करती थी, परन्तु धीरे-धीरे उसमें व्यक्ति एवं उसके जकडन में ज़ोर बढने लगा। उस समय भीष्मजी ने अपने को मुक्त करके रखा है। "नई कहानी के आन्दोलन के उत्तरार्ध में सबसे घातक प्रवृत्ति यह उभरी कि कथाकारों ने पाश्चात्य परिवेश को इतना अधिक चित्रित किया कि ऐसा लगा जैसे केवल पाश्चात्य दृष्टिकोण ही आधुनिकता का यथार्थ है। लेकिन धीरे-धीरे भीष्म साहनी और अमरकान्त ने अत्यंत सहजता से मध्यवर्गीय प्रगतिशील चेतना को उभारा जिससे एक नये सामाजिक दायित्व का आविर्भाव हुआ और एक कोरी अन्तर्वर्ती माँग को त्याग कर जीवन के विभिन्न सन्दर्भों को नई चेतना-जन्य अवस्थिति में संपृक्त किया गया।"[1] भीष्मजी अपने को आरंभ से अब तक सामाजिक चेतना से हटाया नहीं। इसीलिए उनकी कहानियाँ नई कहानी की सीमा पार करने में समर्थ निकलती हैं। इसप्रकार वे अपनी आगामी पीढी का मार्ग दर्शन ही नहीं करते थे।

---

1. समकालीन कहानी : समान्तर कहानी - पृः 10 - डा. विनय।

"अपने समय की विसंगतियों और सामाजिक राजनीतिक उत्पीडन के विरोध में जो बहुत से युवा कहानीकार आज बडे सार्थक ढंग से सक्रिय है उनकी पूरी की पूरी रचना पीढी पर उस प्रगतिशील कथा-परम्परा की छाप बहुत साफ है जिसकी महत्वपूर्ण कडियों के रूप में अमरकांत और भीष्म साहनी के नाम जुडे हैं।"[1] और उनके साथ मिलकर आगे भी बढ रहे हैं । उनकी सफलता के पीछे उनकी जीवन-दृष्टि, यथार्थबोध, विचारधारा एवं संयम हैं । वे कोई "वाद" या लीक में चलने की अपेक्षा भारतीय जनता के सुख-दुख में भाग लेने की कोशिश करते हैं । "उनकी कहानियों को पढने का आशय है अपनी जाति और देश की वास्तविक सुख पीडा में शामिल होना और अपनी क्षुद्रता-महानता से एक साथ साक्षात् करना जहाँ भाषा के स्तर पर निहायत सादगी मौजूद है - दरअसल हम एक बेहत्तर कहानी के संसार में इसके अलावा और क्या अपेक्षा करते हैं ।"[2]

नए कहानीकारों ने अपनी दृष्टि मध्यवर्ग के परिवार एवं व्यक्ति के टूटन, विघटन और यौन संबन्धों पर डाल रही थी । भीष्मजी उससे हटकर सम्पूर्ण समाज को, विशेषकर मध्यवर्ग के सम्पूर्ण जीवन को, आंकने का प्रयास करते रहे । उन्होंने उसे अपनी विचारधारा एवं संयमित दृष्टि से परखनें का प्रयास किया है । "साहनी की कथा में, मुख्य रूप से मध्यवर्ग की अभिव्यक्ति हुई है, जिसके जीवन में अन्तर्विरोधों का विषम जाल बुना हुआ है । सामन्तवादी, पुनरुत्थानवादी और पूँजीवादी आधुनिकताबोध की विसंगतिपूर्ण, अमानवीय परिस्थितियों से जड होते हुए मध्यवर्ग को नया जीवन कैसे दिया जाए' उसे युग और समाज की प्राथमिकताओं से कैसे संबद्ध किया जाए' नए जीवन की रचना में उसकी क्रियामान भूमिका को कैसे स्पष्ट किया जाए' एक प्रतिबद्ध लेखक की तरह साहनी ने समाज और इतिहास की अनिवार्यताओं को ध्यान में रखकर इस वर्ग के श्रम-संस्कार को जगाया है, इसतरह उसके आत्मपरायेपन को तोडा है और उसमें भविष्य के प्रति वास्तविक आशा पैदा की है ।"[3] इस प्रकार अपनी व्यंग्य रचनाओं द्वारा उन्होंने

---

1. सिलसिला - पृ: 32 - मधुरेश ।
2. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना - पृ: 111 - सं. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर ।
3. इतिहास विचारधारा और साहित्य - पृ: 67 - राजेश्वर सक्सेना ।

समाज के विभिन्न क्षेत्रों में सड़ी हुई विकृतियों को दिखाकर उससे मुक्त करने का आदर्श भी दिखाया है । अपनी व्यंग्य कहानियों में उनका लक्ष्य किसी की खिल्ली उड़ाना नहीं बल्कि समाज के अन्तर्विरोधी चरित्रों के जकड़न से व्यक्ति और समाज को मुक्त करना है । विभाजन संबन्धी कहानियों के माध्यम से वे आज की भारत-दुर्दशा को मिटाना चाहते हैं । कहीं दंगे का सही चित्रण करके और कहीं सांप्रदायिक सौहार्द का ज्वलंत प्रतीकों को प्रस्तुत करके उन्होंने यह कार्य किया है ।

समय की माँग के अनुसार लिखने की सिद्धि भीष्मजी की कथादृष्टि है । उनकी कहानियाँ सामाजिक कल्याण एवं प्रगति चाहती हैं । वे सन् पचास से अब भी यही कार्य करते रहते हैं । इसलिए उनके अपने समकालीन रचनाकारों की रचनाओं की तुलना में भीष्मजी की कहानियाँ अधिक प्रासंगिक लगती हैं । इसके पीछे उनकी कहानियों में निहित सामाजिक चेतना है ही ।

अध्याय - पाँच

भीष्म साहनी के कथा साहित्य में प्रगतिशील चेतना

भीष्म साहनी प्रगतिशील रचनाकार हैं। प्रगतिशील लेखक संघ तथा अन्य प्रगतिशील साहित्यिक संस्थाओं के साथ उनके संबन्धों के बारे में प्रथम अध्याय में विचार किया गया है। वे अपने को मार्क्सवाद से प्रभावित लेखक मानते हैं।[1] फिर भी उनकी रचनाओं में मार्क्सवाद[2] के प्रति अतिरिक्त लगाव नहीं है। "मार्क्सवाद को मानना एक बात है, मार्क्सवादी दृष्टि से कहानी लिखना बिलकुल दूसरी बात। मार्क्सवादी दृष्टि लेखक के संवेदन में खपकर, उसके संवेदन का अभिन्न अंग बनकर ही रचना में चरितार्थ हो पाती है।"[3] भीष्मजी की रचनायें चाहे उपन्यास या कहानी, दोनों इस बात का प्रमाण है। "उसमें तत्कालीन राजनीति और अर्थ व्यवस्था की भूमिका है। उन्होंने वर्गीय द्वन्द्वों को पकडा है तथा जनता के इतिहास की विकासमान गति के अनुरूप क्रान्तिकारी चेतना तक पहुँचाने का आधार बनाया है। जनता की आर्थिक लडाई के एक विकसित राजनीतिक समझ की ज़रूरत होती है तभी तात्कालिक मुद्दों और बुनियादी मुद्दों में भेद किया जा सकता है और तभी संघर्ष की सामूहिकता जोर पकडती है, नैतिक मनोबल आता है और तभी ऐतिहासिक अनिवार्यता के रूप में जनता का कर्म स्पष्ट हो जाता है।"[4] वे व्यक्ति को उसके गुण-दोषों के साथ याने

---

1. "मार्क्स ने हमें उन शक्तियों को देख पाने की नज़र दी है" - पृ: 105 - अपनी बात।
2. "मार्क्सवाद का संबन्ध सामाजिक व्यवस्था से हो सकता है, पर उसका चरम लक्ष्य व्यवस्था नहीं, उस व्यवस्था में रहनेवाला मनुष्य है।" - पृ: 160 - प्रगतिशील आलोचना - डा. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव।
3. अपनी बात - पृ: 78 - भीष्म साहनी।
4. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना - पृ: 89-90 - सं. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकूर।

एक मनुष्य के रूप में देखते हैं और साथ ही उसे सामाजिक परिप्रेक्ष्य में आंकने का प्रयास भी करते हैं । "मार्क्सवाद की यह बहुत बडी देन है कि हम व्यक्ति को समाज के परिप्रेक्ष्य में देखने लगे हैं । व्यक्ति अपने में एक जीता-जागता, अपने निजी गुण-दोषोंवाला इंसान तो है ही, अब वह मात्र एक व्यक्ति न रहकर, सामाजिक परिप्रेक्ष्य में एक वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में महत्व ग्रहण कर गया है ।"[1] इसप्रकार उनके पात्र व्यक्ति पात्र ही नहीं बल्कि वर्ग पात्र होते हैं और वे समाज के सभी कमियों एवं खामियों का परिचय कराने में समर्थ निकलते हैं ।

भारतीय समाज वर्गबद्ध है लेकिन उसका वर्गीकरण आसान कार्य नहीं है । ऐसे समाज में रचनाकार को समाज के हर कोने पर झाँकना पडता है । फलस्वरूप रचनाओं में विविधता दिखाई पडती है । ऐसी विविधताओं के बावजूद उसका आन्तरिक स्वर एक ही महसूस होता है, याने एक न्याय संगत, वर्गहीन समाज की स्थापना का संकल्प । भीष्मजी के कथा-साहित्य का आन्तरिक स्वर यही है । "साहनी की कथा-रचना के अन्तःकरण में व्याप्त है कन्फ्रन्टेशन - द्वन्द्वात्मक संघर्ष-जो संवेदना और संस्कार के टकरावों से चरित्र को बदलता, वस्तु को आगे बढाता तथा उद्देश्य को निर्धारित और निश्चित करता है ।"[2] भीष्मजी के कथा साहित्य में प्रगतिशील चेतना के विशुद्ध अध्ययन के पहले प्रगतिशील चेतना का स्वरूप एवं कथा साहित्य पर उसके प्रभाव का एक संक्षिप्त अध्ययन आवश्यक है ।

प्रगतिशील चेतना का स्वरूप

प्रगतिशीलता साहित्य का मुख्य गुण है । यहाँ प्रगति[3] याने गतिशीलता आगे की ओर की गति है, जिसका एक खास विचार-दर्शन का आधार है । "प्रगति

---

1. अपनी बात - पृ: 105 - भीष्म साहनी ।
2. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना - पृ: 80 - सं. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर
3. "प्रगति क्या है' प्रगति केवल राजनीति नहीं है । वह मनुष्य का ऐसा सुखी समाज बन सके, जहाँ विज्ञान की सहायता से सृष्टि के रहस्यों को समझ सकें ।" पृ: 328 - प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड - डा. रांगेय राघव ।

कोरी गतिशीलता का नाम नहीं है, अपितु विशिष्ट दिशा में आगे बढने का नाम ही प्रगति है, अर्थात् सोद्देश्य प्रगति की पहली निशानी है ।"[1] दिशाहीन प्रगति या गतिशीलता भटकाव में परिणत हो जाएगी । "विचारधारा और साहित्य सदा एक दूसरे केलिए अपरिहार्य है । विचारधारा साहित्य की रीढ तथा साहित्य विचारधारा का आत्मबल है ।"[2] प्रगतिशील चेतना का वैचारिक आधार मार्क्सवाद है । उससे प्रभावित साहित्य को प्रगतिशील साहित्य कहते हैं । इसमें सामाजिक यथार्थ की प्रमुखता है । "मार्क्सवाद को वैज्ञानिक-भौतिक यथार्थवाद कहा जाता है और मार्क्सवादी साहित्यिक इस बात का आग्रह करते हैं कि उनका साहित्य का संबन्ध कल्पना और आदर्श से नहीं है, ठोस और व्यावहारिक सत्य से है ।"[3] यह आदर्श के स्थान पर सामाजिक - आर्थिक पक्ष पर ज़ोर देता है ।

हिन्दी साहित्य में प्रगतिशीलता का आरंभ आधुनिक काल के साथ माना जाता है । लेकिन उसके लिए एक वैचारिक आधार 1930 के बाद ही मिलता है । और वह नए लेखकों के गहरे रूप में प्रभावित करने लगा ।[4] इससे उसका स्वरूप सुघटित एवं विकास द्रुतगति में हुआ ।[5] मार्क्सवाद के प्रभाव स्वरूप साहित्य में प्रगतिशील चेतना का सुव्यवस्थित विकास हो रहा है । लेकिन उसकी प्रारंभिक अवस्था में उसमें विचार की भरमार थी, अतः साहित्य में प्रगतिशील चेतना के बजाय सिद्धान्त के चौखटे में साहित्य व जीवन को बाँधने का प्रयास रहा था । "प्रगतिवादी युग में विचारधारा

---

1. (क) हिन्दी कहानी में प्रगति चेतना - पृ: 26 - डा. लक्ष्मणदत्त गौतम ।
   (ख) "प्रगतिवादी समीक्षा का प्रमुख मानदण्ड यह है कि साहित्य का निर्माण सोद्देश्य है । वह उद्देश्य क्या है' सुख-दुख की आत्माभिव्यक्ति मात्र नहीं, वरन् सामाजिक यथार्थ का सही और मार्मिक उद्घाटन । यही तत्व रचना को जीवन्त और अमर बनाता है ।" पृ:253 - हिन्दी समीक्षा स्वरूप और सन्दर्भ - डा. रामदरश मिश्र ।
2. तीसरा यथार्थ - पृ: 54 - डा. शंभुनाथ ।
3. नया साहित्य : नए प्रश्न - पृ: 1 - आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ।
4. 'In thirties, the marxist ideology began to exercise considerable influence on the minds of writers, and this incourse of time added a new dimension to the progressive element in Hindi short story'. - p.239 - Modern Hindi Short story - E.Mahendra Kulasreshta etc.,
5. Marxist ideology gave it a new dimension, further crystalized it, gave it a clearer socio-economic emphasis - p.239 - Ibid

सामान्यतः साहित्य पर थी, साहित्य में नहीं ।"[1] याने सिद्धान्त का रंग उस समय की रचनाओं में सबसे अधिक चमत्कृत रहा था । लेकिन स्वातंत्र्योत्तर काल में उसका ह्रास हुआ । "इस दृष्टि से मार्क्स के विचारों से प्रभावित साहित्यकार भी समाज को, उसके अन्दर चलनेवाले संघर्ष को और उस महान सामाजिक ध्येय को देखते हैं । जाहिर है इस दृष्टि में और साहित्य जगत में व्याप्त रही पहली दृष्टि में बडा अन्तर है । पर यह अन्तर साहित्य की भूमिका को बदल नहीं देता उसे और गहरा, संगत और वस्तुनिष्ठ बनाता है ।"[2] स्वातंत्र्योत्तर काल में साहित्यकारों के साथ ही आलोचक-विचारक भी ऐसी गलती से खुद मुक्त होने लगे । इसके फलस्वरूप यथार्थवादी साहित्य की प्रशंसा एवं रचना में वृद्धि हुई, जिसका स्वागत आलोचक-विचारक भी करने लगे । "किसी कृति को प्रगतिशील बताने का अर्थ केवल इतना ही है कि सामाजिक दृष्टि से उस कृति का प्रभाव अच्छा होगा बशर्ते कि §यहाँ बशर्ते कि बहुत महत्वपूर्ण है§ और सब दृष्टि से वह उस प्रकार की दूसरी कृतियों के मुकाबले का हो ।"[3] इससे सहमति प्रकट करते हुए इ.एम.शंकरन नम्पूतिरीपाड् ने लिखा है कि"पहले मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट आलोचक मात्र सोद्देश्य परक प्रचारवादी साहित्य को प्रोत्साहन देते थे, जिसे प्रगतिवाद नाम से अभिहित किया करता था । लेकिन आजकल वे अपनी गलती को पार कर गैर-सामाजिक रचनाओं को छोडकर बाकी सभी समाजोन्मुखी कलाकृतियों का स्वागत करते हैं ।"[4] इससे मिलते-जुलते मत हिन्दी के नव-प्रगतिशील आलोचक[5] भी प्रकट करने लगे हैं ।

---

1. तीसरा यथार्थ - पृ: 54 - डा. शंभुनाथ ।
2. अपनी बात - पृ: 107 - भीष्म साहनी ।
3. प्रगतिवाद की रूपरेखा - पृ: 309 - मन्मथनाथ गुप्त ।
4. कला कौमुदी - §मलयालम§ - जून 17, 1990.
5. §क§ "...यह ज़रूरी नहीं कि मार्क्सवादी विचारधारा को माननेवाले प्रगतिशील साहित्यकार या पार्टी लेखक सबसे ऊँचा प्रगतिशील साहित्य रचें । किसी भी रचनाकार ने यदि अन्तर्विरोधों का मार्मिक चित्रण कर दिया तो वह समर्थ और प्रगतिशील रचनाकार होगा ।" - पृ:34 - साहित्य अध्ययन की दृष्टियाँ - सं. डा.उदयभानु सिंह आदि । §प्रभातकुमार त्रिपाठी§
   §ख§ "यदि कोई साहित्य विचारधारात्मक प्रतिबद्धता प्रत्यक्ष प्रकट न करते हुए भी द्वन्द्वात्मक विधान में अनुभव को धारण कर लेता है तो वह प्रतिबद्ध और प्रगतिशील है ।" पृ:53 - आधुनिक साहित्य और इतिहासबोध - डा. नित्यानन्द तिवारी ।
   §ग§ धनजंय वर्मा - हस्तक्षेप - पृ:43.

प्रगतिशील साहित्य ने सामाजिक जीवन को अपने केन्द्र स्थान में रखकर साहित्य के सामाजिक प्रतिबद्धता को सुदृढ़ बना दिया है । उसका अन्तिम लक्ष्य एक सुखी एवं शान्तिपूर्ण समाज, याने मानवतावाद है । इसीलिए उसमें सामाजिक यथार्थ को प्रधानता मिली है । प्रगतिशील साहित्य ने जीवन का संस्पर्श और आम आदमी की अवधारणा लेकर 1930 से अपना अभियान शुरू किया था । प्रथम विश्वयुद्ध के बाद देशी एवं विश्व-वातावरण तेजी से इसके अनुकूल बन रहा था । रूस में संसार भर की दीन-हीन एवं दलित जनता को मुक्ति दिलाने का संकल्प करनेवाली साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई थी और देशी राजनीति में साम्राज्यवादी शक्ति के विरुद्ध बढ़ता जन-संघर्ष भी चल रहा था । उसमें भारतीय शिक्षित वर्ग ही नहीं बल्कि मज़दूर-किसान भी किसी-न-किसी तरह भाग लेते थे । विश्वयुद्ध के तुरन्त बाद भारतीय उद्योगों में वृद्धि हुई साथ ही मज़दूरों की संख्या में. । परिणाम स्वरूप अपनी माँगों की पूर्त्ति के लिए संगठनों का आविर्भाव होने लगा । "ज्यों-ज्यों मज़दूरों के संगठन, यानी ट्रेड यूनियनें ज़ोर पकडते गए, त्यों-त्यों साथ ही साथ मज़दूरों के रहन-सहन और काम की बेहतर हालत केलिए, काम के घंटों में कमी केलिए और ऊँची मज़ूरियों के लिए पुकार भी ज़ोर पकडती गई ।"[1] "जहाँ तक किसान वर्ग का ताल्लुक था आर्थिक हेतु अपना असर दिखाने लगा । 1930 ई का साल महान संसार व्यापी संकट का पहला साल था, और खेती की उपज की कीमतें बहुत गिर गई थीं । किसानों को इससे बडा नुक्सान हुआ क्योंकि उनकी आमदनी उनकी उपज की विक्री पर निर्भर होती है । इसलिए टैक्सबन्दी के आन्दोलन ने उनकी मुसीबत से मेल खाया और स्वराज उनके लिए सिर्फ दूर की राजनैतिक मंजिल नहीं रहा बल्कि मौजूदा आर्थिक सवाल बन गया, और यह चीज़ ज्यादा गहरा अर्थ हो गया और ज़मीदारों व काश्तकारों के बीच वर्ग-संघर्ष का बीज पैदा हो गया ।"[2] इस बीच बंबई में मज़दूरों की हडतालें एवं गिरफ्तार भी चलती थी और उनके बीच समाजवादी एवं साम्यवादी विचार फैलने लगे, जिससे उनमें ताकत की वृद्धि हुई ।[3] इसके अलावा 1918 से भारतीय

----

1. विश्व इतिहास की झलक - पृ: 1013 - जवाहरलाल नेहरू ।
2. वही - पृ: 1021.
3. वही - पृ: 1017.

विचारक जैसे बालगंगाधर तिलक, लाला लजपत राय तथा प्रेमचन्द मार्क्सवाद का स्वागत करने लगे थे ।[1] भारतीय राजनीति में मार्क्सवादी दल की स्थापना इसी हाल में हुई ।[2]

अंग्रेज़ शासक से बढ़कर उद्योगपति एवं व्यापारी थे । उनकी मुनाफा केलिए उन्हें राजनीतिक अधिकार अनिवार्य था । भारतीय पूंजी कुछ केन्द्रों में इकट्टी होने लगी,[3] और बाकी जगहों के कुटीर उद्योग बन्द हो गये साथ ही खेतीगरों की संख्या बढ़ने लगी ।[4] कुटीर उद्योगों के बन्द होने पर मज़दूरों की संख्या शहरों में बढ़ने लगी और वहाँ उनकी हालत बहुत बुरी होने लगी । "मज़दूरों के वासस्थान को देखकर कोई भी भय और रोष से भर जाता था, उनके घरों को न खिड़कियाँ थीं, न चिमनी ।[5] इस प्रकार सामाजिक जीवन दयनीय स्थिति में था, लोग असंतुष्ट थे ।

पाश्चात्य शिक्षा, संस्कृति एवं विज्ञान से भारतीय परिचित होने लगे जिससे उनके बौद्धिक जीवन में परिवर्तन होने लगा । "पाश्चात्य संस्कृति, शिक्षा, वैज्ञानिक उपादान आदि ने भारत के परम्परागत जीवन क्रम को एक ऐसा धक्का दे दिया जिसके फलस्वरूप भारतीय जीवन के विचार और व्यवहार में एक नयी जान और अवधारणा पैदा हो गयी, यह भारत को एक नया बौद्धिक जीवन प्रदान करने में समर्थ हुआ है ।"[6] सामाजिक

----

1. तिसरा यथार्थ - पृ: 48-49 - डा. शंभुनाथ ।
2. In December 1925 The Communist Party of India was founded at the first Conference of Indian Communists in Kanpur', - p.12 - Ajayakumar Gosh and Communist Movement in India - Pyotr Kutsobin.
3. 'Indian Industries were concentrated only in a few regions and corners of the country. Large part of the country remained totally under developed.' - p.193 - Modern India - Bipin Chandra.
4. Between 1901 and 1941 alone the percentage of population dependent on agriculture increased from 63.7% to 70% - Ibid.
5. The Workers who had created those dividends lived at an incredibly low level existance in filthy, disease, ridden hovels which has no windows or chimney's - p.356 - The Discovery of India - Jawaharlal Nehru.
6. The introduction of Western Culture, Education, Scientific techniques gave Indian life - a jolt, shocking Indian into a new awareness and vitality in thought and action. -p.277 - India and World - Civilization - Vol.II - D.P.Singal.

जीवन को बदलने में आर्यसमाज जैसी संस्थाओं का योगदान था । साहित्य क्षेत्र में भारतीय एवं विश्व साहित्य दोनों मार्क्सवाद का स्वागत करते थे । 1934 में रूसी साहित्यकारों का "सोवियत राष्ट्रीय लेखक संघ" का गठन हुआ ।[1] सन् 1935 में पेरिस में "संस्कृति की रक्षा केलिए विश्वलेख" अधिवेशन सम्पन्न हुआ । "1935 में ई. एम. फार्स्टर के सभापतित्व में पेरिस में "अन्तर्राष्ट्रीय प्रगतिवादी लेखक संघ" का प्रथम अधिवेशन संयोजित हुआ ।"[2] 1935 में लन्दन में प्रवासी भारतीय लेखकों के नेतृत्व में भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना और सन् 1936 में उसका प्रथम ऐतिहासिक अधिवेशन लखनउ में प्रेमचन्द के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ । फिर सन् 1938 में दूसरा[3] सन् 1942 में तीसरा और 1943 में चौथा अधिवेशन सम्पन्न हुआ । इन अधिवेशनों ने प्रगतिशील साहित्य के प्रचार को ज़ोर दिया । इसके अलावा भारतीय जन नाट्य संघ जैसे संस्थाओं ने भी इसकी प्रगति में सहायता दी । "विदेशी दासता और सामन्ती जुए के नीचे छटपटाती भारत की उत्पीडित जनता सन् 1930 के बाद संघर्ष के जिस दौर से गुजर रही थी, उसमें प्रगतिशील बुद्धिजीवियों का संगठित होना स्वाभाविक था ।"[4] इसकी घोषणा पत्र में कहा कि "भारतीय समाज में बडे-बडे परिवर्तन हो रहे हैं । पुराने विचारों और विश्वासों की जडें हिलती जा रही है और एक नए समाज का जन्म हो रहा है । भारतीय लेखकों का धर्म है किवे भारतीय जीवन में पैदा होनेवाली क्रान्ति को शब्द और रूप दें और राष्ट्र को उन्नति के मार्ग पर चलाने में सहायक हो ।"[5]

---

1. A national Union of Soviet Writers was there upon organised in 1934 and a new doctrine of socialist realism propounded to guide creative efforts - p.1022 - The New Encyclopedia Britanica - Vol.26.
2. आधुनिक हिन्दी काव्य में यथार्थवाद - पृ: 127-128 - डा. परशुराम शुक्ल विरही ।
3. प्रगतिवाद - पृ: 17 - डा. शिवकुमार मिश्र ।
4. प्रगतिवाद और समानान्तर साहित्य - पृ: 1 - डा. रेखा अवस्थी ।
5. वही - पृ: 317.

इस प्रकार भारतीय साहित्य सर्जना एवं चिन्तन में मार्क्सवादी-समाजवादी विचारों का प्रवेश एक साथ, एक काल-विशेष में हुआ, जबकि हमारे देश की सम्पूर्ण परिस्थितियाँ इतनी परिपक्व हो चुकी थीं कि मार्क्सवादी विचारों को साहित्य तथा जीवन के दूसरे क्षेत्रों में, अपने पैर जमाने में, विशेष कठिनाई नहीं हुई ।"[1]

सोद्देश्यता प्रगतिशील साहित्य का मुक्त गुण बताया गया है । उसका उद्देश्य वर्गहीन तथा न्याय संगत जनसमुदाय है । "देश तथा जाति का सामाजिक, नैतिक अभ्युत्थान साहित्य का मूक दायित्व माना गया, और रचनाकारों के प्रयास भी इसी ओर सक्रिय हुए ।"[2] इसीलिए कलावाद {कला कला केलिए सिद्धांत} के प्रति उसका विरोध होना स्वाभाविक है । अतः वह कलावाद एवं रूप विधान पर ध्यान न देकर मानवतावाद का मंतव्य लेकर चलता है और इस बीच कलात्मकता को बनाए रखता भी है, शिल्प अपने आप धारण करता भी है । "विचार तत्व अब कला तत्व तक में समा गया है । यदि कोई कलाकृति केवल चित्रण के लिए ही जीवन का चित्रण करती है, यदि उसमें आत्मगत शक्तिशाली प्रेरणा नहीं है जो युग में व्याप्त भावना से निसृत होती है, यदि वह पीड़ित हृदय से निकली कराह या चरम उल्लसित हृदय से फूटा गीत नहीं, यदि वह कोई सवाल का जवाब नहीं, तो वह निर्जीव है ।"[3] वह अपनी उद्देश्यपूर्ति के लिए सामाजिक यथार्थ का चित्रण करता है । क्योंकि साहित्य का संबन्ध सामाजिक जीवन से है और उसका उद्देश्य मानवता की प्रगति {उन्नति} है ।[4] यह प्रगति उत्पादक वर्ग की विजय के साथ होती है, याने शोषकों पर शोषित की जीत से ।[5] सामाजिक जीवन सदा

---

1. मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन: इतिहास तथा सिद्धांत - पृ:474 - शिवकुमार मिश्र ।
2. वही - पृ: 475.
3. दर्शन, साहित्य और आलोचना - पृ: । - बेलिंस्की आदि ।
4. 'Socialist realism proclaims that life is action, creativity, whose aim in the unfettered development of man's most valuable abilities for his victory over the forces of nature, and his health and longivity for the greater happiness of living on earth. (The speech delivered to the first all union Congress of Soviet Writers - August 17, 1934) - p.264 - On Literature - Maxim Gorkey.
5. The Art of any people in determined by their psychology, that their psychology is the out come of their condition and that this is itself determined in the last analysis by the State of their productive forces and their relations of Production - p.59 - Art and Social Life - G.V.Plekhanov.

संघर्षपूर्ण रहा था,[1] और है । प्रगतिशील रचनाकार इस संघर्ष में शोषित व दलितों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करते हैं और उन्हें संघर्ष करने का प्रचोदन - प्रोत्साहन देता है ।[2] शोषक देश-कालानुसार अपना रूप-रंग बदलता है । कभी ज़मींदारी-सामन्ती, कभी पूंजीपति-मिलमालिक, कभी धार्मिक - आध्यात्मिक नेता, कभी सनातन-परम्परावादी और कभी समाजसेवी राजनीतिज्ञ - का पोशाक पहनकर वक्त-बेवक्त अवतरित होते हैं । इन सबका विरोध करने का अवगाह देकर प्रगतिशील साहित्य शोषित, दलित एवं पीडित वर्ग के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करता है । "सोद्देश्य साहित्य मूल्यों-सामाजिक मूल्यों पर आधारित होता है । ऐसा साहित्य अनिवार्यतः विरोधी मूल्यों से टकराएगा । इसलिए मार्क्सवाद से प्रेरित प्रगतिशील साहित्य यदि पूंजीवादी विचारधारा और व्यवस्था से टकराता है, उसपर निर्मम प्रहार करता है तो इसे हानिकर नहीं मानना चाहिए ।"[3] इस प्रकार का एक वर्गहीन, न्याय संगत समाज ही प्रगतिशील साहित्य का मानवतावाद है । "मनुष्य ही साहित्य का केन्द्र है, पहले भी था और आज भी है और मनुष्य को केन्द्र में रखकर लिखा गया साहित्य अपने मानवीय गुणों के कारण ही मुख्यतः आज भी हमें प्रिय है ।"[4]

कथा साहित्य और सामाजिकता का संबन्ध अटूट है । दोनों को परस्पर पूरक बताया गया है । कहानी और उपन्यास दोनों इस सामाजिकता की देन हैं । अतः आरंभ से उनमें प्रगतिशील चेतना का पुट दिखाई देता है । इसलिए डा. नामवर सिंह ने लिखा है कि "उपन्यासकारों के लिए यह सन्देश {प्रगतिवाद} बहुत नया नहीं था क्योंकि

---

1. 'All history has been a history of Class struggles of struggle between exploited and exploiting, between dominated and dominating classes at various stages of social development'. p.13 - Manifesto of the Communist Party - Marx - Engels.

2. Marxism purports to be a revolutionary creed, it teaches that the workers must use force to destroy the 'bourgoise' and then set up their own form of class government' - p.408 - The Concise Encyclopedia of World History - John Bowle.

3. साहित्य अध्ययन की दृष्टियाँ - पृ: 33-34 - सं. उदयभानु सिंह आदि ।

4. अपनी बात - पृ: 104 - भीष्म साहनी ।

उपन्यास का जन्म ही सामाजिक यथार्थ को लेकर हुआ था ।"[1] हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यास एवं कहानियों में आदर्श की प्रचुरता के होते हुए भी उसमें समाज-सुधार, नारी-उत्थान एवं नारी शिक्षा, राष्ट्रीयता के तत्व भी पाये जाते हैं । "भारतेन्दु युग में, प्रथम बार साहित्य के अन्तर्गत वास्तविक जीवन स्थितियों को प्रवेश मिला, फलतः हमारे साहित्य में यथार्थ चित्रण की एक नयी परम्परा का सूत्रपात हुआ ।"[2] अपने समय की समस्याओं से टकराते हुए भारतेन्दु ने साहित्य को अपने समकालीन यथार्थ के ठोस आधार पर खडा किया । भारतेन्दु ने पहली बार सामान्य भौतिक मनुष्य का साहित्य रचा, उस मनुष्य का साहित्य जो अपने पुरुषार्थ और अपनी सामूहिक ऐतिहासिक शक्ति को पहचानने लगता है।"[3] "भारतीय साहित्य में आधार तथा परिसंगठन दोनों के प्रत्यक्ष अन्तःबन्धों का श्रेष्ठ उदाहरण भारतेन्दु युगीन साहित्य है जहाँ कुटीर उद्योगों तथा पंचायती व्यवस्था के आधार के विनष्ट होने तथा आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और कलात्मक संस्थाओं में नवोत्थान की अगवानी के सभी भाव प्रकट हुए हैं ।"[4] परन्तु भारतेन्दु युग में कथा साहित्य की रचना कम हुई और द्विवेदी युग में आकर उसे एक गति मिली । आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज इत्यादि के अलावा स्वाधीनता संग्राम का प्रभाव भी तत्कालीन रचनाओं में पडा है । "सामाजिक असमानता, जाति-वर्ण-भेद, बाल-विवाह, विधवाओं की दुरवस्था आदि के विरुद्ध इस युग में आर्य समाज, प्रार्थना समाज आदि संस्थाओं के संरक्षण में सुधारात्मक आन्दोलन चल रहा था ।"[5] बालकृष्ण भट्ट, किशोरीलाल गोस्वामी, हरिऔध, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, मन्नन द्विवेदी आदि इस युग के प्रमुख कथाकार हैं । इनमें मन्नन द्विवेदी की रचनाओं में सामाजिक यथार्थ अधिक उभारा है । "इस प्रारंभिक काल में हिन्दी उपन्यासों में जो भी प्रगतिशील तत्व प्राप्त होते हैं,

---

1. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ - पृ: 97 - डा. नामवर सिंह ।
2. मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन : इतिहास तथा सिद्धांत - पृ: 474 - शिवकुमार मिश्र ।
3. आलोचना - अक्तूबर-दिसंबर, 1986 - सं. डा. नामवर सिंह ।
4. क्योंकि समय एक शब्द है - पृ: - डा. रमेश कुंतल मेघ ।
5. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी - व्यक्तित्व एवं कृतित्व - पृ:9 - डा. शैव्या झा ।

एवं सामाजिक यथार्थवाद का जो थोडा बहुत चित्रण प्राप्त होता है, वह आर्यसमाज की सत्यानुभूति से प्रेरित शक्ति एवं प्रभावशीलता के कारण ही सम्पन्न हुआ था और उसके लिए हिन्दी उपन्यास आर्य समाज आन्दोलन का चिर-ऋणि रहेगा ।"[1] इसके बाद प्रेमचन्द, प्रसाद, उग्र, कौशिक, सुदर्शन आदि उपन्यासकार आते हैं ।

प्रेमचन्द का रचना विकास कथा-साहित्य में आदर्श से यथार्थ की ओर का प्रस्थान है । प्रेमचन्द की आरंभिक रचनाओं में समाज सुधार एवं राष्ट्रीयता का स्वर है परन्तु वह आदर्श के आवरण से ओढ़ा हुआ था । लेकिन जल्दी ही वे काल के नब्ज को पहचानने लगे । "1920 के राष्ट्रीय आन्दोलन ने प्रेमचन्द को यह सिखा दिया कि जनता को अपने अधिकारों के लिए अन्त तक बिना समझौता किए लडना पडेगा ।"[2] "सेवा सदन", निर्मला, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि, गबन, मंगल सूत्र और गोदान जैसी रचनाओं में उन्होंने समाज के सभी स्तर के पात्रों के। स्थान दिया है । यही कार्य उन्होंने अपनी कहानियों में भी किया है । "यों तो प्रेमचन्द-साहित्य में सभी सामाजिक वर्गों और समुदायों के प्रतिनिधि चरित्र मिलते हैं, लेकिन प्रेमचन्द के प्रमुख पात्र सामन्त और किसान ही हैं । एक महान दृष्टिवान साहित्यकार की हैसियत से प्रेमचन्द ने यह समझ लिया था कि साहित्य में उन्हीं वर्गों पर विशेष ध्यान देना चाहिए, जिन पर समाज का आधारभूत जीवन अवलंबित है ।"[3] ज़मींदार और किसान के अलावा उनके पात्रों में चिरकाल से पीडित नारी है, वर्ण या रंग के नाम पर अछूते समझेवाले वर्ग हैं, आर्थिक विपन्नता से ग्रस्त मानव है । परवर्ती रचनाओं में वे "वर्ग-विभक्त समाज की हकीकत को खुले आम स्वीकार करते हैं और यहीं पर वे महाजनी अर्थात् पूंजीवादी व्यवस्था को शाप देते हुए उसे उखाड फेंकने का आह्वान करते हैं ।"[4] "प्रेमाश्रम" हिन्दी में पहला उपन्यास है, जिसमें अन्याय और शोषण के मूल वर्ग-विभाजन का चित्रण है, हालाँकि

---

1. हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास - पृ: 40 - डा. सुरेश सिन्हा ।
2. कथा विवेचना और गद्यशिल्प - पृ: 14 - डा. रामविलास शर्मा ।
3. प्रेमचन्द परिचर्या - पृ: 49 - सं. डा. कल्याणमल लोढ़ ।
4. प्रेमचन्द : विरासत का सवाल - पृ: 84 - डा. शिवकुमार मिश्र ।

किसान-ज़मींदार के बीच संघर्ष का उनका हल हवाई है ।"[1] "कफ़न", "पूस की रात", "ठाकुर का कुआ" जैसी कहानियों में आर्थिक-शोषण तथा उसकी उपज-अस्वीकार का संघर्ष है तो "शतरंज के खिलाडी" में सामन्तयुगीन सभ्यता को खत्म करने की इच्छा है । "गोदान" में किसान - ज़मींदार, मज़दूर-मालिक, धार्मिक एवं नैतिक शोषण सब पर प्रकाश डाला गया है । गोदान "उपन्यास सामाजिक ढाँचे को पूरी तरह बदलने का और न्यायपूर्ण मानवीय व्यवस्था की स्थापना का आह्वान बन गया है ।"[2] मोटे तौर पर कहे तो "उनकी महत्ता का स्रोत उनकी रचनाओं में व्यक्त मानवीय सहानुभूति ही नहीं है, मनुष्य व मनुष्य के बीच समानता का आग्रह है । वे हिन्दी उपन्यास को समाज के क्रान्तिकारी रूपान्तरण की आकांक्षा और उपेक्षा से जोडते हैं ।"[3]

इस परम्परा को विकसित करनेवाले रचनाकार हैं जयशंकर प्रसाद, विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, पांडेय बेचन शर्मा "उग्र", सुदर्शन, सियारामशरण गुप्त आदि । प्रसाद की कहानियों में उनकी कविता का रोमानी स्वभाव और नाटक के समान ऐतिहासिक प्रेम है । लेकिन उपन्यासों - "कंकाल", "तितली", "इरावती" - में वे समाजिक यथार्थवादी लगते हैं । इनके उपन्यासों में नारी संवेदना शायद अधिक मुखरित है । इसी तरह सियारामशरण गुप्त के दोनों उपन्यास पीडित एवं शोषित नारी के प्रति गहरी संवेदना व्यक्त करते हैं । कौशिक और सुदर्शन पूर्णतः प्रेमचन्द परम्परा के हैं तो उग्रजी उनसे भी आगे हैं । उनकी रचनाओं में सांप्रदायिक सौहार्द की बलवती इच्छा है । इसके अलावा राजनीतिक, प्रशासनिक अत्याचारों, अनीतियों पर वे अधिक आक्रामक लगते हैं । "चंद हसीनों के खतूत" में दो धर्मावलंबियों - नर्गिस और मुरारीकृष्ण - की त्रासदीय प्रेम-कहानी है तो "सरकार तुम्हारी आँखों में" राजनीतिक भ्रष्टाचार को नंगा किया है । राजा मदन सिंह कहता है कि "राजा को केवल विलास ही केलिए भगवान बनाता है । राजा अन्याय कभी कर ही नहीं सकता । राजा प्रजा से जैसे चाहे, वैसे अपनी प्रसन्नता के लिए जो चाहे, वही ले सकता है ।"[4]

---

1. आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता - पृ:32 - डा. नवल किशोर ।
2. वही - पृ: 33.
3. वही - पृ: 32.
4. सरकार तुम्हारी आँखों में - पृ: 103 - पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ।

साहित्य में अनुभूति की गहराई एवं अनुभव की व्यापकता दोनों अनिवार्य है । साहित्य की महिमा उसमें ही निहित है । "अनुभूति की गहराई हर हालत में अनुभूति की व्यापकता से निर्धारित होती है । व्यापकता का तिरस्कार करके जो लेखक गहराई लाने का दम भरता है, वह दरअसल संकीर्णता के अन्धकूप में पडता है । उसकी अनुकृति का अर्थ संकुचित होता है और गहराई उथली होती है ।"[1] प्रेमचन्दोत्तर कालीन कथा-साहित्य की मुख्य विडंबना यह है कि यह एक ओर अनुभूति की गहराई की उपेक्षा करके सतही बनने लगा तो दूसरी ओर अनुभूति की व्यापकता की उपेक्षा करके मन की गहराई की तलाश करने लगा । इसप्रकार तत्कालीन कथा-साहित्य में जैनेन्द्र, अज्ञेय और इलाशचन्द्र जोशी मनोविज्ञान का सहारा लेकर गहराई में जाने की कोशिश करते दिखाई देते हैं तो यशपाल, राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव, भैरवप्रसाद गुप्त, नागार्जुन अमृतराय आदि उपन्यासकार मार्क्सवादी दर्शन की गिरफ्त में पडे दीखते हैं । इसलिए डा. इन्द्रनाथ मदान ने कहा है कि "यशपाल पहले चिन्तक तथा विचारक है और बाद में कहानीकार । ये पहले मुनि ({चिन्तक}) है और बाद में ऋषि ({सर्जक}) ।"[2] जैनेन्द्र-अज्ञेय परम्परा का एक विकसित रूप स्वातंत्र्योत्तर काल में देख सकते हैं । मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, कृष्णबलदेव वैद, उषा प्रियंवदा, रमेश बक्षी प्रभृति इस परम्परा के हैं ।

"आज हमें आवश्यकता इस बात की है कि भ्रम-जाल से निकलकर जीवन की भौतिकता और सामाजिकता को स्वीकार करें । मेरे साहित्य का यही उद्देश्य है ।"[3] इससे यशपाल की ही नहीं बल्कि इस समय के अन्य मार्क्सवादी उपन्यासकारों की साहित्यिक मान्यता व्यक्त होती है । इन्होंने अपने कथा-साहित्य में प्रगतिशील चेतना की मांग को पूरा करने का प्रयास किया है।लेकिन उनकी प्रगतिशीलता में विचार की अधिकता है -

---

1. इतिहास और आलोचना - पृ: 16 - डा. नामवर सिंह ।
2. हिन्दी उपन्यास : पहचान और परख - पृ: - सं. डा. इन्द्रनाथ मदान ।
3. विचार और अनुभूति - पृ: 33 - डा. नगेन्द्र ।

'इन उपन्यासकारों के अन्दर सामाजिक यथार्थवाद अधिक है, परन्तु न तो हम इन्हें पूर्णतः सामाजिक यथार्थवाद की श्रेणी में न रख सकते हैं, और न तो समाजवादी यथार्थवाद की ही । इन्हीं दोनों दृष्टिकोणों के बीच हमें इन उपन्यासकारों को परखने का प्रयत्न करना चाहिए ।"[1] ये लेखक आर्थिक परिवर्तन को राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक परिवर्तनों का आधार मानते हैं । उनकी रचनाओं के मूल में मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है । "शोषण और उत्पीडन से चीत्कार करती धरती की वेदना को प्रभावपूर्ण ढंग से व्यंजित करना और क्रान्ति के लिए मशाल जलाती चलनेवाली सर्वहारा की चेतना को उद्बुद्ध करना ही हिन्दी के प्रगतिवादी उपन्यासकारों का परम लक्ष्य रहा है ।"[2]

यशपाल के कथा-साहित्य का मुख्य विषय सामाजिक ही है । उसमें धार्मिक, नैतिक आचरणों पर व्यंग्य है, पुराने मूल्यों एवं विश्वासों के प्रति आक्रोश है, सदियों से पुरुष-शासन में दबी नारी के प्रति अतिरिक्त संवेदना है । "दिव्या" और "अमिता" में ऐतिहासिक प्रसंगों के माध्यम से समाज द्वारा दमित, धर्म, नीति, परम्परावाद इत्यादि से पीडित नारी के यथार्थ चित्रण के साथ शोषक समाज एवं उसके अंगों को बेनकाब किया गया है । "दादा कामरेड", "पार्टी कामरेड" तथा "मनुष्य के रूप" की मुख्य समस्या नारी है ही । "देश-द्रोही", "दादा कामरेड" आदि में मिल मालिक-मजदूरों का संघर्ष है । "झूठा-सच" उनका प्रसिद्ध उपन्यास है जिसमें धार्मिक शोषण, नारी शोषण के अलावा राजनीतिक - आर्थिक मामलों पर भी उन्होंने अपना विचार प्रकट किया है । "दो ही साल में "गाँधी की जय" खोखली पड गई है । सब शासन पुराने आई सी.एस लोग चला रहे हैं । उन लोगों ने सेवा करना नहीं, शासन करना सीखा है । उन्हें डेमोक्रेसी नहीं, ब्यूरोक्रेसी चाहिए । वही कानून है, वही पुलिस का राज ।"[3] इसप्रकार वे स्वतंत्र भारत की कानून व्यवस्था की आलोचना करते हैं । "औद्योगिक और पूंजीवादी युग का

---

1. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद - पृ: 36 - डा. त्रिभुवन सिंह ।
2. प्रगतिवादी हिन्दी उपन्यास - पृ: 43 - डा. बदरी प्रसाद ।
3. झूठा सच - II - पृ: 398 - यशपाल ।

कानून भी बिलकुल यंत्रवत् बन गया है । यह यंत्र उसी का है, जो इस पर अधिकार कर ले ।"[1] ऐसा विचार उनकी कहानियों में भी अभिव्यक्त है । उनकी प्रारंभिक कहानियों में भी मार्क्सवाद का स्पष्ट प्रभाव है । "1935-36 ई. के पास से ही कहानी में राजनीतिक विचारधारा का संचरण प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः होने लगता है । यशपाल... की अनेक कहानियों पर राजनीतिक विचारधारा का प्रभाव देखा जा सकता है ।"[2]

गणतंत्र के समर्थक राहुल सांकृत्यायन ने अपनी रचनाओं में साम्राज्यवाद, सामन्तवाद, पुरोहितवाद और पूंजीवाद का विरोध किया है, क्योंकि ये सब व्यक्ति केन्द्रित प्रणालियाँ हैं । "विस्मृत यात्री", एवं "मधुरस्वप्न" में उन्होंने आर्थिक समानता पर ज़ोर दिया है । उनके अनुसार आर्थिक विषमता ही सभी कठिनाइयों का कारण है । उसे "दूर करने का एक ही रास्ता है और वह है पुरुष-पुरुष में धन-सम्पत्ति की विषमता न रह जावे ।"[3] रूप-बन्ध की दृष्टि से उनका कथा साहित्य विशिष्ट कोटि का न होने पर भी "दृष्टिकोण के स्तर पर वे यशपाल से अधिक साफ हैं ।"[4]

रांगेय राघव और भैरवप्रसाद गुप्त की रचनाओं में भी विचारधारा का रंग सतही लगता है । रांगेय राघव ऐतिहासिक एवं सामयिक घटनाओं के ज़रिए आर्थिक समानता की मांग करते हैं । शोषण-अत्याचार के प्रति वे ज़रा भी संयमी नहीं लगते । वे शोषित दासों की जागृति की आशा करते हैं । "जिस दिन इन दासों में मनुष्यता जाग उठेगी उस दिन ये तुम पर एक होकर वज्र की भाँति टूट पड़ेंगे और तुम' तुम विलास के पैशाचिक बन्दी, अपनी श्रृंखलाओं में फंसकर अपने आप ध्वस्त हो जाओगे ।"[5] इसमें गणशासन के लिए आग्रह, साम्राज्य शाही के प्रति घृणा, दास-प्रथा का विरोध, कुलीनता के दंभ पर प्रहार, नारी स्वतंत्रता का समर्थन, समता व मानवतावादी विचार, शोषितों के

---

1. झूठा सच -II - पृ: 367 - यशपाल ।
2. समकालीन कहानी युगबोध का सन्दर्भ - पृ: 243 - डा. पुष्पपाल सिंह ।
3. विस्मृत यात्री - पृ: 370 - राहुल सांकृत्यायन ।
4. हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष - पृ: 76 - सं. डा. रामदरश मिश्र ।
5. मुर्दों का टीला - पृ: 223 - रांगेय राघव ।

प्रति संवेदना तथा भावि क्रान्ति में लेखक का प्रगतिवादी दृष्टिकोण लक्षित होता है ।"[1] मुर्दों का टीला" के अलावा "विषाद मठ", "कब तक पुकारूँ", आदि उनके प्रमुख उपन्यास हैं । "गदल" और "मृगतृष्णा" उनकी चर्चित कहानियाँ हैं ।

"मशाल", "गंगा मैया", और "सत्ती मैया का चौरा", भैरव प्रसाद गुप्त के प्रसिद्ध उपन्यास हैं । "मशाल" राष्ट्रीयता, स्वाधीनता संग्राम तथा मज़दूर आन्दोलन की गहराई और प्रसार का कार्य करता है । इनके अनुसार वास्तविक स्वतंत्रता मजदूर वर्ग की खुशहाली है । इसमें सांप्रदायिक सौहार्द की झलक भी है । "मशाल" में हर कहीं क्रान्ति एवं संघर्ष है । अमृतराय इस परम्परा के और एक रचनाकार हैं । उनका "बीज" सामाजिक यथार्थ की ज़मीन पर खड़ी हुई रचना है । "बीज में सामन्तीय समाज और राजनीति से पनपनेवाली समस्त विरोधी ताकतों के खिलाफ क्रान्ति के बीज वर्तमान हैं । सामाजिक और राजनीतिक जडता के विरुद्ध जनवादी चेतना के स्वर को बुलन्द करने के लिए हिन्दुस्तानी स्वराज्य आन्दोलन के युग में जो बीज बोये गए थे, वे ही बीज उपन्यास के कथ्य हैं ।"[2]

यशपाल के बाद नागार्जुन मार्क्सवादी लेखकों में आगे हैं । उनके उपन्यासों को आंचलिक उपन्यास के अन्तर्गत भी परखा जाता है । "बलचनमा", "वरुण के बेटे", "बाबा बटेसरनाथ", "कुंभी पाक" और "नई पौध" उनकी चर्चित रचनायें हैं । उनके उपन्यासों का परिवेश ग्रामीण है । उसमें ग्रामीण किसान, मछुआरे और ज़मींदार मुख्य पात्र हैं । "बलचनमा" किसान-मजदूर संकर्ष की गाथा है । बलचनमा उसका मुख्य पात्र है । "नागार्जुन का बलचनमा छुटपन से ही ज़मींदारों के आतंक, अत्याचार तथा बेगार का लक्ष्य बनता है । ज़मींदारों के घर रहते हुए उनके अनैतिक जीवन के एक-एक पक्ष को बारीकी से देखता है । दर-दर भटकने पर भी उसकी विद्रोही चेतना न तो भर पाती है और न कुंठित हो पाती है । सभाओं तथा जुलूसों का वातावरण उसकी इस चेतना पर

---

1. प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि - पृ: 77 - डा. सत्यपाल चुघ ।
2. प्रगतिवादी हिन्दी उपन्यास - पृ: 146 - डा. बदरी प्रसाद ।

एक नई शान चढ़ाता है और अवसर आने पर वह जन-सामान्य {किसानों} का नेतृत्व करते हुए, सारे भूमिहीन, शोषित किसानों के ज्वलंत विद्रोह का प्रतीक बनकर साहस के साथ अपने अधिकारों की मांग करता हुआ सबसे आगे आ जाता है ।"[1] "वरुण के बेटे" में मछुआरे अपने शोषकों के साथ संकर्ष करता है कि "गढ़ पोखर" अपनाने के लिए । इसमें उनकी संगठित शक्ति एवं सजगता प्रस्तुत किया है । "बाबा बटेसरनाथ" में नागार्जुन की प्रगतिशील चेतना सही रूप में उभरी है । "रतिनाथ की चाची" में सामन्ती ब्राह्मण समाज में वैधव्य की असह्य पीडाओं को झेलनेवाली नारी की करुण कथा है ।

इस अवधि में उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवतीचरण वर्मा और अमृतलाल नागर सामाजिक जीवन को अपने ढंग से प्रस्तुत करते थे । ये लेखक दोनों विचारधाराओं के बीच एक समन्वय करके चलते थे । भगवतीचरण वर्मा अपने उपन्यासों - "चित्रलेखा", "प्रश्न और मरीचिका", "सीधी सच्ची बातें", "सबही नचावत रामगोसाई" आदि - में सामाजिक यथार्थ का चित्रण करते हैं । उसमें स्वाधीनता संग्राम, सांप्रदायिकता, राजनीतिक भ्रष्टाचार, पारिवारिक समस्यायें - सारी बातें जगह पाती हैं । मगर उनकी खूबी यह है कि वे उपन्यास के अन्त में एक बने-बनाया निष्कर्ष देते हैं । अमृतलाल नागर ने तत्कालीन सामाजिक समस्याओं एवं ऐतिहासिक घटनाओं एवं व्यक्तियों को भी अपना विषय बनाया है । "अमृत और विष", "बूँद और समुद्र", "महाकाल" आदि उनके चर्चित सामाजिक उपन्यास हैं । इनसे अलग अश्कजी अपने को प्रगतिशील रचनाकार मानते हैं । "मैं पिछले बारह - पन्द्रह वर्षों से प्रगतिशील आन्दोलन के साथ हूँ । . . . इसकी हर गतिविधि का बडे ध्यान से अध्ययन करता रहा हूँ । इसी आन्दोलन से मैं ने साहित्य-सृजन की ठीक मार्ग और लेखक के रूप में अपने जीवन और कृतित्व की सार्थकता पाई है ।"[2] "गिरती दीवारें", "शहर में घूमता आइना", सीधा सादा रास्ता आदि उनके चर्चित औपन्यासिक कृतियाँ हैं । "डाची", "पलंग" और "कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल" अश्कजी की चर्चित कहानियाँ हैं । कहानियाँ भी उपन्यास की

---

1. हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष - पृः 76 - सं. डा. रामदरश मिश्र ।
2. रेखायें और चित्र - पृः 60 - उपेन्द्रनाथ अश्क ।

तरह सामाजिक यथार्थ के ज़रिए बल पकडती हैं । इनकी रचनाओं में शहरी मध्यवर्गीय परिवार के जीवन को अभिव्यक्ति मिलती है ।

सन् 1950 के आसपास भारतीय जीवन में गत्यवरोध का समय था । इसे तोडने में तत्कालीन साहित्य असफल रहा ।[1] क्योंकि वे उनके पास एक साफ सुथरा दृष्टिकोण नहीं था । साथ ही वे विचारधारा को साहित्य की कसौटी मानते थे । विचारधारा साहित्य की कसौटी नहीं, वह उत्प्रेरकों को समझने और उसको तीव्र बनाने में सहायक होती है । "मार्क्सवाद हो या कोई बाद हो, वह काव्य की कसौटी नहीं बन सकता । वह काव्य की प्रेरक शक्तियों को, समय को और सामाजिक कर्तव्य समझने में सहायक हो सकता है, किन्तु काव्य का नियामक नहीं बन सकता ।"[2] "कुछ समय के गतिरोध के पश्चात् साहित्य की जीवनोन्मुख मूल प्रवृत्ति को अनेक रचनाकारों ने पहचाना और तमाम एब्सर्ड परिस्थितियों के बीच जीवन की सुन्दर संभावनाओं की खोज केलिए व्यक्ति और समाज के संघर्ष एवं जिजीविषा को कहानी में चित्रित किया ।"[3] तत्कालीन साहित्यकारों की अस्पष्टता एवं असफलता और नए लेखकों की क्षमता के बारे में आनन्द प्रकाश भी इससे मिलता जुलता मत प्रकट करते हैं । "इस गत्यवरोध को तोडने का पहला महत्वपूर्ण प्रयत्न नयी कहानी आन्दोलन के माध्यम से हुआ जिसमें कुछ अपेक्षाकृत युवा प्रगतिशील लेखकों ने अपने सामाजिक परिवेश को नए सिरे से समझकर एक नया संयुक्त मोर्चा स्थापित किया ।"[4] ये नव प्रगतिशील लेखक व्यक्ति का तिरस्कार नहीं करते, व्यक्ति को समाज के सजीव एवं जागरूक अंग मानते हैं । इसे स्पष्ट करते हुए धनंजय वर्मा ने लिखा है कि "मार्क्सवाद सामाजिक जीवन को एक आंगिक सम्पूर्ण मानता है, जिसमें व्यक्ति के सारे मानवीय और रचनात्मक प्रयत्न परस्पर अन्तर्क्रिया करते हैं । वे एक दूसरे पर निर्भर करते हैं और दूसरे पर असर डालते हैं । इस सामाजिक जीवन में व्यक्ति की स्थिति और नियति के निर्धारण और निर्णय में आर्थिक और नैतिक रिश्ते, बुनियादी भूमिका अदा करते हैं ।"[5]

---

1. नई कहानी - पृ: 57 - सं. सतीश जमाली ।
2. आधुनिक साहित्य - पृ: 432 - आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ।
3. भाषा - मार्च, 1980 - सं. जगदीश चतुर्वेदी ।
4. नई कहानी - पृ: 58 - सं. सतीश जमाली ।
5. हस्तक्षेप - पृ: 44 - धनंजय वर्मा ।

इस प्रकार की स्वातंत्र्योत्तर नव प्रगतिशील दृष्टि के साथ भीष्मजी की रचनाओं को परखना है जिसमें सामाजिक यथार्थ को शक्ति मिली है । वे सामाजिक वैषम्य, अन्तर्विरोध, आर्थिक-विपन्नता, विसंगतियाँ इत्यादि को समझाने और परखने को मार्क्सवाद को स्वीकार करते हैं । इसके साथ उनके विनम्र एवं अनुभवी व्यक्तित्व के संयोग से रचनाओं में विरोध, अस्वीकार, संघर्ष सब संयमित ढंग से चित्रित हुए हैं । भीष्मजी के अपने शब्दों में कहा है तो "मार्क्सवाद मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन को समाज के विशाल जीवन का अंग मानकर देखता है । इसीलिए समाज में पायी जानेवाली समस्यायें उसकी रचनाओं के विषय बनती हैं । इसी कारण वह नस्लवाद, सांप्रदायिकता, जातिवाद, धर्मान्धता आदि का विरोध करता है । इस दृष्टि के अनुरूप ही वह उन सभी कुचेष्टाओं का भी विरोध करता है और उन्हें निरावृत करता है, जो पाठक अथवा नागरिक की नज़र से मूल विसंगति और अन्याय से दूर हटाकर उसे छद्म आध्यात्मिकता, व्यक्तिवाद आदि के घटाटोप की ओर ले जाता है ।"[1]

धार्मिक शोषण के प्रति असन्तोष

धर्म या मजहब भारतीय समाज में शोषण का बर्मूदा बन गया है । उसमें पहले ही निरीह, अनपढ़, धर्म भीरु जनता को अन्धविश्वासों में फंसाकर उसका शोषण करने की शक्ति निहित है । इस शोषक वर्ग के अनुसार धार्मिक भावनायें सहज ही मनुष्य में अन्तर्निहित रहती हैं । यह वर्ग जनता को धर्म का अफीम देकर धर्म के नाम पर लडने-भिडने को बाध्य कर देता है । वह स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म इत्यादि के बहाने जनता को धर्मभीरु बना देता है और उनके बीच धार्मिक संकीर्णतायें रूढ़ बना देता है । इससे जनता का ध्यान उबलते प्रश्न, सच्चे यथार्थ इत्यादि से हटकर धर्म पर केन्द्रित होता है, साथ ही शोषण कार्य सुगम बन जाता है ।[2] भौतिकवादी इसका विरोध करते हैं । उनके अनुसार धर्म का उदय समाज के विकास के एक खास सोपान में

1. अपनी बात - पृ: 108 - भीष्म साहनी ।

2. By its false promises of the Kingdom of heaven of a happy life in the next world, religion diverts the working people from the most burning and for a just genuinely humane social system - p.383 - Marxist Philosophy - V.G.Afanasyev.

प्राकृतिक और सामाजिक व्यापारों के सच्चे कारणों को समझ नहीं पाने के कारण हुआ । पुरानी पीढ़ी पूर्णतः प्रकृति पर आधारित थी । इन लोगों ने प्राकृतिक शक्तियों की पूर्ण जानकारी के अभाव में उसमें अद्भुत शक्तियाँ खोजते का प्रयास किया । वे देवता, दानव, शैतान आदि नाम और उन्हें कल्पित रूप भी प्रदान करने लगे । प्राकृतिक प्रकोपन के अवसर इनकी ओर से उनसे रक्षा केलिए उन प्राकृतिक देवताओं को तृप्त करने का प्रयास किया गया । इन देवताओं को तृप्त करने केलिए एक दलाली वर्ग का उदय हुआ, वही पुरोहित वर्ग के रूप में बदल गया । इस प्रकार यह शोषक वर्ग धर्मभीरू जनता का शोषण करने लगा । "सांप्रदायिक नेताओं का प्रभाव इसलिए अधिक है कि धर्म अज्ञान और अन्धविश्वास पर पलता है । सुअर को लेकर मुसलमानों का और गाय को लेकर हिन्दुओं का इतना अधिक संवेदनशील होना अज्ञान ही तो है । आम आदमी को, उसके सांप्रदायिक विश्वास, भाग्य या परवर दिगार को ही सबकुछ मान लेने की उसकी प्रवृत्ति निकम्मा बना देती है ।"[1] साथ ही शोषित वर्ग जीवन की कठिनाइयों से मुक्ति पाने केलिए भगवान का शरण लेते हैं और मन्दिर उनका अभयस्थान बनने लगा । "भारतीय समाज में स्वयं धर्म एवं ईश्वर के नाम पर कर्मवाद एवं पुनर्जन्मवाद ऐसे नियमों को स्वीकृत कराया गया जिससे शोषित वर्ग अपनी परिस्थिति से असन्तुष्ट होते हुए भी विद्रोह की ओर उन्मुख न हो सके, जो प्रारब्ध उसके साथ ऐसा प्रपंच रचता है कि अनवरत परिश्रम के पश्चात् भी निर्धनता, लाचारी, दुख, प्रताडना आदि को ही गले में लगाने केलिए उसे विवश होना पडता है, उसके परिवर्तन के प्रति वह क्रियाशील न हो सके ।"[2]

पूर्णतया धर्म अपने में दोषी है, ऐसा नहीं कह सकते हैं । वह एक साथ जनता का हितैषी और दोषी दोनों है । धर्म जनता में आध्यात्मिक ज्ञान, अनुशासन एवं संयम बनाए रखने में सहायक अवश्य हुआ है । लेकिन आजकल भारतीय समाज में उसके नाम पर शोषण, अत्याचार सब चलते हैं । इसके पीछे कुटिल राजनीति और स्वार्थी

---

1. साहित्य और सामाजिक मूल्य - पृ: 94 - डा. हरदयाल ।
2. प्रगतिशील आलोचना - पृ: 129 - डा. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ।

धार्मिक नीति कार्यरत हैं । "यों अतीत की विरासत की दुहाई उदार और प्रगतिशील तत्व भी देते हैं, लेकिन मजहबी-धार्मिक-सांप्रदायिक शक्तियाँ एक खास नजरिए से यह दुहाई देती है । उदार और प्रगतिशील तत्व विज्ञान और वैज्ञानिक चिन्तन के खिलाफ अपने देश के अतीत की विरासत की दुहाई नहीं देते, लेकिन मजहबी और धार्मिक-सांप्रदायिक तत्व अतीत की विरासत की दुहाई देते इसलिए हैं कि विज्ञान और वैज्ञानिक चिन्तन के खिलाफ दीवार खड़ी की जा सके और मनुष्य को सदा धर्म के संकीर्ण सोच — "मेरा ही धर्म दुनिया में सबकुछ है"- के दायरे में कैद किया जा सके ।"[1] एक ओर धर्म के नाम पर धार्मिक नेता जनता को शोषण करते हैं तो दूसरी ओर कुटिल राजनीतिज्ञ अपनी उद्देश्य पूर्ति केलिए धर्म के राजनीति का हिस्सा बना देता है । आजकल धर्म और राजनीति एक दूसरे का पूरक बन गए हैं । "धर्म परमेश्वर की कल्पना कर मनुष्य को दुर्बल बना देता है, उसमें आत्मविश्वास उत्पन्न नहीं होने देता और उसकी स्वतंत्रता का अपहरण करता है, जीवन की ठोस हकीकत से उसको अलग कर ख्याल और वहम की काल्पनिक दुनिया में उसको नचाता है और उसकी आत्मचेतना को पूर्णरूप से विकसित नहीं होने देता ।"[2] एंगेल्स के अनुसार "हर धर्म लोगों के मस्तिष्क में उन बाह्य शक्तियों के, जो उनके दैनिक जीवन को-नियंत्रित करते हैं, एक अपरूप प्रतिबिंब के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । यह ऐसा प्रतिबिंब है जिसमें लौकिक शक्तियाँ अलौकिक शक्तियों का रूप ग्रहण कर लेती हैं ।"[3]

आज का समाज शिक्षित एवं वैज्ञानिक है । अतः धर्म के नाम पर पहले जो शोषण चलता आ रहा था उसमें एक सीमा तक ह्रास होने लगा । इसका तात्पर्य यह नहीं कि जनता धर्म के पंजे से पूर्णतः मुक्त हुई है या उसकी धर्म भीरुता मिट गई है ।

---

1. प्रश्न और प्रसंग - पृ: 140 - प्रदीप पंत ।
2. राष्ट्रीयता और समाजवाद - पृ: 288 - आचार्य नरेन्द्र देव ।
3. All religion, however is nothing but the fantastic reflection in man's mind of these external forces which control their daily life, a reflection in which the terristrial forces assume the form of super natural forces - p.382 - Anti Duhring - Marx,Engles.

मात्र पुराने स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्मवाली विश्वास से कुछ प्रगति हुई है । इसलिए शोषक वर्ग धर्म के सांप्रदायिक रंग पर ध्यान अधिक देते हैं । धर्म की रक्षा-धर्म खतरे में है, मजहब खतरे में है, संप्रदाय खतरे में है - के बहाने उनके हृदय को वश में लाते हैं । "सांप्रदायिकता तो धार्मिक और जातीय शोषण से उत्पन्न हीनता का हिंसक आक्रोश है । इसके बीज तो आर्थिक विषमता के अज्ञात और छिपे हुए कारणों में होते हैं तथा पल्लवन वर्ग-जाति के ज्ञात और मूर्तमान भेदों में होता है । सामंती "लाभ" की प्रकृति ही सांप्रदायिकता होती है । सामंती लाभ या मुनाफे से पैदा होनेवाली संस्कृति सांप्रदायिक होती है, उसके मूल्य सांप्रदायिक होते हैं ।"[1] श्री सत्यकाम के अनुसार "सांप्रदायिकता धार्मिक कट्टरता और रूढिवाद का वह रूप है जिसमें एक धर्म के मतावलंबी दूसरे धर्मावलंबी के प्रति विद्वेष का भाव रखते हैं ।"[2]

भारत में मुसलमानों के आगमन के पहले एक संगठित हिन्दु धर्म नहीं था । तब तक धर्म और राजनीति का गठबन्धन भी नहीं के बराबर था । अत्याचारी मुसलमान शासकों के कारण यहाँ की धार्मिक भावना हिलने लगीं, और जनता संगठित होकर भगवान का शरण लेने लगे । फिर अंग्रेज़ आए, जिन्होंने दोनों धर्मों - हिन्दू और मुस्लिम - के बीच की खाई को समझा और अपने शोषण-तंत्र एवं शासन-तंत्र की रफ्तार गति केलिए इसका सद्-उपयोग करना शुरु किया । दोनों धर्मों के बीच फूट डालकर वे अपने को सुरक्षित महसूस करते थे । इसका परिणाम है विभाजन, हत्याकांड और बेगुनाहों की हत्या । भारत को स्वाधीनता मिली, फिर भी राजनीतिक दल एवं सत्ता इस दुहरी नीति को अपनाने लगे । इस समय अंग्रेज़ी चाल एवं वास्तविकता से अवगत करने केलिए कुछ शिक्षित एवं उदार व्यक्ति कार्यरत थे । परन्तु साम्राज्यवादी-सांप्रदायिक राजनीति के आगे वे हार गए, फलस्वरूप विभाजन साकार हुआ । यह कार्य स्वातंत्र्योत्तर भारत में भी चलता है । "दूसरी ओर सुविधाप्राप्त वर्ग इस परिवर्तन को रोकने या कमजोर बनाने केलिए या तो विद्रोही संगठनों को तोडने की

---

1. इतिहास, विचारधारा और साहित्य - पृ: 112 - डा. राजेश्वर सक्सेना ।
2. समीक्षा - जुलाई-सितंबर, 1989 - सं. गोपाल ।

कोशिश करता है या धर्म, ईश्वर, भाग्य आदि सूत्रों के आधार पर जनमानस में उपजे हुए क्रान्ति के भावों को दिशान्तरित या निरस्त्र करना चाहता है ।"[1] जनता धर्म के अफीम से पीडित थी और उस अफीम को ज़्यादा शक्ति सम्पन्न बनाने में शोषक वर्ग सदा प्रयत्न करते रहे । "शोषकवर्ग इस स्थिति को पूर्णतया समझते है तथा आत्मिक परतंत्रता को बढावा देने केलिए धर्म का खूब प्रचार-प्रसार करता है, उसकी सामाजिक चेतना को कुंठित कर देता है । इस तरह शोषण की परिस्थितियों को बनाए रखने में धर्म महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है ।"[2] ऐसे ऐतिहासिक कार्यों को आज भी इस शोषण कार्य केलिए प्रयुक्त करता है । अत्याचारी मुसलमान शासकों की प्रवृत्ति और उसके बाद की साम्राज्यवादी विदेशी सत्ता की भेद-नीति इसमें मुख्य है । एक ओर अंग्रेज़ मुसलमानों को हर क्षेत्र में आरक्षण की सुविधा दी और दूसरी ओर उन्हें मौन सहानुभूति एवं सहायता भी । चुनाव लडने में ही नहीं नौकरी-पेशा, शिक्षा-क्षेत्र आदि में भी आरक्षण मौजूद था । "नौकरियों में मुसलमान युवकों को प्राथमिकता दी जाने लगी । तभी मैं ने उस खिंचे-खिंचे से माहौल को महसूस किया था । फौजी अफ्सर, सिविल सर्विस, पुलिस सर्विस, प्रान्तीय सर्विस आदि केलिए प्रतियोगितायें हुआ करती थीं । लेकिन कम्यूनल एवार्ड के कारण जहाँ मुसलमान लडके मूँछों को ताव दिए घूमते थे, वहाँ हिन्दू लडके दबे-सहमे से महसूस करते थे, और प्रतियोगिताओं में बैठने के बाद सिफारिशें लडाने केलिए एडी-चोटी का जोर लगाते थे ।"[3] इसके अलावा दलाली कामों के ज़रिए भी दंगे भडकाने और धार्मिक दरार को चौडा करने में वे प्रयत्न करते रहे । "उन दिनों भी दंगा करवाना हाकिमों केलिए कोई मुश्किल बात नहीं हुआ करती थी । पुलिस के छोटे अफसरों द्वारा दंगे करना दिए गए थे । मेरे एक संबन्धी जो पुलिस के उच्च अधिकारी रह चुके थे, बताया करते थे कि अंग्रेज़ डिप्टी कमीशनर का छोटा-सा इशारा काफी हुआ करता था और दंगा भडक उठता था ।"[4] आजकल भी सत्ता व राजनीतिक इस भेदनीति का फायदा उठा रहा है ।

---

1. समकालीन लेखन एक वैचारिकी - पृ: 24 - डा. चन्द्रभान रावत, डा. रामकुमार खण्डेलवाल ।
2. आलोचना - अप्रैल-जून, 1989 - डॉ॰ नामवर सिंह ।
3. अपनी बात - पृ: 166 - भीष्म साहनी ।
4. वही ।

ऐसे दुहरे शोषण से जनता को मुक्त करने केलिए शिक्षा एवं आर्थिक समानता मुख्य दो बातें हैं । शिक्षा एवं आर्थिक उन्नति के ज़रिए एक बडी संख्या को इस दोहरे शोषण के पंजे से मुक्त कर सकते हैं । क्योंकि अज्ञान, पूंजीवादी नैतिकता, नियतिवाद, परम्परागत आदर्श इत्यादि के दलाल्त के कारण लोग शोषण का शिकार बन जाते हैं । उसी तरह आर्थिक विपन्नता के कारण लोग हर कार्य करने केलिए उद्यत होते हैं । "सभी दंगों का इलाज यदि कोई हो सकता है तो वह भारत की आर्थिक दशा में सुधार से ही हो सकता है, क्योंकि भारत के आम लोगों की आर्थिक दशा इतनी खराब है कि एक व्यक्ति दूसरे को चवन्नी देकर किसी और को अपमानित करवा सकता है ।"[1] इतना होने पर भी वर्षों से प्राप्त जड संस्कार जिसने मनुष्य हृदय को काला एवं रुष्ट बना दिया है, उससे जनता को मुक्त नहीं कर सकते । इसकेलिए और भी अनेक मार्ग खोजना पडता है । "जन्म-जन्मान्तर संचित कुसंस्कारों को विनष्ट करने केलिए कोई एक उपाय पार्याप्त नहीं होगा ।"[2] इसकेलिए संयुक्त प्रयास, कडी अनुशासन, वैज्ञानिक सोच, इतिहास बोध और विज्ञान की प्रगति आवश्यक है । मात्र शैक्षिक एवं आर्थिक कारण है तो आयर्लैंड, पालस्तीन - इसराईल की बात नहीं उठनी चाहिए । आयर्लैंड में कैथोलिकों और प्रोटस्टन्टो के बीच वर्षों से खूनी संघर्ष चल रहा है ।[3] इतना ही नहीं आर्थिक एवं शैक्षिक स्तर पर ऊपर खडे शहरों में ही सांप्रदायिक दंगे सबसे अधिक चलते हैं न कि अविकसित ग्रामांचलों में । भारत में नियतिवाद की जडें काफी पुरानी हैं, जो धर्म का एक मुख्य तन्तु हुआ करता है, उसे उखाडना चाहिए । नैतिकता, नियतिवाद इत्यादि बातें बुद्धि के परे हैं, ऐसा लगता है । वे हृदय की बातें हैं, अतः जनता से उनका विनाश करना आसान कार्य भी नहीं है । वास्तव में इसके पीछे छिपे

---

1. संचेतना - मई, 1987 - सं. महीप सिंह ।
2. साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति - पृ: 57 - आचार्य नरेन्द्र देव ।
3. "भारतीय समाज से दूर जाकर देखे तो आयर्लैंड का उदाहरण लें, जहाँ के कैथोलिकों और प्रोटेस्टन्टों के बीच लंबे समय से खूनी संघर्ष चल रहा है । पृ:2 - गवाह {सांप्रदायिकता विरोध - अंक} जनवरी-सितंबर, 1981 - सं. भगवानदास वर्मा ।

आर्थिक कारणों को लोग अनदेखा करते हैं । इसप्रकार के हृदय की बातों के बल पर कुटिल राजनीतिक एवं धार्मिक नेता अपनी मनमानी करते हैं और वे अपनी बुद्धि के बल पर ही हृदय की बातों को नियंत्रण में रखते हैं मगर जनता को हृदय की बात पर अटल रहने को मजबूर भी करते हैं ।

साम्राज्यवादी - सांप्रदायिक राजनीति का खरा अनुभव

"तमस" भारत विभाजन में विजयी सांप्रदायिक राजनीति और उसकी नियंता साम्राज्यवादी शक्ति की कथा है । साम्राज्यवादी सत्ता धर्म को सांप्रदायिक रंग देकर निरीह धार्मिक जनों का शोषण करती है । "तमस" सांप्रदायिक दंगों की विभीषिका और समाज के उन निहित स्वार्थी तत्वों के साथ-साथ उस मानसिकता को भी हमारे सामने लाता है जो इस अमानवीयता केलिए ज़िम्मेदार है ।"[1] स्वतंत्रता आन्दोलन साम्राज्यवादी शक्ति को खत्म करने केलिए अपनी उच्चस्थिति में पहूँच रहा था । "स्वतंत्रता आन्दोलन जो यहाँ तक ज्वार की तरह उठ रहा था कि कांग्रेस नेताओं के भी काबू से बाहर होता जा रहा था, उसे तोडने का अंग्रेज़ों के पास यही एक हथियार रह गया था और सचमुच माहौल में सांप्रदायिकता का जहर घुलने लगा था ।"[2] इस काम के कार्यान्वयन केलिए अंग्रेज़ दलालों की सहायता लेते थे । साम्राज्यवादी व्यवस्था में दलालों की आवश्यकता है । 'तमस' में मुराद अली दलाल का काम करता है और गरीब नत्थू के हाथ में पाँच रुपए देकर सांप्रदायिक आतंक की आग लगा देता है । मुरादअली दलाली काम का निरीक्षण भी करता है । सांप्रदायिक दंगे को गति देने केलिए पुलिस भी काम करती है जिसके प्रति बख्शीजी अपना विरोध रिचर्ड के आगे प्रकट भी करता है ।[3] "साप्रदायिक विष विदेशी शासकों की कूटनीति का परिणाम का जिसके जाल में भारत के राजनीतिज्ञ उलझ गए थे और अपनी अपनी हठधर्मिता के कारण उन्होंने इस भीषण घटना का आवाहन किया था ... ।"[4]

---

1. प्रेमचन्द और समसामयिक हिन्दी कथा-साहित्य - पृ:47 - डा. कुंवरपाल सिंह ।
2. अपनी बात - पृ: 167 - भीष्म साहनी ।
3. तमस - पृ: 73 - वही ।
4. कवि-दृष्टि -- पृ: 198 - भारतभूषण अग्रवाल ।

दंगे शुरू होते हैं आगजनी, लूट-पाट, मार-काट सब चलते हैं । ऐसे वक्त शासक सोता है । और लेटते वक्त बीवी के इसकी चर्चा कराकर लेखक शासक की क्रूरता, निःसंगता एवं भेदनीति को स्पष्ट करते हैं । घडियाल की आवाज़ें, अल्लाह ओ-अक्बर के नारे के बारे में वह कहता है कि "इसका मतलब है, गॉड इज़ ग्रेट । ... यह धार्मिक पर्व नहीं है लीज़ा, दरअसल शहर में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच फिसाद हो गया है । . . . हम इनके धार्मिक झगडों में दखल नहीं देते ।"[1] लेकिन लीज़ा सत्य जानती है । वह कहती है कि "देश के नाम पर ये लोग तुम्हारे साथ लडते हैं और धर्म के नाम पर तुम इन्हें आपस में लडाते हो । . . . तुम इन्हें लडने से रोक भी सकते हो । आखिर है तो ये एक ही जाति के लोग ।"[2] इसका उत्तर रिचर्ड शासक के लहजे में देता है कि "हुकूमत करनेवाले यह नहीं देखते कि प्रजा में कौन-सी समानता पायी जाती है, उनकी दिलचस्पी तो यह देखने में होती है कि वे किन किन बातों में एक दूसरे से अलग हैं ।"[3] और आगे और भी स्पष्ट करता है कि "अगर प्रजा आपस में लडे तो शासक को किस बात का खतरा है ।"[4] फिर रिचर्ड लीज़ा से पूछता है कि "क्या यह अच्छी बात होगी कि ये लोग मिलकर मेरे खिलाफ लडे, मेरा खून करे'."[5] इस प्रकार रिचर्ड और लीज़ा के संवादों से साम्राज्यवादी सत्ता की भेदनीति, दुहरेपन और शोषण-तंत्र व्यक्त होते हैं । शासक यह भली भाँति जानता है कि यदि जनता एक साथ मिले तो शासक केलिए खतरा है और उन्हें सत्य की जानकारी मिले तो मौजूदा व्यवस्था केलिए खतरा है । इसलिए जनता के बीच फूट डालकर, आपस में लडाकर रखना शोषण तंत्र का लक्ष्य है । इसकेलिए वह कभी सामंतवाद का, कभी धार्मिक राजनीति का और कभी दलाली का प्रोत्साहन करता है । अतः दलाल, धार्मिक नेता, सामन्त इत्यादि उनका हितैषी बन जाते हैं । जनता आपस में लडकर थक जाती है और उनकी सम्पत्ति,

---

1. तमस - पृ: 110-111 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 44.
3. वही - पृ: 45.
4. वही - पृ: 47.
5. वही - पृ: 111.

शक्ति, इज्ज़त सब कुछ मिट जाती है तब सत्ता शान्ति दूत लेकर जनता के बीच उतरती है और अपने को साफ दिखाने की कोशिश करती है । इतने अर्से में जनता के बीच फासला बढ़ गया होगा । और सत्ता सदा इसका निरीक्षण करती रहती है कि जनता के बीच एकता का लक्षण है या नहीं । यदि है तो वह फिर भी यही काम करती है । साम्राज्यवादी-पूँजीवादी व्यवस्था में यह सिलसिला चलता रहता और शोषण कार्य निष्कंटक एवं प्रश्नहीन बना ही रहता है ।

आम आदमी एक ओर सत्ता और उसकी चाल के आतंक से पीड़ित है तो दूसरी ओर धार्मिक अन्धविश्वास, परम्परागत विश्वासों से भी दंगे से पीड़ित नत्थू उसके आतंक से संत्रस्त है । उसे सुअर मारने की वजह नींद नहीं, एक तरह का भ्रम में है वह । नत्थू रास्ते में पड़े जादू-टोने पर पैर पड़ने से डरता है और फिर गोबर में पैर पड़ते ही आश्वस्त होता है । वह साधु, सन्यासी, मुल्ला सबसे डरता है । "नत्थू सहम-सा गया, वह डर गया कि यह फकीर कहीं उस पर कोई जादू टोना न कर दे या उसे बद-दुआ न दे दे ।"[1] उसकी पत्नी भी ऐसे अन्धविश्वास एवं रूढ़ियों का शिकार है । वह झाडू से कमरा बुहारती ही रहती है । "जैसे झाडू से वह किसी छाया को कोठरी में से बुहारकर बाहर कर देना चाहती हो । देर तक वह कोठरी के बुहारती रही, फिर उसने कोठरी के फर्श को धोया, खूब पानी डाल-डालकर फर्श धोती रही । पर अन्त में जब थककर खाट पर बैठी तो उसे लगा जैसे बन्द दरवाजे की दरारों में से बड़ी छाया फिर कोठरी में लौट आयी है ... ।"[2] इसके अलावा गरीब नत्थू दलालों के शोषण का शिकार बन जाता है । वह दलालों, ठेकेदारों की बात को टाल नहीं सकता । क्योंकि इनकी वजह से उसे काम मिलता है और परिवार पालता है । इसलिए सही या गलत देखे बिना इनका अनुसरण करने को वह बाध्य है ।

---

1. तमस - पृ: 102 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 157.

धार्मिक शोषण के मूल में आजकल सांप्रदायिक राजनीति ही मुख्य है । स्वार्थी राजनीतिक एवं धार्मिक नेता दोनों को आपस में मिलाना चाहते हैं । धर्म को राजनीति में लाकर धर्म के नाम पर चुनाव लडना और अपने स्वार्थ की पूर्ति करना उनका उद्देश्य है । हिन्दुमहासभा, मुस्लिम लीग, गुरुद्वारा प्रबन्ध समिति के नेता यही कार्य करते हैं । वे जनता की बुद्धि को नहीं हृदय को वश में लाते हैं । उन्हें पूर्णतः धर्म पर विश्वास नहीं, मात्र महत्वाकांक्षा पर विश्वास है । "... जिन्ना राष्ट्रीय आन्दोलन से चिढकर विशुद्ध सांप्रदायिक बन गए । जिन्ना नामाज़ नहीं पढते थे, जिन्ना को इस्लाम पर अन्धी आस्था नहीं थी, लेकिन यह जिन्ना अहम और अपनी महत्वाकांक्षा से प्रेरित होकर देश का बंटवारा कराने पर तुल गये थे ।"[1] इसप्रकार धार्मिक-राजनीतिक नेता अपने स्वार्थ की पूर्ति केलिए निरीह धार्मिक जनता की भावना का शोषण करते हैं ।

विभाजन में मुस्लिम सांप्रदायिक राजनीति का मुख्य हाथ है । वह अंग्रेज़ी सत्ता का पिट्ठू[2] बनकर मुस्लिम जनता में हिन्दू विरोधी भावनायें फैला देता है । मुस्लिम लीग की जातिवादी चाल में पडकर मुस्लिम जनता हिन्दू-सिख विरोधी कामों में जुडने लगी । उनके आदर्श एक ओर जिन्ना है तो दूसरी ओर पीर साहिब । मुस्लमान धर्म पर अन्धी आस्था रखते हैं । धार्मिक नेताओं में वे अद्भुत शक्ति देखते हैं । धार्मिक नेता देखने में ही आसाधारण लगता है । "एक कद्दावर, दाढीवाला व्यक्ति नमूदार हुआ । लंबा काला कुर्ता, गले में बडे बडे मणकोंवाले तीन-चार हार, पगडी के पीछे गर्दन पर गिरते हुए लंबे बाल, हाथ में तसबीह । चौडे गोरे चेहरे से नूर बरस रहा था । दायें-बायें और पीछे से मुरीद आ रहे थे ।"[3] उसे लोग खुदा का प्रतिनिधि मानते हैं । "पीरसाहिब काफिरों को हाथ नहीं लगाते, काफिरों से नफरत करते हैं ।"[4]

---

1. सीधी सच्ची बातें - पृ: 483 - भगवतीचरण वर्मा ।
2. वे बडे-बडे मुसलमान ज़मींदार - जागीरदार, जो सदा अंग्रेज़ी के पिट्ठू रहे थे, मुस्लिम लीग में - शामिल हो गए थे, जैसे फिरोज़ खान नून आदि ।" - पृ: 168 - अपनी बात - भीष्म साहनी ।
3. तमस - पृ: 99 - भीष्म साहनी ।
4. वही - पृ: 100.

ऐसे धार्मिक नेता एवं धर्म खतरे में हैं - प्रचलन में मजहबी परस्त लोग आकर्षित हो जाते हैं। मौलादाद, हयातबख्श आदि इसका प्रचलन करनेवाले नेता हैं, जो सांप्रदायिक सद्भाव केलिए कार्यरत एकाध मुसलमानों को हिन्दूओं का कुत्ता कहते हैं। वे कांग्रेस को हिन्दुओं की जमात मानते हैं। ये लोग रिचर्ड के आगे भी दंगे का कारण हिन्दूओं की शरारत मानते हैं। यही हयात बख्श वहाँ से लौटते समय हिन्दू महासभा का लाला लक्ष्मीनारायण का साथी बन जाता है।[1] इन नेताओं का शत्रु हिन्दू नहीं, कांग्रेस है, विशेषकर सांप्रदायिक राजनीति के विरुद्ध काम करनेवाले मुसलमान। "मुसलमान का दुश्मन हिन्दू नहीं है, मुसलमान का दुश्मन वह मुसलमान है जो दुम हिलाता हिन्दुओं के पीछे-पीछे जाता है, उनके टुकडों पर पलता है।"[2] चाहे वह कम्युनिस्ट मीरदाद हो या कांग्रेसी हकीम, अज़ीज़ हो या रईस शाहनबाज़। इस तरह उदार मुसलमान अपने कौम एवं परिवार से अलग होने लगे। "मुस्लिम लीग का असर बढ़ रहा था, और कांग्रेस के अन्दर काम करनेवाले मुसलमान, मुस्लिम लीग के प्रचार के कारण मुस्लिम जनता से अलग पडने लगे थे। कुछेक निष्ठा के पक्के मुस्लिम कार्यकर्ता निन्दा और भर्त्सना और गाली गलौज के बावजूद अंत तक कांग्रेस के साथ सक्रिय रूप से जुडे रहे। पर मुस्लिम लीग के प्रचार का पहला निशान: उन्हें ही बनाया गया था। मुझे याद है मैं और अब्दुल गनी और भाई अब्दुल अज़ीज़ कांग्रेस के दफ्तर की ओर जा रहे थे जब रास्ते में मुझे एक मेरा पडोसी मुसलमान मिला। बडे स्नेह से मिला, पर दुआ सलाम के बाद मेरे उन दो साथियों की ओर इशारा करके मुझे बोला, "इन कुत्तों को अपने साथ कहाँ लिए जा रहे हो'"[3] इसप्रकार सांप्रदायिक राजनीतिक नेता जनता को मुसलमान के शत्रु से अवगत कराते हैं, न कि मानवता के शत्रु से। इतना ही नहीं, वे अपने प्रचार प्रसार के बाद अपने विरोधीदल के नेताओं का हितैषी बन जाते हैं। शोषण का यह दुहरा मुख सांप्रदायिक राजनीति का खतरा है।

---

1. "...पर मुहल्ले में सभी पिताजी को मानते थे, उनकी इज़्ज़त करते थे। यहाँ तक कि जब सन् 1947 के दंगे हुए तो हमारे पडोस के एक कट्टरपंथी मुसलमान ने पिताजी को आश्वासन दिया था कि हम निश्चिंत होकर अपने घर में बने रहें, हमारी ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देखेगा, और ऐसा हुआ भी।"-पृ:165- अपनी बात।
2. तमस - पृ: 82 - भीष्म साहनी।
3. अपनी बात - पृ: 167 - वही।

दूसरी ओर गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति के नेता भी यही कार्य करते हैं। वे सिख समुदाय को अपने हाथ में स्थिर रखने केलिए कुटिल मार्ग से काम करते हैं। "तमस" में तेजासिंह का वचन सिख समुदाय केलिए सबकुछ है। वह उनका धार्मिक गुरु है, राजनीतिक नेता है और रक्षक है। मगर तेजासिंह जनता में मध्यकालीन बोध कायम रखना चाहता है और उससे अपना अधिकार को अडिग रखना भी। इसके विरुद्ध किसी तरह के प्रश्न या आवाजें वह पसन्द नहीं करता है। सिख समुदाय धार्मिक उन्माद में एकत्रित हुआ है, लगता है उनके बीच मध्यकालीन रंग पूर्णतः घुल गया है। वे अपने ऐतिहासिक वैरी तुर्कों के साथ लोहा लेने को तैयार हो रहे हैं।[1] उनके बीच ऐतिहासिक वैर की भावना जगायी गयी है और उनके बीच सत्य के बारे में कोई चिन्ता तक नहीं है। "गुरुद्वारे का माहौल भरे-बादलों जैसा गंभीर हो रहा था। कीर्तन में सभी के सिर झूम रहे थे, सभी की चेतना में वे सभी ातें थीं, जो दूर अतीत में हुआ करती थीं, बलिदान की भावना, मुसलमान शत्रु, ढाल, तलवार, गु का प्रसाद, अखण्ड एकता - जो नहीं था तो उनकी चेतना में अंग्रेज़ नहीं था। कस्बे से पच्चास के मील की दूरी पर अंग्रेज़ों की देशभर में सबसे बडी छावनी भी उस छावनी की ओर उनका ध्यान नहीं जा रहा था।"[2] देश में अंग्रेज़ों का अस्तित्व या अधिकार उनकी नज़र में नहीं पडता है मात्र "अस्तित्व था तो तुर्क का या खालस का, उसके बढते आ रहे लश्करों का।"[3] तेजासिंह का आगमन ही जनता में बलिदान और समर्पण की भावना जगा देता है। वह बहुत ही हृदय विदारक ढंग से भावुक होकर गुरुद्वारे में प्रवेश करता है और अपने अनुयायियों के आगे आँखों से आँसू गिर रही थी। काम करते वक्त हाथ की उँगलियाँ काम्पती रहती हैं। इससे वशीभूत सिख समुदाय असंदिग्द्ध होकर अपने मुखिया का अनुसरण करता है। तेजासिंह के अज्ञानुसार मुस्लिमों के विरुद्ध लडाई शुरु होती है और सिख कौम तितर-बितर हो जाता है। मगर तेजासिंह नहीं मरता है और उसकी पूँजी भी नहीं मिट गयी। मात्र साधारण जनता के आभूषणों तक लडाई केलिए खर्च करता था।

---

1. तमस - पृ: 207 - भीष्म साहनी।
2. वही - पृ: 172-73.
3. वही - पृ: 173.

महिलायें जसबीर कौर के नेतृत्व में अपने बच्चों सहित एक कुए में डूबकर आत्माहूति करती हैं । इसके बारे भीष्मजी ने बाद में लिखा है कि आँकडे बाबू के नाते "मैंने गाँव का दौरा भी किया, थोट्टा खालसा नाम के गाँव में भी गया, जहाँ एक कुए में बहुत-सी सिख-स्त्रियाँ, अपने बच्चों को उठाए, कुए में डूब मरी थीं ।"[1] कुरबानी और हत्या के कारण सिख कौम दुर्बल हो गया तभी समझौते की बात उमडने लगी । "अब सभी निर्णय गलत जान पडने लगे थे, गुरुद्वारे में इकट्ठा होना भूल थी, शेख गुलाम रसूल और उसके साथियों से बातचीत तोड देना भूल थी, इन भूलों का कोई अन्त नहीं था ।"[2] अन्त में रुपए देकर समझौता करने का निर्णय लेता है लेकिन कौम के पास धन नहीं । धन था मात्र तेजासिंह के पास । उसकी और अन्यों के इशारे को वह अनसुना करके छोड देता है । और वह मार्ग भी असफल हो जाता है ।

मुस्लिम कौम के बीच मीरदाद, हलीम, अज़ीज की भाँति सिख कौम में सोहनसिंह शोषण, अत्याचार और दंगे के यथार्थ की ओर अपने कौम का ध्यान आकर्षित करना चाहता है । वह तेजासिंह पर प्रश्नचिह्न उठाता है और उसका विरोध करता है । तेजासिंह कह रहा था कि "हमने कोशिश की है कि जिले के हाकिम ए. आला डिप्टी कमिश्नर साहब बहादुर को इत्तलाकर दी जाए कि मुसलमानों ने यहाँ कौन-सी हरकतें करना शुरु कर दी है । रिचर्ड साहब को मैं जानता हूँ । वह बडे ही मुनासिफ मिज़ाज और बडी सूझ-बूझवाले सज्जन है । . . . हमेने कोशिश की है कि शेख गुलाम रसूल और गाँव के और मुसलमानों के साथ बात करें पर उनका कोई एतबार नहीं है . . . ।"[3] सोहन सिंह इसका एतराज करता है कि "आपने कोई कोशिश नहीं की है । यह सरासर झूठ है । . . . हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हम लोगों को मुसलमानों के खिलाफ भडकाया जा रहा है, और मुसलमानों को हमारे खिलाफ भडकाया जा रहा है । हम झूठी अफवाहें सुन-सुनकर एक दूसरे के खिलाफ तैश में आ रहे हैं ।"[4] गुरुद्वारे के अन्दर ही वह सिख कौम की शक्ति, विरोधी कैम्प की शक्ति और इन दोनों को लडानेवाली अंग्रेज़ी शरारत के

---

1. अपनी बात - पृ: 171 - भीष्म साहनी ।
2. तमस - पृ: 210 - वही ।
3. वही - पृ: 176.
4. वही ।

बारे में बयान देता है । वह साम्राज्यवादी धार्मिक राजनीति के गठबन्धन के विरोध में आवाज़ उठाता है । इतना होने पर वह दब जाता है और संघर्ष रोकने के प्रयास में मारा जाता है ।[1]

इन दोनों शक्तियों के अलावा हिन्दु महासभा के नेता भी साम्राज्यवादी सांप्रदायिक राजनीति का पोषण करते हैं । ये लोग अपनी शक्ति की वृद्धि केलिए धर्म और राजनीति को मिलाते हैं । ऐसा करते वक्त भी उनका पैर मध्यकाल में ही होता है । युग पीढ़ि को उसकेलिए शिक्षा-दीक्षा देकर तैयार करते हैं । बच्चों के शिवाजी, राणा प्रताप आदि की कथायें सुनाकर उनमें वीरता एवं हिन्दु-प्रेम जगाते हैं । युद्ध केलिए उबलते-तेल, चिनगारी, डंडे एवं तलवार को इकट्ठा करते हैं । रणवीर, शंभू, इन्द्र, बोधराज और धर्मदेव ऐसे युवक हैं जिनके कान में अनैतिहासिक-अप्रायोगिक एवं अवैज्ञानिक कार्य भरे हैं और उन नेताओं के पिट्ठु बनाकर रखे हैं । वानप्रस्थिजी, देवव्रत और लाला लक्ष्मीनारायण उन हिन्दू नेताओं में मुख्य हैं जिनकी वृत्ति पूर्णतः मध्यकालीन है । हिन्दू-महासभा के कार्य-व्यापारों के बारे में अमृत राय का यह कथन सही लगता है । "यह ठीक है कि और बातों की तरह ही "इस बात में भी जनसंघ की भावधारा बिलकुल पुरानी और सामन्तयुगीन है । हिन्दू-राज्य की कल्पना एक व्यर्थ कल्पना है, अनैतिहासिक कल्पना है और हिन्दू विचार एवं दर्शन की विरोधी एक अनैतिक कल्पना है ।"[2] लक्ष्मीनारायण अपने पुत्र रणवीर को मुसलमानों के विरुद्ध लडने केलिए छोडकर वह उसी मुसलमान की सहायता लेता है । हयात बख्श और शाहनबाज़ से वह सहायता माँगता है और शाहनबाज़ उसकी रक्षा भी करता है ।

कम्यूनिस्ट सोहन सिंह और मीरदाद की भाँति कम्यूनिस्ट देवदत्त और कांग्रेस के जरनैल तथा बख्शीजी भी काम करते हैं । देवदत्त अपने माँ-बाप के अनुरोध एवं विपक्षियों की धामकियों पर ध्यान न देकर दंगे रोकने का काम करता है । वही सोहन सिंह और मीरदाद को अपने अपने कौम को सच्चाई से अवगत कराने भेजता है । मगर

---

1. तमस - पृ: 207 - भीष्म साहनी ।
2. आधुनिक भावबोध की संज्ञा - पृ: 173 - अमृतराय ।

दोनों दब जाते हैं और मंडी के मज़दूरों के बीच सांप्रदायिक दंगे फैलने से वह दुखी हो जाता है। फिर भी वह पीछे हटता नहीं, आंकडे बाबू से मरनेवालों में गरीब की संख्या पूछता है। "देवदत्त रजिस्टर हाथ में लेकर उसके पन्ने पलटता रहा, फिर उसे लौटाते हुए बोला, "पन्नों पर एक खाना और जोड दो। गरीब कितने मरे और खाते-पीते लोग कितने मरे। ... यह भी एक पहलू है आंकडे इकट्ठे करने का। दोनों ओर के गरीब कितने मरे। अमीर कितने मरे। इससे भी तुम्हें कई बातों का पता चलेगा।"[1] लेकिन यहाँ उसकी आवाज़ों की परवाह कोई नहीं करता है, कोई प्रतिक्रिया नहीं होती है। इसके समान जरनैल सिंह और बख्शीजी अंग्रेज़ी शरारत एवं धार्मिक राजनीति के आगे टिक नहीं सकते। जरनैलसिंह प्रभात फेरी करता था। वह शान्ति दूत, अंहिसा मंत्र और राष्ट्रीयता को लेकर दंगे खत्म करने का प्रयास कर रहा था और उसी दंगे में मारा जाता है। "मुझे याद है, एक सामान्य कार्यकर्त्ता, कांग्रेस के किसी जलसे का ऐलान सदर बाज़ार में करने केलिए जा पहुँचा था। तांगे पर भोंपू और ढोल रखे और तिरंगा लहराता हुआ, वह सदर के इलाके में जगह-जगह जलसे की मनादी करता और आज़ादी का गीत गाता हुआ आगे बढता जा रहा था। पर बाज़ार के एक सिरे पर पहुँचा ही था कि उसे पकड लिया और थाने में ले जाकर उसे कोडे मार-मारकर मार डाला गया। ... और यह जानी-मानी बात थी कि अगर कोई कांग्रेसी कार्यकर्ता देहात में प्रचार करने जाता तो उसे वहीं खत्म कर दिया जाता था।"[2] बख्शीजी एक ओर विदेशी सत्ता एवं सांप्रदायिकता के विरुद्ध जनता को अवगत कराने की कोशिश करता है और दूसरी ओर कांग्रेस के कुछ धार्मिकवादियों से संघर्ष करता है। "कांग्रेस में हमेशा से कुछ लोग ऐसे रहे हैं जो बताते राष्ट्रवादी है पर जिनका दृष्टिकोण घोर सांप्रदायिक होता है।"[3] बख्शीजी दोनों से थके-हारे मौन होकर अपने आप सच्चाई बकता रहता है। अन्धविश्वास, अज्ञता, थोथी नैतिकता और आदर्श में पले जनता सांप्रदायिक राजनीति के जाल में पडने की वजह उदार एवं

---

1. तमस - पृ: 235 - भीष्म साहनी।
2. अपनीबात - पृ: 166 - वही।
3. आज़ादी की कहानी - पृ: 219 - मौलाना आज़ाद।

प्रगतिशील व्यक्ति थके-हारे अपने आप में मौन हो जाने के बाध्य हो जाता है । "यह ठीक है कि इन में भी दोनों ही ओर कुछ भले लोग आखिर तक भले ही बने रहते हैं, जो आपसी सद्भाव, और मानवीय विवेक की खातिर अपनी जान भी खतरे में डालकर अपना फर्ज पूरा करने की कोशिश करते हैं । लेकिन हमेशा ही अंधेरे का सैलाव इतना भयंकर और विनाशकारी होता है कि यहाँ-वहाँ बगूलों की हैसियत से उभरनेवाले यह प्रयत्न उसी सैलाब का हिस्सा बन जाते हैं और इसका नतीजा हमेशा ही एक निकलता है - आम अमूमी की हत्य और बर्बादी, फिर भले ही वह हिन्दू हो मुसलमान ।"[1]

सांप्रदायिक राजनीति एवं विघटनवाद के खोखलेपन, अर्थहीनता, स्वार्थ-लाभ, अमानवीयता, कुटिल राजनीति इत्यादि बातें उपन्यास के विभिन्न पात्रों के संवादों एवं कर्मों, घटनाओं एवं हादसों के माध्यम से व्यक्त होती हैं । "दंगों से जुडे अनेक पात्रों सन्दर्भों को बिना कोई आवरण चढाए प्रस्तुत करते हुए उपन्यासकार तत्संबन्धित राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक परिस्थितियों का भी साभिप्राय आकलन करता चलता है ।"[2] लीज़ा और रिचर्ड के संवाद के ज़रिए साम्राज्यवादी सत्ता का रहस्य, धार्मिक पाखण्ड और निराधार अफवाहें व्यक्त होते हैं । भारत के धार्मिक भेदभाव को वे वेशभूषा, नाम एवं आराधना के ढंग के ज़रिए पहचान लेते हैं । मुसलमानों को "उसके नाम से, फिर उसकी छोटी-सी दाढी से, उसके पहनावे से भी, फिर वह नमाज़ पढ़ता है, यहाँ तक कि उसके खान-पान के तरीके भी अलग हैं ।"[3] सिख के नाम के आगे सिंह जोडा जाता है, हिन्दू के नाम के आगे राम, चन्द जैसे शब्द लगाये जाते हैं । इक़बाल सिंह है तो सिख, इक़बाल चन्द है तो हिन्दू और इक़बाल अहमद है तो मुसलमान । लीज़ा कभी शासन तंत्र की अमानवीयता एवं शोषण की आलोचना करती है । वह रिचर्ड की आलोचना भी करती है कि "यदि 103 गाँव जल जायें तो भी नहीं' ... मगर तुम तो इन लोगों के बारे में किताब लिखते जा रहे थे रिचर्ड । इनकी नस्ल के बारे में । वही न' ।"[4]

---

1. आलोचना - अप्रैल-जून, 1973 - पृ: 52 - सं. नामवर सिंह ।
2. हिन्दी उपन्यास : अन्तरंग पहचान - पृ: 174 - डा. प्रेमकुमार ।
3. तमस - पृ: 38 - भीष्म साहनी ।
4. वही - पृ: 228.

इसकेलिए भी शासक रिचर्ड के पास साफ सुथरा उत्तर है । "इसमें कोई विशेष बात नहीं है, लीज़ा, सिविल सर्विस हमें तटस्थ बना देती है । हम यदि हर घटना के प्रति भावुक होने लगे तो प्रशासन एक दिन भी नहीं चल पायेगा । ... यह मेरा देश नहीं है । न ही ये मेरे देश के लोग हैं । ... किताब लिखना और बात है जीज़ा, उसका प्रशासन से क्या मतलब ? ।"[1] मुराद अली दलाली वृत्ति का, दुहरेपन का और मौकापरस्ती काम का प्रतिनिधि चरित्र है । सुअर मरवाकर मसजिद की सीढियों पर फिंकवाकर, मुसलमानों के रक्षक मुस्लिम लीग के जुलूस के पीछे चलकर अन्त में अमन समिति की गाडी में मैक्रोफोन से "हिन्दू मुस्लिम एक हो" का नारा बुलाता है । हयात बख्श, शेख नूरइलाही, मौलादाद, मुहमूद साहिब सब कांग्रेस के हिन्दुओं और हिन्दुमहासभा के नेताओं की अपेक्षा मुसलमानों का विरोध करते हैं जो कांग्रेस में काम करते हैं । कांग्रेस नेता बख्शीजी का आलिंगन करनेवाला मुहमूद साहिब हकीम, अज़ीज़ और मौलाना आज़ाद के भी गाली देता है । हयात बख्श भी अज़ीज और हमीम का विरोध करता है मगर हिन्दु महासभा का नेता लाला लक्ष्मीनारायण का हितैषी निकलता है । वह "बडे आदर भाव से दिल पर हाथ रखकर लक्ष्मीनारायण से बोला खातिर जमा रखिए लालाजी, हमारे रहते आपका कोई बाल भी बाँका नहीं करेगा ।"[2] शेख नूरइलाही और लक्ष्मीनारायण आपस में बगलगीर होते हैं, और इलाही लाला से कहता है कि "तेरी गाँठें मैंने गोदाम में से उठवा दी थीं । ... पहले तो मैंने कहा, जलने दो कराड का माल । फिर दिल में आया, नहीं यार, आखिर तो दोस्त है मेरा . . . । . . . पहले तो बेटे को मज़दूर ही नहीं मिले । उस रात मजदूर कहाँ से मिलते ? मैंने उससे कहा, "जैसे भी हो गाँठें उठवा दो नहीं तो लाला मुझे जीने नहीं देगा ।"[3] इनके बीच वैमनस्य से बढकर व्यापारी दृष्टि है, इसी के नाते इनके बीच दोस्ती भी है । बातचीत में "एक प्रकार की अनौपचारिकता थी जो बडी उम्र के स्वार्थो पुरुषों में आ जाती है, अन्दर-ही-अन्दर वैमनस्य भी था, घृणा भी थी, पर दोनों व्यापारी थे, व्यवहारकुशल थे, अपनेलिए एक-दूसरे की ज़रूरत को समझते थे ।"[4]

---

1. तमस - पृ: 228 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 83.
3. वही - पृ: 244.
4. वही ।

इस तरह का गठबन्धन रघुनाथ-शाहनबाज़ - लक्ष्मीनारायण के बीच भी है । इन दोनों की सहायता करनेवाला शाहनबाज़ रघुनाथ के हिन्दू नौकर मिल्की को मारता है । मध्यकालीन संस्कार और धार्मिक हठ के कारण तेजासिंह पहले बातचीत और समझौते को ठुकराता है । कौम के नाश के बाद अपनी पूंजी के विनाश के डर लगते ही वह समझौते केलिए तैयार होता है चाहे रुपए देकर भी । दंगे के बाद अमन समिति के सम्मेलन में आये विरोधी लोग आपस में किसी प्रकार के हिचक के बिना बगलगीर होते हैं, अपने अपने व्यापार, चुनाव लडने की नीति इत्यादि के बारे में बातचीत करते हैं । दूसरी ओर दलाली लोग अपना कार्य में मग्न हुए हैं । इस दृश्य को देखकर दो चपरासी आपस में कहते हैं कि "हम जाहिल लोग लडते हैं, समझदार, खानदानी लोग नहीं लडते । यहाँ सभी आए हैं हिन्दू भी, सिख भी, मुसलमान भी , मगर कैसे प्यार-मुहब्बत से बातें कर रहे हैं ... ।"[1]

"तमस" के अलावा भीष्मजी के अन्य उपन्यास एवं कुछ कहानियों में भी धार्मिक एवं जातिय ढोंग, अत्याचार एवं शोषण की झाँकियाँ मिलती हैं । "झरोखे" में आर्यसमाजी तंग धार्मिक नीति, विश्वास एवं साँचाबद्ध चिन्तन युवा चरित्र के स्थापन में कैसे बाधक बन जाते हैं उसका विश्लेषण करते हैं । वह अन्धविश्वास, थोथी नैतिकता एवं थोथा आदर्श से पीडित है । इसके बीच मनुष्य चरित्र कुंठित एवं आत्मनिर्वासित हो जाता है । प्रस्तुत उपन्यास में ऐसे नैतिक, धार्मिक शोषण से मुक्ति का संघर्ष चित्रित है । माँ सनातन धर्मावलंबी है । अतः उसमें निराशावाद है । वह सदा जीवन की नैमित्तिकता की बातें करती रहती है ।[2] वह आर्यसमाजी आचारानुसार संध्या करती है, सभी धर्मों के धर्मस्थानों में जाकर दुआ माँगती है । वह शान्ति केलिए साधु, संत सबकी बातें सुनती है, मगर उसका मन संध्या करने केलिए भी टिकती नहीं है । इसके विपरीत आर्य समाजी पिता बच्चे को वेद-मंत्र पढाना चाहता है ।[3] आर्यसमाजी वेद-मंत्र हिन्दी और

---

1. तमस - पृ: 247-48 - भीष्म साहनी ।
2. हे अल्लाह के प्यारे, इनसानों की नगरी में जाकर कहो कि यह जीवन दमभर का मेला है । - पृ: 17 - झरोखे - भीष्म साहनी ।
3. झरोखे - पृ: 12 - वही ।

संस्कृत में होने के कारण वह घर में बच्चों को हिन्दी और संस्कृत पढाने का प्रबन्ध करता है । ऐसा करके पिता अपनी परवर्ती पीढ़ि को धर्म की तंग गली में सुरक्षित रखना चाहता है । "सादापन जीवन, सजावट मृत्यु है । . . . मतलब है सिर पर बाल नहीं रखने चाहिए । ... मूँछें नहीं मुडानी चाहिए । आजकल लोग मूँछें मुडा देता हैं, सिर पर लंबे-लंबे बाल रखते हैं । यह मृत्यु है ।"[1] इतना ही नहीं पेशाबवाली जगह को छूना वीर्यपात होना सब पाप है । "चार सौ खून की बूँदों में से एक बूँद वीर्य बनती है और रीढ़ की हड्डी में वीर्य जमा होता रहता है । अगर वीर्य गिरने लगे तो रीढ़ की हड्डी कमजोर पड जाती है । सारा शरीर कमज़ोर पड जाता है ।"[2] बालकों को उपन्यास भी पढने नहीं देता, जो स्कूल में पढ़ने केलिए रखा गया है । "अमृत बिन्दु" नामक ग्रंथ मात्र पढ सकते हैं । उपन्यास का वक्ता "मैं" अपने बडे भाई से उसके वीर्यपात होने की बात कहता है । यह सुनकर "भाई मेरी ओर देखता रह जाता है । इनसान की आँखें इतनी बडी हो सकती है, इसकी मैं ने कल्पना नहीं की थी ।"[3] यह जानकारी मिलते ही पिता डाँटता है, "कोर्स का नावल" उठाकर फेंकता है और "अब वह रोज़ मुझे चार बजे उठा देते हैं और ठंडे पानी से नहाने को कहते हैं ।"[4] ऐसे आचरण एवं शिक्षा-दीक्षा से पीढित "मैं" रात में सोए बिना चलता ही रहता है, आधा खाना खाता है, दूध नहीं पीता है । इस आतंक से वह दुबला-पतला हो गया । इसके फलस्वरूप उसकी आँखों के नीचे काला-सा रंग आ गया है जिसका कारण लोग वीर्यपात मानते हैं । ऐसी फरियादें सुनकर वक्ता बाहर जाने या किसी से मिलने में हिचक है । वह अपनी तुलना मोटे भाई से करके मानसिक रूप में और भी कुंठित हो जाता है । इस प्रकार के धार्मिक संस्कार के बीच व्यक्तित्व कुंठित एवं आत्मनिर्वासित हो जाता है, स्वतंत्र चिन्तन व चरित्र अवरूद्ध हो जाता है ।

---

1. झरोखे - पृ: 32 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 109.
3. वही - पृ: 97.
4. वही - पृ: 98.

वही पिताजी छः बच्चों का बाप है । उसके लिए हर कार्य में छूट है । प्रातः की संध्या में वह ऊँघ जाता है और शाम के वक्त वह रसोईघर में ही संध्या करता है । "पिताजी केलिए संध्या करना केवल शुक्रगुज़ार होना है, भगवान के सामने सिर नवाना है, उसे उन सब चीज़ों केलिए धन्यवाद कहना है जो उसने दी है । बस, और कुछ नहीं ।"[1] वह नौकर तुलसीराम को भी हिन्दी पढाता है, क्योंकि उसे आर्यसमाजी पुरुष बनाना है । वह बच्चों को समझाता है कि इलाके वाले मुसलमान अपरिष्कृत है, झगडालु हैं और वे स्नान करते नहीं समय पर शौचालय नहीं जाते हैं । लेकिन व्यापारी मुसलमानों को वह छूता है, पिलाता है और घर में स्वागत-सत्कार देता है । व्यापारी धनिक मुसलमान पिताजी केलिए संस्कृत एवं अच्छे हैं । वह म्लेच्छ नहीं "और पिताजी हाथ बढाकर उसकी ठुड्डी को छू रहें हैं ।"[2] अन्त में वह अपने पुत्रों को भी व्यापार करने का आदेश देता है, बाहर जाने से बडे भावुक होकर रोकने का प्रयास भी करता है ।

"कडियाँ" में आर्यसमाजी नारंग साहब बेटी प्रमिला को उसी चाल में चलाता है । फलस्वरूप उसके समान प्रमिला भी सामाजिक परिवर्तन में अपना संतुलन खो देती है । "बसन्ती" के मध्यवर्ग भी अन्धविश्वास, संत, सन्यासी और धर्म पर विश्वास रखते हैं । इसलिए वे पंडे, पुजारी और साधु की सेवा करते हैं, उसका अनुसरण करते हैं । मध्यवर्गीय पात्रों में श्यामाबीवी धर्म भीरु होकर एक साधु के वचन का पालन करती है, अपनी तन्दुरुस्ती, मानसिक शान्ति और पारिवारिक उन्नति केलिए । साधु के निर्देशानुसार ही वह नौकरानी बसन्ती को घर में अधिक सुविधायें देती है, उसके साथ आत्मीयता प्रदर्शित करती है और उसकी सेवा तक करती है । बसन्ती पर घर में कडी अनुशासन नहीं रखती, उसे गाली नहीं देती और उसकी छोटी-छोटी शरारतें व खिलवाड भी क्षमा कर देती है । "कभी कभी बसन्ती बहुत ज़्यादा मनमानी करती तो श्यामा खीझ उठती, उसका मन चाहता, उसे बाहर निकाल दे, पर गुरु महाराज के डर से कुछ कर नहीं पाती थी । और वह अपने मन को समझने लगती, भले ही यह कैसी है, पर मुझे इससे क्या, मुझे तो गुरु महाराज का हुक्म बजा लाना है ।"[3] बाद में श्यामा के

---

1. झरोखे - पृ: 39 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 57.
3. बसन्ती - पृ: 30 - वही ।

मन में बसन्ती के बारे में शंकायें बढ़ने लगीं और वह उसे बाहर निकाल देती है । तब उसे "अपने गुरु महाराज याद हो आयी । उसे सहसा इस बात का वहम होने लगा कि बसन्ती की खाट आंगन में से उठ गयी तो गुरु महाराज को दिया वचन भंग हो सकता है, उस पर कोई मुसीबत आ सकती है, कोई अनिष्ट हो सकता है ।"[1] प्रस्तुत उपन्यास में निम्नवर्ग नियतिवादी और जाति-भेद के समर्थक के रूप में चित्रित है । इसलिए हीरा अफ्सर के आगे अपने भाग्य को खोटा मानता है । वह सब कार्य किस्मत से मानता है ।

"अमृतसर आ गया है" नामक कहानी में परिवेश की सांप्रदायिक भयावहता दिखाकर गाडी के डिब्बे के यात्रियों पर पडे आतंक को व्यक्त किया गया है । भौगोलिक परिवर्तन के अनुसार बहुसंख्यकों का दमन अल्पसंख्यकों पर कैसा पडता है इसका कलात्मक वर्णन है प्रस्तुत कहानी । सांप्रदायिक आतंक, दमन, हत्या, लूट-पाट सब अपनी-अपनी शक्ति पर आधारित है । अतः कहानी में रैलगाडी के डिब्बे के यात्रियों के ज़रिए उसके उतार-चढाव, दमन एवं आतंक को दिखाया है । "किसी अज्ञात आशंकावश दुबला बाबू मेरे पास वाली सीट पर से उठा और दो सीटों के बीच फर्श पर लेट गया । उसका चेहरा अभी भी मुर्दे जैसा पीला हो रहा था । इस पर बर्थ पर बैठा पठान उसकी ठिठोली करने लगा . . . धीरे-धीरे पठान ऊँघने लगे जबकि अन्य मुसाफिर फटी-फटी आँखों से शून्य में देखे जा रहे थे ।"[2] इसके पहले भी जब "मैं ने घूमकर डब्बे के अन्दर देखा, दुबले बाबू का चेहरा पीला पड गया था और माथें पर पसीने की परत किसी मुर्दे के माथे की तरह चमक रही थी ।"[3] यही बाबू अमृतसर पहुँचते ही पठानों को गाली देता है, और एक डंडा लेकर एक मुस्लिम यात्री को मार देता है । "सरदारनी" में अल्पसंखीय आतंक से पीडित मुस्लिम अध्यापक की रक्षा करनेवाली एक सिख गृहनायिका की कथा है । सरदारनी धर्म, भगवान और पति को माननेवाली औरत मानवता को उससे परे मानकर अपना कर्तव्य पूरी करती है । सरदारनी के पीछे "मास्टरजी चले जा रहे थे और हर आहट पर ठिठक-ठिठक जाते थे ।"[4] दोनों के आगे "मुश्कें बाँधे

---

1. बसन्ती - पृ: 89 - भीष्म साहनी ।
2. पटरियाँ - पृ: 26-27 - वही ।
3. वही - पृ: 25.
4. निशाचर - पृ: 157 - वही ।

आदमियों का टीला दुर्निवार चट्टान की तरह सामने खडा था । मास्टर को मानो मालुम हुआ जैसे वह निर्णायक क्षण आ पहुँचा है, वही निर्णायक क्षण जब जीवन की गति थम जाती है, और सारा संसार चित्रवत् नजर आने लगता है । शताब्दियों लम्बा क्षण, ऐसा क्षण जब सबकुछ सपने-जैसा लगने लगता है । पर यह अपना नहीं था, जीवन का दारुण सत्य था ।"[1] "जहूवर बख्श" में "मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध हिन्दी सेवी जहूर बख्श का मकान और यत्नसंचित पुस्तकालय सांप्रदायिकता की क्रूर अग्नि में किस प्रकार भस्म हो गया था,"[2] इसका मार्मिक चित्रण है । उसमें इसकी ओर भी संकेत है कि सांप्रदायिकता का रंग किसप्रकार भाषा पर पडता है । हिन्दी में लिखने के कारण प्रसिद्ध मुस्लिम लेखक जहूर बख्श के मकान एवं ग्रंथालय अत्याचारी भस्म कर देते हैं । अत्याचारियों में उसके परिचित व्यक्ति एवं उसके पाठक भी थे । इस हादसे से वह पागल बन जाता है । "एक पहेली की तरह वह वैसे-का-वैसा खडा था । छोटी-सी दाढी, बडी-बडी पथरायी-सी आँखें, दुबला शरीर, जैसे अन्दर की किसी आग ने उसे भी अधजला कर डाला हो । तभी उसका नाम मेरे जहन में कौंध गया था ।"[3] "पहला पाठ" तमस के हिन्दू महासभा का पहला सोपान है । इसमें धार्मिक नेता जनता को वश में लाने केलिए अछूतों, गरीबों के उन्नमन की बातें करते हैं । ऐसा करते समय वे यह नहीं भूलते हैं कि धार्मिक भेदभाव को बनाए रखे । वानप्रस्थिजी के भाषण से प्रभावित बालक देवव्रत मुसलमानों को भी, जो गरीब है, अछूत समझता है और हमदर्दी प्रकट करता है । लेकिन वही नेता बालक को अछूत और म्लेछ का पाठ सिखाता है एक थप्पड देकर । इसमें वानप्रस्थिजी अपना धार्मिक स्वार्थ व संस्कार देवव्रत के ज़रिए कायम करना चाहता है वही कार्य देवव्रत रणवीर के माध्यम से तमस में करता है । "काँटे की चुभन" में एक आर्यसमाजी और एक सनातन धर्मी के आपसी मित्रता एवं शत्रुता की कहानी है । इसके ज़रिए लेखक जातीय खोखलापन का पर्दाफाश करते हैं । उनकी शत्रुता का आधार जातिवाद है तो मित्रता का आधार

---

1. निशाचर - पृ: 162 - भीष्म साहनी ।
2. प्रकर-सितंबर, 1984 - सं. वि.सा. विद्यालंकार ।
3. निशाचर - पृ: 122 - भीष्म साहनी ।

धन एवं सम्पत्ति है । लेकिन उनकी शत्रुता अपने बेटे-बेटी के प्रेम एवं विवाह से मिट जाती है । "एषधर्मः सनातनः" निम्नजात को अछूत, विकृत एवं बदरंग माने जानेवाले महंत रामदास का अछूत होने की कथा है । अछूतों के मन्दिर आने के कारण उसे वहाँ बदबू एहसास होती है और वह धो-धोकर उसे मिटाना चाहता है । अछूत के "श्वास की बू से रामदास का मन्दिर कलुषित हो उठा । रामदास धो-धोकर मन्दिर को साफ करते थे, मगर बू न जाती । इष्टदेव को भोग लगाते तो जान पडता जैसे चमारों की जूठन का भोग लगा रहे हो ।"[1] इससे ऊबकर मन्दिर एवं गाँव छोडनेवाले रामदास के कमंडलु की चोरी होती है । कमडंलु विहीन रामदास को ब्राह्मण भिक्षुक भी ब्राह्मण नहीं मानते हैं । वे उसे चमार कहकर भगाते हैं और अन्त में वह चमारों से भोजन खा लेता है उसकी पांत में बैठ जाता है तब उसे बू ही नहीं, उन्हें ब्राह्मण नज़र आता है । कमंडलु के बिना "उनके पास ब्राह्मण होने का सबूत ही क्या है'"[2] "समाधि भाई राम सिंह" नामक कहानी धर्मभीरु लोग कैसे धार्मिक-नेताओं के शोषण, अत्याचार एवं अन्ध-विश्वास का शिकार हो जाते हैं, उसका चित्रण है । भाई रामसिंह जनता की धर्म भीरुता को आड में अपने स्वार्थ की पूर्ति का प्रयास कर रहा था । वह अपने को संत बनाने की कोशिश में भविष्यवाणी देता है कि कल सुबह चार बजे मेरा स्वर्गवास होगा । लोग इकट्ठे होने लगे, "श्रद्धा और भक्ति के बाँध टूट पडे, औरतें सिसकियाँ ले-लेकर रो उठी, और महाराज पर फिर से पुष्प-वर्षा होने लगी ।"[3] "मगर चार बजकर भी स्वर्गारोहण नहीं होता, भक्ति ईर्ष्या एवं द्वेष में बदलने लगें। लोग जूते-पत्थर फेंकने लगे, मार-पीट करने लगे । रामसिंह चिल्लाने लगा "मैंने किसी का कुछ नहीं बिगाडा । मुझे मत मारो । मैं ने तुम्हारी सेवा की है ।"[4] मार-पीट से भाई रामसिंह मर जाता है और जनता में फिर शंका उमडने लगी , अन्धविश्वास बल पकडने लगा । "...एक ने कहा - ठीक ही तो कहता था । सूरज चढ़ने से पहले मर गया न' {मर ही तो गया}"[5]

---

1. पहला पाठ - पृ: 82 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 87.
3. वही - पृ: 63.
4. वही - पृ: 65.
5. वही - पृ: 66.

लोगों ने भाई रामसिंह की समाधि बनायी और आराधना करने लगे । "शोभायात्रा" में धार्मिक सद्भाव को बढाने के बहाने अत्याचार में लगे शासक का ढोंग चित्रित है । वह अहिंसा परमो धर्मः के नाम पर शोभायात्रा और एक बकरी की बलि को रोकने केलिए अनेकों मनुष्य की हत्या करता है । "मालिक का बन्दा" में भगवान के नाम अत्याचार, चोरी एवं सिफारिश करनेवाली दफ्तरशाही वृत्ति को खोला गया है । इसमें रैलवे पुलिस सरकारी सामग्री चुराकर भगवान केलिए मन्दिर बनवाता है और जनवादी कवि की सुविधा केलिए जनता को तंग करता है ।

धर्म एवं धार्मिक भेदभाव को सांप्रदायिक एवं साम्राज्यवादी शक्तियाँ कैसे अपने-अपने अनुकूल मोडती हैं, इसको भीष्मजी ने अपने कथा-साहित्यों द्वारा बेनकाब किया है । उनकी सूक्ष्म दृष्टि सांप्रदायिक दंगे के मूल कारणों को पकडती है । जनता में अन्धविश्वास, धार्मिक-नैतिक आदर्श एवं विश्वास के खोखलेपन को भी उन्होंने व्यक्त किया है । इस प्रकार के प्रयास के ज़रिए वे जनता को स्वस्थ दृष्टि सम्पन्न बनाने का स्तुत्य कार्य भी करते हैं ।

नारी शोषण का वैविध्य

भारतीय समाज पारिवारिक प्रथा पर अधारित है, जिसके मूल में माता है । पारिवारिक सुस्थिरता केलिए विधेयत्व का भाव आवश्यक है । परम्परागत रूप में स्त्री पुरूष के नीचे, उसकी छाया में रहना चाहती है जिसके मूल में सुरक्षा-बोध ही मुख्य है । वह अपनी सुरक्षा ही नहीं बल्कि परिवार की रक्षा गृहनायक के हाथ में मानती है । इस स्थिति को बनाए रखने में भारतीय नारी ही आतुर दीखती है । ऐसी एक सामाजिक व्यवस्था का व्यवस्थापक पुरूष ही है । हमारे समाज में स्त्री पहले माता, फिर प्रियतमा है तो प्रबुद्ध देशों में नारी पहले प्रेयसी और फिर माता है । यहाँ यह विश्वास रूढ़ हो गया है कि नारीत्व की सार्थकता उसके मातृत्व में है । नारी का कर्तव्य पिता, पति एवं पुत्र की सेवा-शुश्रूषा करनी है । पति को परमेश्वर मानकर उसकी सेवा करनेवाली नारी सामाजिक सदाचार, नैतिकता, अन्धविश्वास और आदर्श के बन्धनों से घिरी हुई है । इसके विरूद्ध विद्रोह करनेवाली या उन्मुक्त होनेवाली नारी समाज के आगे आदर्श नहीं उच्छृंखल ही है ।

नारीवर्ग की वास्तविक मुक्ति केलिए हमारी परम्परागत अवधारणा - पितृ-सत्तात्मक सामाजिक ढाँचा - सबको तोडना होगा । "पुरूषत्व की मूल अवधारणा हमारे समाज में हमेशा सकारात्मक और केन्द्रीय रही है । यानी पुरूष का जन्मना एक सम्पूर्ण मानव ही नहीं, मानवता का सही और आदर्श स्वरूप होना सहज स्वीकृत रहा है । इसके ठीक विपरीत समाज में स्त्रीत्व की मूल अवधारणा नकारात्मक है । लगभग सभी धार्मिक और दार्शनिक दायरों में स्त्री को पुरूष के सन्दर्भ में एक अपूर्ण और सापेक्ष जीवन के रूप में ही देखा गया है ।"[1] सृष्टि के निर्माण एवं संचालन में नारी और पुरूष दोनों पूरक हैं । परन्तु समाज में उस नारी को नर की प्रतिछाया मात्र मानता है एक पूर्ण मनुष्य के रूप में नहीं ।[2] इसप्रकार के शोषण पितृसत्तात्मक समाज को बनाए रखने में सहायक हुआ है । उसमें "अर्थ और काम के दो पाटों के बीच नारी शताब्दियों से पिसती चली आई है ।"[3] पितृसत्तात्मक समाज में नारी पुरूष का संबन्ध धन के आधार पर है । विवाह के नाम पर सार्वजनिक प्रदर्शन को दिव्य पवित्रता देता है लेकिन उसके मूल में क्रय-विक्रय की प्रथा ही छिपी हुई है । "पितृ सत्तात्मक समाज की हर पद्धति का मूल ध्येय देवी ही नहीं, सामान्य स्त्री की शक्ति को भी (वह चाहे सन्तानोत्पत्ति की हो या कामकाज संबन्धी उर्जा) पुरूष के हित में नियोजित करने का होता है । इसी से स्त्री को मूलतः एक प्रकार की सम्पत्ति के रूप में देखा गया है, और उसकी सुरक्षा, हस्तान्तरण, सार्वजनिक प्रदर्शन और अभिवृद्धि (पैसे से पैसा जुडता है, स्त्री से कुल आगे बढता है) के प्रबन्ध किए गए ।"[4]

---

1. स्त्री : देह की राजनीति से देश की राजनीति तक - पृ: 13-14 - मृणाल पांडे ।
2. "पुरूष और नारी सृष्टि के निर्माण और संचालन के दो मूलभूत तत्व है । पुरूष मनुष्य है, मानव है । नारी केवल नारी है, नर की प्रतिछाया नहीं । मानुषी और मानवी उसे प्रायः नहीं कहा गया । - पृ: 167 - आशारणी व्होरा । भारतीय नारी दशा, दिशा ।
3. समकालीन हिन्दी उपन्यास की भूमिका - पृ: 30 - डा. रणवीर रांग्रा ।
4. स्त्री : देह की राजनीति से देश की राजनीति तक - पृ: 30 - मृणाल पांडे ।

इसप्रकार समाज के नारी शोषण के मूल में एक ओर परम्परावादी सामंती मनोवृत्ति है तो दूसरी ओर पूंजीवादी आर्थिक लाभ है । पुरुष की सामन्ती मनोवृत्ति ने नारी केलिए एक अलिखित परम्परागत नियम बनाया और उसके भ्रमजाल में नारी को बाँधना चाहा है । अपनी सुविधाओं के अनुसार पुरुषवर्ग ने उसकेलिए कुछ स्थूल नियम बना दिए, जिनके भीतर रहकर ही वह अपने को गौरवान्वित समझती रही । पर वास्तविकता यह है कि वह प्रतिदिन निष्प्राण और ज्ञानमूढ होती गई ।"[1] इसलिए "प्रगतिवादी चिन्तन ने शोषित सर्वहारा वर्ग की पीडाओं की भाँति ही समाज में नारियों के शोषण और उत्पीडन की कथा भी कही है ।"[2] मार्क्सवाद नारी की आर्थिक स्वतंत्रता, शिक्षा, मुक्तप्रेम और जड-रूढियों को तोडने के विश्वास पर बल देता है । वह परम्परागत आदर्शवाद का विरोध इसलिए करता है कि आदर्श एकांगी और वर्ग-स्वार्थ पर आधारित होता है । आदर्श एवं परम्परावाद जड़ संस्कृति के नाम पर नारी शोषण को सहायक होते हैं । वह पहले नारी को मनुष्य, फिर पतिव्रता, पत्नी, माँ सबकुछ मानता है । मगर "पूँजीवाद ने नारियों को गुलाम बनाकर रखा ।"[3] समाजवाद में वह पुरुष की तरह एक स्वतंत्र बौद्धिक इकाई और महत्व की सहभागी है । मार्क्सवाद विवाह को आदान - प्रदान के रूप में नहीं, नारी-पुरुष के स्वाभाविक स्वच्छन्द प्रेम के आधार पर सामाजिक जीवन के विकास में अटूट सहयोग और साहचर्य के रूप में मानता है । वह नारी को दूसरों के हाथ का हथियार या पैर-तले की धूल नहीं मानता है । नारी को शोषण से मुक्त करने केलिए उसकी आर्थिक परतंत्रता, परम्परागत पारिवारिक बन्धन, नैतिक मान्यतायें, सामाजिक मान्यतायें और हीनता-ग्रंथी इत्यादि को तोडना चाहिए । उसके लिए नारी एवं नर दोनों को संयुक्त प्रयास अनिवार्य है ।

"बसन्ती" नारी शोषण की विविधता को हमारे सामने लाती है । उपन्यास की नायिका बसन्ती इन शोषणों से आक्रान्त होती है और वह अकेली शोषकों के विरुद्ध संघर्ष करती है । बसन्ती अपनी जातीय रूढियों, अत्याचारों से संघर्ष करती है,

---

1. हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद - पृ: 103 - प्रो. विजयशंकर मल्ल ।
2. प्रगतिवादी हिन्दी उपन्यास - पृ: 14 - डा. बदरी प्रसाद ।
3. वही ।

पिता, पति एवं प्रेमी से संघर्ष करती है, अत्याचारी गुंडा और सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का विरोध करती है । इस बीच वह परम्परागत नारीत्व नैतिकता, सदाचार की बाधें तोडकर नारी मुक्ति की दिशा में प्रवेश करती है ।

उत्तर भारत में आजकल भी युवतियों को बेचना अचरज की बात नहीं है । निम्नवर्ग के लोग शादी के बहाने अपनी लडकियों को बूढों के बेचते हैं इससे उन्हें दुहरा लाभ मिलता है । एक ओर दहेज नहीं देना पडता है दूसरी ओर धन इस ओर मिलता है । चौधरी अपनी बेटियों को इसी दृष्टि से बेचता है । ये लोग लडकी की अपेक्षा लडके को इसलिए ही पसन्द करते हैं । लडकी उनकेलिए धन कमाने की चीज़ मात्र है । चौधरी की चौदह वर्षीय बेटी बसन्ती कमाती है, लेकिन उसे खाने तक नहीं देता है और उसकी कमाई से चौधरी अपने बेटे का पालन करता है । बसन्ती को वह साठ वर्ष के एक लंगडे को 1200 रुपए में बेच देता है । लेकिन बस्ती तोड जाने के कारण वह बचकर श्यामा के घर पहुँचती है । बसन्ती श्यामा से अपनी राम कहानी कहते हुए कहती है कि "हमारा बापू बेटियाँ बेचता है । . . . सच बीबीजी, मेरी बडी बहिन का व्याह भी गाँव में किसी बूढे के साथ कर दिया । उससे आठ सौ रुपए लिए ।"[1] इस बीच बसन्ती की बिक्री का काम भी चौधरी पूरा करता है । लेकिन वह अपने प्रेमी दीनू के साथ जीना शुरु करती है और गर्भवती हो जाती है । पिता-चौधरी गर्भवती बसन्ती को पकडकर दूसरी बार बुलाकी को देता है । साथ ही वह और रुपए वसूल करके कहता है कि "तीन सौ रुपए पिछले और दो सौ पेट के बच्चे को । तुम्हें बसी-बसायी गिरस्थी मिल रही है । इसकेलिए क्या दो सौ ज़्यादा है ।"[2] वाद-विवाद चलता रहता है । लंगडे बुलाकी इल्लाकर कहता है कि "पेटवाली लडकी को व्याहकर के जायेंगे तो लोग हमारे मुँह पर थूकेंगे नहीं' हमने कहा, कोई बात नहीं, सुन लेंगे जो कोई बुरा-भला कहेगा, पर दो सौ किस बात को'."[3] इसकेलिए भी चौधरी के पास जवाब की कमी नहीं । उसका उत्तर है कि "हमसे क्या छिपाते हो बुलाकी राम,

---

1. बसन्ती - पृ: 34 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 99.
3. वही - पृ: 100.

तीन-तीन व्याह रचा चुके हो, बच्चा एक नहीं हुआ । सभी लुगाइयाँ भाग गई । हमने तो सिर्फ दो सौ माँगे हैं । कोई और होता तो पाँच सौ-हज़ार माँगता ।"[1] व्यापार के पक्की होने के बाद माँ-बाप बसन्ती बेटी को अच्छे दाम्पत्य जीवन की "कामना" करते कहते हैं कि "दूधों नहाओ, पूतों फलो ।"[2] वहाँ से भी बसन्ती भागकर दीनू के साथ हो जाती है जहाँ दीनू केलिए एक ग्रामीण बीवी भी है । बसन्ती काम करके अपने बच्चे का ही नहीं बल्कि दीनू एवं रुक्मी का खर्च भी करती है । दीनू भी क्रय-विक्रय में पीछे नहीं है । वह बसन्ती को बरडू नामक एक गुंडे को बेच देता है, तीन सौ रुपए केलिए । बसन्ती "पिता चौधरी केलिए रुपया कमाने का साधन है, बुलाकी राम को बुढापे में पत्नी का शौक चर्राया है, प्रेमी दीनू केलिए थकान मिटानेवाली और रोटी का इंतज़ाम करनेवाली वस्तु"[3] है । वहाँ से भी बसन्ती बच निकलती है मगर ये नर पिशाच उसके पीछे मंडराते रहते हैं ।

शोषण के अलावा नारी के साथ पुरुषवर्ग का व्यवहार भी बहुत क्रूर है । पुरुष चाहे पिता या पति पुत्री एवं बीवी को दुलार से बुलाते भी नहीं है । चौधरी का व्यवहार इसका प्रमाण है । "हरामजादी, अभी तक सो रही है । उठ जा । ...और चौधरी ने उसे चुटिया से पकडकर खाट पर सीधा बैठा दिया ।"[4] इसका व्यवहार अपनी बीवी के साथ भी इसी तरीके का है । "इस मौसम में तेरा बाप हज़ामत बनवाने आएगा' ऊपर देखती नहीं, कैसी घटा छायी है'."[5] चौधरी की अगली पीढी दीनू की आदत भी वही है । वह क्रूरता एवं कामोत्तेजना का प्रतीक है । बसन्ती के साथ उसकी बातचीत उसके चरित्र का उद्‌घाटन करती है । "जिसके साथ व्याह किया हो, उसके साथ ऐसा नहीं बोलते ।

---

1. बसन्ती - पृ: 100.
2. वही ।
3. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना - पृ: 121 - सं. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर
4. बसन्ती - पृ: 15 - भीष्म साहनी ।
5. वही - पृ: 13.

ब्याह किसने किया है तेरे साथ ?
तूने, और किसने भगवान के सामने सौगन्ध खायी है या नहीं ? मेरी माँग में रंग भरा है या नहीं ? मेरे बालों में फूल टाँके है या नहीं ?
और ब्याह क्या होता है ।
तू पीछे पड गयी थी तो क्या करता । तेरी जैसी तो यहाँ रोज़ मिल जाती है ।"[1]

"बसन्ती" में नारी में निहित शक्ति और आस्था की कथा है । वह पति, पिता, भगवान एवं समाज से अपनी स्वतंत्रता, अपने अस्तित्व और अपने नारीत्व केलिए संघर्ष करती है । "बसन्ती उपन्यास में साहनी ने पूंजीपति व्यवस्था की दोहरी शिकार निम्नवर्ग की उस शोषित और उपेक्षित नारी बसन्ती के व्यक्तित्व को उभारा है जो संघर्ष करते-करते इतनी बोल्ड् हो गयी है कि वह एक ओर व्यवस्था के ढाँचे को तोडने केलिए संघर्ष करती है, वहीं दूसरी ओर थोथी सामाजिक मान्यताओं को नकार कर स्वतंत्र जीवन जीती है ।"[2] इसप्रकार "बसन्ती" नारी मुक्ति का यशोगीत है ।

भीष्मजी "बसन्ती" में निम्नवर्गीय नारी शोषण के विभिन्न रूप देते हैं तो "कडियाँ" और "झरोखे" में मध्यवर्गीय नारी शोषण के दुहरे मुख को प्रस्तुत करते हैं । उन्होंने प्रारंभ से आज तक शक्ति सम्पन्न सुविधाभोगी पुरुषवर्ग द्वारा गढे गए समाज के कठोर नियमों तथा आदर्शों द्वारा शोषित, पीडित तथा आश्रय की खोज में दर-दर भटकती नारी को उभारा है । पुराने समाज में भी एक हद तक वेश्या स्वतंत्र थी, आज भी वही स्थिति है । लेकिन अभिजात कुल की मान्यतायें, धर्म, सदाचारबोध तथा नैतिकता सामान्य नारी को मनुष्य के रूप में जीने नहीं देते हैं । पर यदि वह बडी नर्तकी या और कोई है तो यही समाज उसका आदर सम्मान करेगा । उसे अपनी इच्छा के अनुसार विवाह करने की अनुमति नहीं परिवार द्वारा नियुक्त पति का वरण करना पडता है । नारी पर पराधीनता, विधेयता और परमुखापेक्षिता का भार टंगा रहा है ।

---

1. बसन्ती - पृ: 70 - भीष्म साहनी ।
2. हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष - पृ: 383 - सं० डा. रामदरश मिश्र ।

"कड़ियाँ" पति-पत्नी संबन्ध और विघटन की कथा है । इसमें दो भिन्न संस्कार वाले पति-पत्नी के संबन्ध-विघटन के सामाजिक कारणों की खोज है । "पुरुष और नारी के मनोवैज्ञानिक स्तरों की यात्रा से गुजरती हुई कथा अपने भीतर से धीरे-धीरे सामाजिक विषमता के अनेक कोणों को खोलती चलती है । प्रमिला ठंडी औरत है मगर क्यों? क्योंकि उसके पारिवारिक वातावरण ने उसे वही दिया है । वह पति और पुत्र की सेवा तथा धर्मपरायणता को ही गृहिणीत्व या नारित्व की चरम सार्थकता मानती है, और अपने पूरे सहज मन से इसे मानती है ।"[1] आर्यसमाजी परिवार के सामाजिक आचार-विचार, मान्यतायें एवं प्रवृत्ति ने उस पर गहरा असर छोड दिया है । ये मनुष्य को साँचाबद्ध चिन्तन से मुक्त करने नहीं देते, अपने आचार-विचार की रस्सी से बान्धकर उसके चरित्र को कुंठित करते हैं । प्रमिला पहले विरासत के रूप में मिले इस संस्कार से बाहर नहीं आना चाहती थी क्योंकि उसमें ये संस्कार रूढ़ हो गये थे । वह आधुनिक समाज के साथ बहना नहीं चाहती या शायद उसमें असमर्थ होती है । महेन्द्र प्रमिला की रसोई बू पसन्द नहीं करता है उसे आधुनिक साफ-सुथरी और सज-धजी नारी चाहिए । महेन्द्र के इच्छित रूप में प्रमिला अपने को बदल नहीं क्योंकि उसमें आर्यसमाजी विश्वास सबसे प्रबल है । "साबुन से कौन बर्तन धोता है? सभी लोग सुहागे से बर्तन मलते हैं । हमारे घर में भी सुहागे से बर्त न मलते थे ।"[2] उसमें सदा हमारे घर में ऐसा करता था की दुहाई है । उसके जीवन पर आर्यसमाजी विश्वास का स्वर्गाधिक प्रभाव है । फिर घर-गिरस्ती, बच्चे का पालन मुख्य है और पति की सेवा अपने बच्चे के पिता के नाते है न कि अपने पति के नाते । वह स्पष्ट रूप में कहती है कि पप्पू के जन्म के बाद ही मुझे आप अच्छे लगने लगे ।[3] इस प्रकार की पत्नी से महेन्द्र सन्तुष्ट नहीं होता है उसमें अतृप्ति एवं रुष्टता उमडने लगीं । "कभी मन में खीझ उठती कि प्रमिला के जीवन में प्रमुख स्थान चौके-बर्तन को है या पप्पू को, उसे यह जानने की इच्छा तक नहीं होती कि महेन्द्र दिन-भर कहाँ भाड-झोंकता रहा है, उसे भी किसी बात की

---

1. हिन्दी उपन्यास : एक अर्न्तयात्रा - पृ: 168 - डा. रामदरश मिश्र ।
2. कड़ियाँ - पृ: 26 - भीष्म साहनी ।
3. वही - पृ: 30.

परेशानी हो सकती है, उसकी भी कोई जरूरतें हैं या नहीं । . . .. इसके साथ झूठ बोलो, विश्वासघात करो, तो भी इसे कोई फर्क नहीं पडता । साये-सोये जी रही है ।"[1] वह पति को परमेश्वर मानती है, और सब काम करती है अपनी मान्यताओं के आधार पर ।

आधुनिक पति-पत्नी संबन्ध के मूल में सैक्स ही मुख्य है । लेकिन प्रमिला के आचार-विचार यह मानने को तैयार नहीं होता है । "सैक्स अब पापबोध देनेवाली क्रिया नहीं, एक वास्तविक और अनिवार्य आवश्यकता के रूप में स्वीकृत और सभाद्दत है ।"[2] "प्रमिला अपने पारिवारिक संस्कारों के कारण दाम्पत्य जीवन की यौन-ऊष्मा को नहीं पहचान पाती । वह पूजा-पाठ करनेवाली, पति की सेवा करनेवाली और पति से अधिक पुत्र में दिलचस्पी रखनेवाली एक धर्मपरायणा नारी है ।"[3] भोजन के बाद बिस्तर पर बैठते ही हाथ-पैर छोडकर लाश की भाँति वह लेट जाती है जिससे महेन्द्र ऊब जाता है । महेन्द्र को उत्तर देते हुए वह कहती है कि "मैं जानती हूँ मर्द क्या चाहता है । मुझे वह सब अच्छा नहीं लगता । सो जाओ .. . शादी तो बच्चे पैदा करने केलिए की जाती है । . . . स्वामीजी ने तो लिखा है कि साल-भर में एकाध बार करना चाहिए । . . . स्वामी दयानन्द ने । . . . बातें तो सब ठीक कह गए हैं । कहते हैं शेर ज़िन्दगी में केवल एक बार करता है । फिर उसका ... उसका अंग ही टूट जाता है ।"[4] प्रमिला मनुष्य को मनुष्य के रूप में नहीं देखती है । उसकेलिए स्वामीजी की बातें "ब्रह्मसत्य" है । उसे मर्द की इच्छा-आकांक्षा की चिन्ता नहीं, क्योंकि वह उससे परे हैं । उसे महेन्द्र के "साथ लेटना तो बडा अच्छा लगता है, अकेले लेटना अच्छा नहीं लगता ।"[5] इस प्रकार के एकांगी और परम्परावादी सोच के कारण पति-पत्नी के बीच फासला बन जाता है और अन्त में टूटन तक पहूँचता है ।

---

1. कडियाँ - पृ: 27 - भीष्म साहनी ।
2. नई कहानी की भूमिका - पृ: 17 - कमलेश्वर ।
3. हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा - पृ: 168 - डा. रामदरश मिश्र ।
4. कडियाँ - पृ: 28 - भीष्म साहनी ।
5. वही - पृ: 29.

प्रमिला अन्त में पागल होकर गली-गली घूमती है और इस बीच महेन्द्र के दूसरे बच्चे की माँ बन जाती है । दूसरे बच्चे के जन्म से उससे सनकीपन हट जाता है और साथ ही परम्परागत बोध भी । उसपर भाग्यवाद, धर्मभीरुता सबकुछ हैं । लेकिन पिता की सहायता, सतवन्त की सलाह और जीवनानुभ उसे जागृत करते हैं । "भगवान ने मुझ पर बड़ी दया की है, सत्तो, मुझमें हिम्मत आ गयी है, अब मैं डरती नहीं, थर-थर कांपती नहीं रहती । अब तो मैं पिताजी को भी परेशान नहीं होने देती ।"[1] प्रमिला पिताजी से फरियाद करने लगी याने उसमें आर्यसमाजी आवरण से मुक्त होने की ललक उमडने लगी है । इसलिए पिताजी के वादा - "औरतें पढ़-लिख गयी हैं, इसलिए घर बरबाद होरहे हैं" का उत्तर फरियाद रूप में देती है कि "आपने मुझे पढाया क्यों नहीं, पिताजी, मैं भी अच्छी पढ़ लिख गयी होती तो कुछ कर सकती थी, पप्पू को अपने पास रख सकती थी ।"[2] प्रमिला विरासत के रूप में मिलों मान्यताओं, विश्वासों, शिष्टाचारों और अन्धविश्वासों से मुक्त होकर आत्म निर्भर होने लगती है । इसका एहसास करते हुए सतवन्त कहती है कि "वह चल पाएगी, अपने पैरों पर चलती हुयी बहुत-सी मंजिलें काट डालेगी ।"[3] उससे इन धार्मिक आवरणों के साथ उसके ठण्डेपन, सामाजिक डर, थोथी नैतिकता, और सदाचार बोध सब हटने लगे । "लेखक ने एक ओर प्रमिला को सामाजिक वातावरण द्वारा दिए गए संस्कार, उसकी भयावह परिणतियों, आर्थिक असहायता के कारण उत्पन्न उसकी लाचारियों, पीडाओं, विडम्बनाओं का चित्र खींचा है, दूसरी ओर उसके अन्दर से उगती हुई स्वावलम्बिनी बनने के लिए संघर्ष करती हुई एक नई नारी को पहचाना है और यहीं पर उपन्यास एक नवीन अर्थवत्ता प्राप्त कर लेता है ।"[4]

उपन्यास में नाटा, महेन्द्र और नारंग साहब तीनों में सामन्ती मनोवृत्ति है । नाटा, महेन्द्र को अपनी सामन्त लहजे में उपदेश देता है कि "भले ही बीसियों स्त्रियों के साथ संबन्ध रखो, पर घरवालो से छिपाये रखो । इसी में सच्ची नैतिकता है ।"[5]

---

1. कड़ियाँ - पृ: 205 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 128.
3. वही - पृ: 207.
4. हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा - पृ: 169 - डा० रामदरश मिश्र ।
5. कड़ियाँ - पृ: 31 - भीष्म साहनी ।

सामन्ती परिवार का अस्तित्व ही छिपाने की कला में स्थित है । "छिपाने का नाम ही सदाचार है । कौन नहीं छिपाता, साले, सभी छिपाते हैं । कौन एकव्रती है? केवल वही एकव्रती है जो चुगद है । सभी औरतों से भोग करते हैं, औरत बनी ही भोग केलिए हैं ।"[1] महेन्द्र की आदत भी ससे भिन्न नहीं है वह पूँजीवादी सभ्यता का आदमी है । उसे क्लर्की के ज़माने में प्रमिला ठीक लगी थी, लेकिन अफ़सर बनने पर प्रमिला उसे गँवार लगती है । अलग होने के बाद समझौते केलिए लायी प्रमिला पर उसे स्निग्धता का भास होता है मगर अपने काम सीधा होते ही वह स्निग्धता का वह भाव भी मिट जाता है । जब प्रमिला दूसरे बच्चे की माँ होनेवाली थी तब महेन्द्र में नैतिकता का प्रश्न उठता है । उसमें मध्यवर्गीय शंका, नैतिकता इत्यादि एक साथ उमडने लगीं । "कहीं नाटा ही तो इस होनेवाले बच्चे का बाप नहीं? यह भी प्रमिला के हाथ-साथ पकडा करता था । पागलपन में न जाने कहाँ कहाँ घूमती रही है । न जाने किसके साथ मुँह काला कर आयी है ।"[2] प्रमिला को दो बच्चे देकर, सुषमा को रखैली बनाकर वह अपने को अब आज़ाद करना चाहता है । उसे विवाह एवं घरेलु जीवन में रुचि नहीं[3] परंतु वह हर औरत को कामुकता की दृष्टि से देखता है । मिसेज़ भगत के साथ उसका व्यवहार इसका प्रमाण है । प्रमिला का पिता नारंग साहब में भी पुरूष सहज शंका है जो उसे परम्परा से मिली है । "क्या सबूत है कि यह महेन्द्र का ही बेटा है? तू पागलपन में गली-गली, सडक-सडक घूमती थी ।"[4]

"झरोखे" आर्यसमाजी ढोंग का और एक चित्र है । आर्य समाज का उदय ही नारी उत्थान के नारे लेकर हुआ था । उसके नेता नारी-समाज के उद्धार केलिए काम करते थे, पर वे अपने-अपने घर में परम्परागत सदाचारबोध का ही पालन करते थे ।

---

1. कडियाँ - पृ: 110. भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 194.
3. "मेरी विवाह में या घरेलू ज़िन्दगी में कोई दिलचस्पी नहीं रह गयी है । मैं आज़ाद रहना चाहता हूँ, तुम भी आज़ाद रहो । - पृ: 139 - कडियाँ ।
4. कडियाँ - पृ: 205 - भीष्म साहनी ।

"झरोखे" का पिताजी आर्यसमाजी कार्यकर्ता है, वह नारी शिक्षा और तत्संबन्धी स्कूल, होस्टल आदि से संबद्ध व्यक्ति है। मगर वह अपनी बेटियों को शिक्षित करना नहीं चाहता है। वह अपनी बेटियों को स्कूल ही नहीं, घर के बाहर तक नहीं जाने देता है। उनके शब्द, हंसी-मज़ाक सब घर के बाहर तक नहीं सुनाई पडते हैं। "रसोईघर की ओर से हँसने की आवाज़ आ रही है। . . . ये मेरी दो बडी बहनें हैं। वे बहनें नहीं, दो सफेद साए-से हैं, जो सदा एक साथ घर में घूमते रहते हैं, भाग-भागकर एक कमरे से दूसरे कमरे में जाते हैं।"[1] दोनों लडकियाँ पिंजरे की चिडियाँ की तरह घर में बन्द रहती हैं। वे घर के छज्जे या छत पर नहीं जा सकती, खिडकियों से बाहर नहीं देख सकती और ज़ोर से हंसने की आज़ादी भी नसीब नहीं। "विद्या-मिला! खबरदार, जो तुम्हारी आवाज़ सुनाई दी। चुपचाप आराम से बैठो।"[2] इस प्रकार "झरोखे" नारी स्वतंत्रता के एक नए रूप को हमारे सामने रखता है।

"राधा अनुराधा" "बसन्ती" की पहली कडी है। इसमें भी घर-घर में काम करनेवाली लडकी है, मात्र नाम बदल गया है। राधा का विवाह धन के मोह पिता एक बूढे के साथ तय करता है। "वह लडकर कहाँ है, वह तो बूढा है। और बीबीजी, गूँगा है, और दूर गाँव में रहता है।"[3] इसलिए राधा आत्महत्या करने केलिए चूहे मारनेवाली गोलियाँ खाती है। पिता धोवी को अपने बेटे के प्रति ममता है और उसका पालन पोषण करके इसे पीटता है। इसके बारे में भी वह श्यामाबीबी के आगे बयान देती है कि "क्या जानूँ बीवीजी, क्यों पीटता है' मेरे भाई को रोज दूध पीने को देते हैं, मुझे खाना भी नहीं देते।"[4] राधा अपनी शादी का रहस्य भी उसके सामने खोलती है कि "क्यों बीवीजी, जवान लडके के साथ मेरा व्याह करेगा, तो उसे जेब से पैसे देने पडेंगे, बूढे के साथ करेगा तो उल्टे उसे पैसे मिलेंगे।"[5] उसके बाप को यह भी मालुम है कि इन घर मालिकों का बर्ताव अपनी बेटी के प्रति अच्छा नहीं है।

----

1. झरोखे - पृ: 15 - भीष्म साहनी।
2. वही - पृ: 24.
3. वाड़चू - पृ: 134 - वही।
4. वही - पृ: 136.
5. वही - पृ: 135.

लेकिन पेट-भरने केलिए वह बेटी को घरों में भेज देता है और कहता है कि यदि किसी से इसे पेट हो गया तो "इसके हाथ रंग के इसे चलता करेगा । जैसे भी हो इसे चलता कर । देखता नहीं ज़माना किधर जा रहा है ।"[1] राधा को श्यामा बीबी शंका की दृष्टि से देखती है तो बंगाली बाबू सैक्स की दृष्टि से परखता है । "बंगाली बाबू समझ रहा था कि इस उम्र में वह एक लडकी दिल जीत रहा है । टेलिफोन साफ हो जाने पर बंगाली बाबू ने फिर से झुककर चोंगा टेलिफोन पर रख दिया और फिर से एक बार राधा के गाल के साथ अपना गाल सटा दिया ।"[2] राधा इसकी फरियाद किसी से नहीं करती, क्योंकि ऐसी फरियाद करके उसे एक घर से चलता कर दिया है, और इसकी फरियाद भी करने से आमदनी और भी कम होगी । ऐसी कामुकता का उपद्रव राधा को अपने वर्ग के नौकरों से भी सहना पडता है । सिंधी व्यापारी का नौकर दयाराम के चंगुल से इसलिए वह बचने की कोशिश करती है । अन्त में राधा पिता के बन्धन को तोडकर एक होस्टल के रसाईया के साथ शादी करती है । "बसन्ती" की पहली कडी के समान "मरयादास की माडी" का पहला सोपान है"एक रोमंटिक कहानी" मरयादास का बडा बेटा मृगी का मरीज़ है जिसके साथ लडकी रूकमणी की शादी होती है । मरयदास के मरने से उसपर परिवार वाले ध्यान नहीं देते हैं । मगर सामन्ती संस्कार को तोडकर रूकमणी पढ़ती है और एक स्कूल में काम करती है । वह अपने पाँवों पर खडी होने लगी और अपने मरीज पति को अलग झोंपडी में ले गयी । "रूकमणी सुखी हो गयी, मतलब कि वह अपने पाँवों पर खडी हो गयी, खुदमुख्तार हो गयी ।"[3] परिवार की धमकियाँ, शिकायतें, एवं फरियाद सुन-सहकर दुखी रूकमणी अब अपने जीवन का अच्छा समय भोग रही है । दादी कहती है कि "रूकमणी सुखी हो गयी और सच कहें तो ये रूकमणी के सबसे सुखी दिन थे और अब वह लंबी आयु पारकर पूरे पच्चीस बरस की हो चली थी ।"[4] क्योंकि बचपन से ही वह माडी के अत्याचार की शिकार है और एक

---

1. वाड़्चू - पृ: 139 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 138.
3. भटकती राख - पृ: 94 - वही ।
4. वही - पृ: 95.

मरीज की बीवी भी । लेकिन अब उसे किसी के अत्याचार सहने की आवश्यकता नहीं, पति की सेवा मात्र करना है । उसे वह पागल खाना भेज देती है लेकिन तब से वह शिथिल पडने लगी । "दादी कहती है कि अन्दर-ही-अन्दर से उसका मन उचट गया था - न माँ, न बाप, न बहन, न भाई, न सास, न ससुर, एक पागल ही था जो उसका अपना था ।"[1] अब वह भी यहाँ नहीं है । ससुरालवाले जायदाद के पैसे देने का वादा देते है पर "कितने दिन तक उन्होंने उसे पैसे दिए, दिए भी या नहीं दिए, दादी नहीं जानती । दादी केवल इतना जानती है रुक्मणी सुखी हो गयी ।"[2] पागल पति के अस्पताल जाने से वह भी घर-गिरस्ती छोड देती है और वह कहीं मर जाती है । "ललिता" में एक ग्रामीण निम्नवर्ग की युवती ललिता की शादी एक आधुनिक सम्पन्न परिवार के युवक के साथ की जाती है । दुल्हन को पहले राशी का स्थान देता है पर कुछ दिन लाद उसे नौकरानी का स्थान मिलने लगा । पति का ध्यान कम होते ही "घरवालों ने भी जूते चलाने शुरू कर दिए । ललिता को रोज़ गालियाँ पडने लगी । जेठानियाँ उसे कंगाल की बेटी कहतीं, सास कलमुही और कुजात कहती, इसके सामने बेटे को दूसरी बहू लाने को कहती ।"[3] पति शराबी और वेश्यागामी निकला । ससुराल से ऊबकर लौटी ललिता को माँ-बाप वापस भेज देती है । "ललिता उस परिन्दे की तरह छटपटाती हुई घर आई थी जिसे पहली उडान में ही किसी ने जख्मी कर डाला हो, और वह उडता गिरता अपने नीड में आश्रय खोजता हुआ, लौट आया हो ।"[4] वहाँ भी आसरा न मिलने की वजह वह और भी जख्में खाकर लौटती है । "जब वह ससुराल से मात्र आयी थी तो यह निश्चय करके कि अब लौटकर नहीं आऊँगी, पर अब लौटते हुए कोई उसके मन पर जलती शिखा से यह अंकित कर देना चाहता था कि जिसकी ससुराल नहीं है उसके मायके भी नहीं होते, जो ससुराल में नहीं रह सकेगी उसके लिए मायके के भी द्वार बन्द हो जायेंगे ।"[5] मायके और ससुराल दोनों से आहत

---

1. भटकती राख - पृ: 96 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 95.
3. पहला पाठ - पृ:99 - वही ।
4. वही ।
5. वही - पृ: 101.

ललिता में प्रतिशोध की भावना उमडती है और वह ससुराल के नौकर को साथ लेकर चीज़ें मायके ले जाती है और वहाँ से उनकी प्रार्थना का तिरस्कार भी करती है । वह अपनी पति के जेब से भी चोरी करती है और "आधुनिक" परिवार का फायदा उठाती है । "घर की इज़्ज़त" में सामन्ती संस्कार, आदर्श, मर्यादा एवं नैतिकता के विरुद्ध खुलकर संघर्ष करनेवाली युवती सुनन्दा की कथा है । घर के बडे भाई संयुक्त परिवार की सामन्ती सभ्यता का प्रतिनिधि है । वह समाज सुधारक है । वह अपने भाषणों में नारी शिक्षा, नारी उत्थान, नारी के सामाजिक जुडाव इत्यादि की अनिवार्यता पर बल देता था । मगर घर में इसका उल्टा ही चलता है । बडे भाइयों की बीवियाँ उस सभ्यता के अंग बन गई हैं । "एक पानी का लोटा लिए कन्धे पर तौलिया रखे पति सेवा का पुण्य यह अर्धांगिनी पिछले बीस साल से निभाती चली आ रही थी ।"[1] ये लोग पतिसेवा के पुण्य कमाते वक्त छोटे भाई की बीवी इसके विरुद्ध संघर्ष करती है । वह शिक्षित एवं शहरी है साथ ही कलाप्रेमी भी । एक ओर बडे भाई सुनन्दा को सामन्ती अनुशासन में बाँधने का प्रयत्न कर रहा है तो दूसरी ओर सुनन्दा अपने पाँव को मज़बूत कर रही है । वह कहीं नौकरी की खोज करती है और नाटक देखने जाती है । इतना ही नहीं बडे भाई के भाषण की सभा में वह नाटक खेलने भी जा रही है । सुनन्दा अन्यों के सलाह-मशविरा, भावुकता पर नहीं हिलती है और स्टेज के पीछे खडे देवर का भाषण सुनकर "वह हंसी, पर साथ ही साथ उसकी आँखों में घृणा और विमुखता की तीव्र भावना भी झलक उठी ।"[2] वह अन्त में निर्देशक से अपना निर्णय सुनाती है कि "मैं जानती हूँ । यह मत भूलो कि भाई साहब को भी उसी घर में रहना है ।"[3] "नयी हवेली" एक विधवा लडकी का संघर्षपूर्ण जीवन है । ससुरालवाले उसे एक बूढे के साथ बाँधने की कोशिश करते हैं तो वह उससे मुक्त होने केलिए इलाकेवालों की सहायता स्वीकार करती है । सास उसे मारती है, गालियाँ देती है । "साहबजी यह मेरी बहू है, मैं इसे जहर दूँ, मारूँ, पीटूँ, जो चाहूँगी करूँगी । किसी का कोई मतलब नहीं बीच में पडने का ।"[4] वह ससुराल से भागकर चाय की दूकान चलाती है

---

1. भाग्य रेखा - पृ: 117 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 128.
3. वही ।
4. भटकती राख - पृ: 106 - वही ।

जिससे वह अपनी भूख मिटा सकती है । फिर भी ससुरालवाले उसे सताती रहते हैं । "जब भी वे आते हैं तो पडाव के लोग या मेरे ट्रैक्ल-वीर मुझे छुडा लेते हैं । सभी मेरी मदद करते हैं, जी ! सभी मुझसे कहते हैं, चमेली, दूकान कभी नहीं छोडना, तेरा यहाँ काम चल जाएगा ।"[1] "पिकनिक्" नामक कहानी में घर में काम करनेवाली औरत गौरी और उसके तीन बच्चे एक ओर है तो दूसरी ओर शहरी मध्यवर्ग एवं गौरी का पति है । सम्पूर्ण मध्यवर्ग के शोषण के साथ गौरी का पति भी उसका शोषण करता है ।

"अभी तो मैं जवाब हूँ" ऊपर की कहानियों से भिन्न है । इसमें भी पेट-भरने केलिए मनुष्य की कठिनाई ही व्यक्त होती है । कोई भी नारी वेश्या बनना नहीं चाहती । उसे समाज ही ऐसी हालत तक पहुँचाता है । व्यवस्था ही उसका उत्तरदायी है । जीने की इच्छा की वजह और कोई रास्ता न मिलने के कारण ही नारी इस काम की ओर खिंची जाती है । आज इस काम में भी स्पर्धा बढ गयी है, दलाल एवं मियाँ दादा भी है । वेश्या की सबसे बडी विडंबना यह है कि उसे एक सीमित काल तक ही पैसे मिलेंगे । फिर उसे कोई देखेगा ही नहीं बल्कि उसके बारे में कहनेवाले भी नहीं होगा । इस सत्य की जानकारी होने के कारण वेश्या सदा अपने को "अभी तो मैं जवान हूँ" की प्रतीति सुरक्षित रखना चाहती है । "इस सारी बेपर्दगी और झुंझलाहट के बावजूद उनकी आँखें संभावित ग्राहकों को खोजती रही, कोई नजर आता तो झट से चेहरे पर मुस्कान ओढ लेतीं, लुभावने के इशारे करने लगतीं, उनके चेहरे से लगता जैसे ग्राहकों से भी कहीं अधिक ये वासना में अधीर हुई जा रही है । ग्राहक उपेक्षा में आगे बढ जाता तो इनके चेहरे से मुखोटा उतर जाता, चेहरे पर वितृष्णा, थकान उभर जाती, आँखों की चमक बुझ जाती, होंठ सिकुड जाते और रंडी मुँह में से पान की पीक थूँक देती ।"[2] इससे भिन्न होकर "जोत" और "निशाचर" नामक कहानियों में पुरुषवर्ग अपनी कामुकता की पूर्ति केलिए नारी जीवन को खत्म कर देते हैं । "जोत्" में जानकू की

---

1. झटकती राख – पृ: 110 – भीष्म साहनी ।
2. पटरियाँ – पृ: 101 – वही ।

प्रेरणा एवं शक्ति उसकी सुन्दरी बीवी थी जिसकी मृत्यु रेंजर के द्वारा होती है । "निशाचर" की बेटी की जान एक चौकीदार की कामुकता ने लुटायी है । "नीली आँखें" में भी स्त्री की सामाजिक असुरक्षा की पृष्टभूमि में नारी की हालत को रखा है । चाहे अस्पताल में लेटे पति की सेवा करनेवाली बीवी हो, जीवन बिताने केलिए काम करनेवाली निरीह औरत हो स्त्री-लम्पट की दृष्टि सैक्स पर आधारित ही होती है । "साये" नामक कहानी में पति से सहानुभूति और प्रेम न मिल पाने का दुख है तो "डेरे" की गृहलक्ष्मी की बात भी वही है । "तस्वीर" में विधवा की स्थिति को न पहचानकर बच्चे भी उसपर आरोप लगाते हैं । ससुर के शोषण से पीडित माँ सबके आगे दोषी ठहराती है । "मेरी ज़िन्दगी की बागडोर, जो पहले मेरे पति के हाथ में थी, अब मेरे ससुर के हाथ में आ गई थी । जिस भाँति मेरा पति मुझे हाँका करता था, अब मेरा ससुर मुझे हाँकने लगा था ।"[1] "पहिचान" में माता की ममता का चित्रण है तो "फूलाँ" में एक बाँझ औरत की पीडा है । "क्रिकेट मैच" की पुष्पा की बात इससे अलग होती है । उसकी विवशता इसमें है कि वह हर वर्ष में एक-एक बच्चे को जन्म देने केलिए बाध्य होती है । पति पेट भरकर अपने को स्वतंत्र महसूस करता है ।

"माता विमाता" में असली मातृत्व की समस्या है । इसमें एक उच्चवर्ग की अविवाहिता युवती अपने नवजात बच्चे को सामाजिक डर के कारण एक बनजारिन को देती है । बनजारिन बच्चे को किसी की परवाह के बिना अपना समझकर पालती है, उसे सामाजिक मान-सम्मान की चिन्ता नहीं, उसमें मात्र नारी सहज ममता है । लेकिन बच्चे की असली माँ को बच्चे से बढकर सामाजिक मान है ही । "सिर का सदका" और "विकल्प" दोनों की समानता इसमें है कि दोनों में एक व्यक्ति और उसकी दो दो बीवियाँ भी है । "सिर का सदका" की पहली बीवी मंझली है । वह अपने पति एवं दूसरी बीवी की उपेक्षा का शिकार है । पीडित एवं उपेक्षित ईश्वरो की सहायता गाँववाले करते हैं, इसबीच पति एवं पत्नियाँ एक हो जाती हैं । इसके समान "विकल्प" की पहली बीवी भी अपनी सुरक्षा और पति की सम्पत्ति से आकृष्ट होकर मायके नहीं चली जाती है ।

---

1. पटरियाँ - पृ: 54 - भीष्म साहनी ।

नारी समस्याओं के उद्घाटन करने केलिए भीष्मजी ने कुछ कहानियों और कुछ चरित्रों को प्रस्तुत किया है । उसमें "कण्ठहार", "मेड इन इटली की औरतों के अलावा कुछ और नारी पात्र हैं जो एकाध बार मात्र कहानियों में आते हैं । इनमें "चाचा मंगलसेन" के बलराम की बीवी, "खून का रिश्ते" के बडे भाई की पत्नी, "पिक्निक्" के"जज की सहधर्मिणी", "लीला नन्दलाल की" के युवक की बीवी इत्यादि आती हैं । ये सब कहानियाँ आधुनिक फैशनपरस्ती परम्परा विरोधी नज़र आती हैं । "कण्ठहार" की मालती अपने को सोसैटी लेडी बनाने की तेज़ी में अपनी विकलांग बेटी को अनदेखा ही नहीं अपना अभिशाप मानती है । वह सदा आईने के सामने खडे होकर सूरत देखती रहती है । वह बेटी सुषमा को अपने जीवन की प्रगति की बाधा समझती है और कहती है कि "हम रोज-रोज़ नए नए डाक्टर नहीं बुला सकते, तेरा इलाज करते करते तो हम अगले जहान में पहूँच जाएँगे ।"[1] वह मेहमानों के आगे झूठ बोलती है और सुषमा का पालन करने का दायित्व एक नौकरानी को सौंप देती है । मालती को सुषमा को देखते ही एक तरह की "मानिया" आती है । इस प्रकार की अमानवीय औरत भीष्मजी की कथाओं में कम है, लेकिन मालती के ज़रिए वे नारी वर्ग के इस अपमान को भी दिखाना चाहते है । "मेड इन इटली" की मीरा के माध्यम से आधुनिक "सोसॅटी लेडी" के विदेशी भ्रम, अन्धा अनुकरण, शापिंग की रुचि पर व्यंग्य करते हुए उसके परम्परा विरोध को भी दिखाया है । "मीरा ने तो अपने होटलों के बिल, हवाई जहाज़ के टिकट, यहाँ तक कि बसों और ट्राम तक के टिकट सँभालकर रख लिए थे । भारत में बिलायती टेपरेकार्डर ही क्यों, छोटे-से-छोटे कागज़ के पुर्जे का भी मूल्य रहता है ।"[2] पर यहाँ खण्डहरों, मूर्तियों, कलारूपों को कोई मूल्य नहीं है ।

भीष्मजी की कहानियों की परम्परा प्रेम भी स्त्री के माध्यम से ही हम देख सकते हैं । उनको शायद परम्परा के प्रति लगाव अधिक है इसलिए उन्होंने ऐसे अवसरों पर बूढियों का चित्रण किया है । "यादें" की दो बूढियाँ मिलते ही इतिहास

---

1. निशाचर - पृ: 43 - भीष्म साहनी ।

2. शोभायात्रा - पृ: 35 - वही ।

वर्तमान में आ जाता है । दोनों की मित्रता भी वर्षों पुरानी ही है । गोमा कहते वक्त "अपने सूखे-झुर्रियों भरे मुँह पर हाथ फरने लगी, मानों अकडी हुई झुर्रियाँ हँसने से खुलने लगी हो ।"[1] "चीफ की दावत" की माँ परम्परा एवं संस्कृति की प्रतीक बनकर आती है तो "भटकती रख" की दादी माँ अपनी परवर्ती पीढी को इतिहास की कथा के ज़रिए सामाजिक चेतना का अवगाह देती है । इससे भिन्न होकर "गीता सहस्सर नाम" की चाची है जो अपने को छद्म आधुनिकता का शिकार बना देती है ।

भीष्मजी से निरूपित नारी चरित्र की विविधता उनकी - कल्पना प्रसूत नहीं, हमारे समाज के विभिन्न स्तरों की नारियों के जीवन का वास्तविक सूक्ष्म चित्रण है । उसमें परम्परा और संस्कृति की प्रतीक औरतें हैं तो आधुनिकता के भ्रम में पडकर अपनी परम्परा एवं संस्कृति को भूलनेवाली औरतें हैं । लेकिन उनका ध्यान इससे बढकर समाज के हर तरह के अत्याचारों, शोषणों एवं उपेक्षाओं से पीडित, दलित नारी वर्ग पर है और उसमें निहित मुक्ति की इच्छा पर भी है । वह उनकी बसन्ती, प्रमिला, राधा, सुनन्दा, ललिता, चमेली इत्यादि के ज़रिए व्यक्त हुआ भी है । आर्यसमाजी धार्मिक एवं सामाजिक ढोंग से पीडित नारी के रूप में, निम्नवर्ग के अत्याचारों, उच्चवर्ग के शोषणों को एक साथ सहनेवाली नारी के रूप में, मायके एवं ससुराल से उपेक्षित नारी के रूप में, शिक्षा एवं सलाह के बल पर सम्पूर्ण समाज के साथ लोहा लेनेवाली नारी के रूप में भी उनकी नारी संवेदना व्यक्त हुई है ।

सामन्ती-पूंजीवादी शोषण के प्रति गहरा असन्तोष

सामाजिक न्याय और शोषण हीन समाज केलिए व्यक्तिगत पूंजी एवं व्यक्तिगत चिन्तन का बहिष्कार करना है । व्यक्तिगत पूंजी के कारण ही आर्थिक असमानता, शोषण, वर्ग-बद्ध समाज आदि अस्तित्व में आते हैं । भारतीय समाज ऐसी व्यक्तिगत पूंजी याने सामन्तवादी-पूंजीवादी और उसके पोषकवर्ग के पंजे में है । इससे मुक्त हुए बिना एक वर्ग रहित, शोषण हीन समाज का निर्माण संभव नहीं होगा ।

---

1. भटकती राख - पृ: 25 - भीष्म साहनी ।

पूंजीवादी ताकत के अलावा राजनीतिक कार्यकर्ता दफ्तरशाही लोग, तानाशाही इत्यादि भी ऐसी व्यवस्था के पोषक हैं । ये सब प्रजातंत्र के नाम पर पूंजीवादी-सामन्तवादी प्रथा के नीचे आम आदमी को दबा रहे हैं । "यद्यपि कहने को समाज के सभी शोषित वर्गों की सहानुभूति प्राप्त करने केलिए पूंजीपतियों ने प्रजातंत्र को जनता की भलाई केलिए जनता के प्रतिनिधियों का शासन बतलाया, लेकिन हम यह स्पष्टतः देख सकते हैं कि तथा-कथित शासन वास्तव में पूंजीपतिवर्ग के प्रतिनिधियों का शासक है जो कि जनता के हितों को ठुकराकर पूंजीपतियों के वर्ग स्वार्थ की रक्षा करता है ।"[1] कहा जाता है कि सामन्तवाद के बाद ही पूंजीवाद पनपने लगा है, लेकिन हमारे यहाँ दोनों एक साथ रहते हैं । आजकल के ज़मींदार की आमदनी ज़मींदारी के अलावा उद्योग धंधों से भी है । अतः पूंजीपति कभी भी ज़मींदारी उन्मूलन केलिए आगे नहीं बढेगा क्योंकि उससे अपनी आमदनी पर ही धक्का पहुँचेगा । "ऐसी हालत में उत्पादनों के साधनों पर व्यक्तिगत सम्पत्ति और उससे उत्पन्न होनेवाला सामाजिक शोषण को बनाए रखनेवाले पूंजीपति वर्ग और सामन्तवादी-वर्ग दोनों एक हो जाते हैं ।"[2] पूंजीवाद का विकसित रूप है साम्राज्यवाद । विकसित पूंजीपति-देश अपने माल केलिए बाज़ार की बराबर खोज करते हैं । यही कार्य पाश्चात्य देश पहले ही करते थे और भारत भी उसके पंजे में पडा है । "मुनाफा बढाने केलिए ही पूंजीपति व्यवसाय और मज़दूरों पर अधिकार जमाता है और फिर व्यवसाय का क्षेत्र बढाने केलिए दूसरे देशों पर अधिकार अर्थात् साम्राज्यवाद ।"[3]

समय और समाज के बदलाव के साथ शोषण का तरीका एवं शोषक का रंग भी भिन्न-भिन्न रूप में प्रदर्शित होता है । आज मनुष्य अनुसरण करनेवाले नहीं प्रश्न करनेवाले हैं, सोचनेवाले हैं, फिर भी उसे व्यवस्था के दमन में रहना पडता है । "देश तो वही है जिसमें पहले प्रेमचन्द और आज हम साँस ले रहे हैं । समस्यायें भी वही है,

---

1. राष्ट्रीयता और समाजवाद - पृ: 279 - आचार्य नरेन्द्र देव ।
2. राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद - पृ: 297 - वही ।
3. पार्टी कामरेड - पृ: 17 - यशपाल ।

जो मुँह फाडे पहले प्रेमचन्द के सामने और आज हमारे सामने खडी हैं । समाज का ढाँचा भी बहुत कुछ वही है, प्रथायें, चिन्तन, मूल्य भी बहुत कुछ वैसे - के - वैसे हैं ।"[1] क्योंकि आर्थिक परतंत्रता में प्रश्न करनेवालों और सोचनेवालों का पैर फिसल जाता है । इसलिए आर्थिक समानता उसकेलिए अनिवार्य है । "आर्थिक प्रगति जहाँ एक तरफ समाज को संस्कृत बनाती है, वहीं दूसरी तरफ व्यक्ति को अधिक सुविधायें भी प्रदान करती है कि समाज को और देश को और उन्नत बनाए । आर्थिक निश्चिन्तता के बिना देश और समाज प्रगति नहीं कर सकता ।"[2] स्वतंत्रता के बाद विदेशी साम्राज्यवादी सत्ता खत्म हुई देशी सत्ता कायम हुई । इसके साथ शोषक वर्ग ने भी अपने रूप, रंग और दृष्टि में बदलाव कर दिया । वे समाज सुधारक, प्रजातंत्र के स्नेही बन गए और शोषण मार्ग में विविधता को अपनाने लगे । "शोषण के आधार स्थूल न रहकर महीन-चालाक और विस्तृत हो गए हैं और आदमी के भविष्य को स्थगित करनेवाली शक्तियाँ जनवादी पोशाकें पहनकर उनके बीच घुस गयी है । इन शक्तियों की पहचान बराबर कठिन होती जा रही है और अपेक्षाकृत सजग दृष्टि की माँग करती है ।"[3] भारतीय बुर्जुआवर्ग "यूरोपीय ढंग का बुर्जुआवर्ग न होकर नवऔप निवेशिक आर्थिक हित के सीमांत पर विकसित होनेवाला बुर्जुआवर्ग था । फलतः नयी औद्योगिक समाज व्यवस्था के दमन और यांत्रिक के जवाब में मानवी सृजनशीलता के कुछ रूप सामने आए ।"[4]

भारत में मजदूरवर्ग जीवन बिताने केलिए अपनी श्रम शक्ति का विक्रय ही करता है । इसवर्ग को मार्क्स - एंगेल्स सर्वहारा कहते थे ।"[5] प्रगतिशील साहित्य में इसवर्ग के प्रति एक विशेष सहानुभूति है फिर भी आज के अस्पष्ट वर्ग क्रम में रचनाकार

---

1. अक्षर को रेखायें - पृ: 8 - डा. इन्दु वसिष्ठ ।
2. हिन्दी उपन्यास में युग चेतना और पाठकीय संवेदना - पृ: 11 - डा. मुकुन्द द्विवेदी
3. अक्षर की रेखायें - पृ: 77 - डा. इन्दु वसिष्ठ ।
4. तीसरा यथार्थ - पृ: 55 - डा. शम्भूनाथ ।
5. "सर्वहारा से हमारा मतलब उन आधुनिक मज़दूरों के वर्ग से है जिनके पास उत्पादन का अपना कोई साधन नहीं होता और जिन्हें जीवन यापन केलिए अपनी श्रम शक्ति का विक्रय करना पडता है ।" संकलित रचनायें -1 - पृ: 34 - मार्क्स एंगेल्स ।

निम्न मध्यवर्ग के प्रति भी अपनी सहानुभूति प्रकट करते हैं जो अर्थ की दृष्टि से आश्वस्त न हो । "यही साहित्य का समाजवादी यथार्थवाद है, जिसमें वह आर्थिक विषमताओं के मूल कारणों को पहचानता है और उन्हें समाप्त करने की दिशा में समाधान प्रस्तुत करता है ।"[1]

भीष्मजी सामाजिक जीवन केलिए आर्थिक समानता की अनिवार्यता को मानते हैं । यहाँ के रईसों तथा नौकरों को साथ रखकर उन्होंने आर्थिक असमानता के वैषम्य को दिखाया है । क्योंकि यहाँ खून का रिश्ता भी धन के आधार पर पक्का हो जाता है । वे मालिकों और नौकरों को साथ रखकर अपनी श्रमशक्ति के विक्रय करने गये सर्वहारे को और उससे अतिरिक्त धन कमानेवाले मालिक को भी दिखाते हैं । वर्ग - वैषम्य की भयावहता को प्रस्तुत करते वक्त ही भीष्मजी वर्ग संक्रमण की उत्कट इच्छा के कारण अपने जीवन को विषाक्त करनेवाले मध्यवर्ग को भी प्रस्तुत किया है । उनकी दृष्टि ने समाज के हर कोने, जहाँ तक अर्थ की मायाशक्ति का प्रभाव है वहाँ तक जाकर उसकी जाँच की है । उसमें शहर के रईस से लेकर गली में रेंगनेवाले बालक तक हैं । "साहनी ने अपने लेखन में आम आदमी की प्रतिष्ठापना कर उनकी भीषण त्रासदियों और कुरूपताओं को बहुत सहज स्वाभाविक ढंग से चित्रित किया है । साथ ही इन समस्त त्रासदियों से उसे मुक्ति दिलाने हेतु संघर्ष का आह्वान भी किया है । उनकी दृष्टि में बिना संघर्ष के सामाजिक जीवन में आमूल परिवर्तन असंभव है । यह संघर्षशील दृष्टि ही साहनी के लेखन की शक्ति है ।"[2]

बसन्ती निम्नवर्गीय जीवन का दुखद इतिहास है । उसमें एक ओर नारी की संघर्ष गाथा है तो दूसरी ओर उसके साथ चलनेवाली शोषण चाल भी है । इसमें एक पूंजीवादी एवं नौकरशाही शोषण तंत्र है तो दूसरी ओर पुलिस की दमन नीति भी है । भारत में स्वतंत्रता के बाद अकाल, सूखा आदि कारणों से ग्रामीण कृषक बेरोजगार हो गए हैं । ऐसे लोग खेती छोडकर शहर में भटकते हैं और शहर की गलियों में झोंपडियाँ

---

1. प्रगतिवादी हिन्दी उपन्यास - पृ: 11 - डा. बदरी प्रसाद ।
2. हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष - पृ: 379 - सं. डा. रामदरश मिश्र ।

बनाकर जीवन बिताते हैं । वे शहर में किसी भी काम करने केलिए भी तैयार होते हैं । धोबी, नाई, रसोईया, राज-मिस्तरी का - हर काम करते हैं, पेट पालने केलिए । शहर के बाहर इन्हें काम भी नहीं मिलता है । आधुनिक हौसिंग कॉलनी के सुविधा-भोगी वर्ग केलिए नगर-विकास योजना के नाम पर सत्ता इन झोंपडियों को मिटा देती है । फिर भी ये झोंपडियाँ बनाकर वहाँ ही रहते हैं । "इस प्रक्रिया में एक तरफ हमारे राष्ट्रीय सामाजिक यथार्थ के अनेक अन्तर्विरोध उभरकर सामने आते हैं, तो दूसरी तरफ जीवन में आ रहे परिवर्तन का भी बोध होता है । एक अन्तर्विरोध तो यही है कि दिल्ली फैलने लगी और देश के विभिन्न हिस्सों में अकाल पडने लगा, फलतः गाँव उजडने लगे ।"[1] सरकार द्वारा झोंपडियाँ उजाडने के पहले ही ये वर्ग का प्रतिनिधि मण्डल सरकार से अनुरोध करते हैं परन्तु यह सिलसिला जारी रहता ही है । हमने हाथ बाँधकर कहा, "मालिक, हम राजा-मिस्त्री, हम ही घर बनावै और हमें ही रहने की ठौर नहीं, लोगों को घर जुटावै और अपना सिर छिपाने केलिए जगह ही नहीं ।"[2] "महानगर में नए नए सेन्टरों और कॉलोनियों का निर्माण वस्तुतः इन लोगों के श्रम से ही होता है । इनमें से जो लोग वाकई राज-मजदूर होते वे भी इन नवनिर्मित कॉलोनियों के निवासियों की रोजमर्रा की कितनी ही जरूरतों और कामों को पूरा करने में मददगार साबित होते हैं ।"[3] सरकार के निर्देश पर यही राजमजदूर ही बीस रूपए केलिए अपनी कोठियाँ तोडते हैं । क्योंकि उनकेलिए बीस रूपए मूल्यवान हैं और झोंपडियाँ किसी-न-किसी तरह तोड जायेंगी । ऐसे गरीब लोगों के आगे आदर्श, मान-सम्मान कुछ नहीं है । वे सत्ता को, उच्चवर्ग को ही नहीं बल्कि राजनीतिक, मजदूर संघठन आदि केलिए भी नगण्य लगते हैं । चौधरी के सपरिवार राजस्थान से दिल्ली आते वक्त गाडी में उसके एक बच्चा खो जाता है और किसी एक बच्चे की टाँगें कट गयीं की खबर भी सुनता है ।

---

1. आलोचना - मार्च-अप्रैल, 1983 - पृ: 60 - सं. नामवर सिंह ।
2. बसन्ती - पृ: 8 - भीष्म साहनी ।
3. समीक्षा - जुलाई-सितंबर, 1983 - पृ: 14 - सं. गोपाल ।

मगर वह हिले बिना अपनी यात्रा पूरा करता है । "क्या मालुम बीबीजी, उसने सोचा हो, अगर मेरा बेटा है और अस्टेशन पर ही पडा रेंग रहा है तो उसे यहाँ लाकर क्या करना ? यहाँ लाऊँगा तो वह सडकों पर रेंगेगा । हमारी आँखों के सामने भी माँगेगा ।"[1] सत्ता एवं पुलीस के अलावा उन्हें प्रकृति भी सताती है । मध्यवर्गीय सूरी साहब एवं श्यामा बीवी बसन्ती पर चोर का इलजाम लगाते हैं और उसे छद्म स्नेह प्रदान करके शोषण भी करते हैं । "भीष्मजी के पास नागरिक जीवन और उससे संबद्ध समाज के विविध वर्गों की अपनी जिन्दगी के अच्छे खासे अनुभव हैं । वे उस टुच्ची और ओच्छी मानसिकता से भी बखूबी परिचित हैं जो इस नगर जीवन के तथाकथित संभ्रान्त वर्गों के आचरण का अंग बन गई है और सारे मानवीय नाते-रिश्तों को पीछे छोडते हुए नागरिक संस्कृति के रूप में पहचानी जा रही हैं ।"[2]

"झरोखे" उपन्यास आर्यसमाजी परिवार के नौकर तुलसीराम के ज़रिए लेखक अपना हमदर्दी प्रकट करते हैं । घर नौकर तुलसी के जीवन की विडंबना यह है कि वह अपने को ही नहीं, अपनी परम्परा को भी उसी घर में नौकर के रूप में सौंप देने को बाध्य होता है । लेकिन शिक्षा, जो हिन्दी होने पर भी उसमें जागरण होता है, जीवन के बारे में वह सोचता है । इसलिए अनजाने ही उसके मुँह से निकलता है कि "माता जी, ... क्या सारी उम्र मैं बरतन ही माँजता रहूँगा ।"[3] तुलसी बरतन मांजने से मुक्त होकर वैद्यगिरी पढने केलिए भेजा जाता है । परन्तु उसे वहाँ यही काम करना पडता है । अभिजात वर्ग उसे नौकर का ही काम देता है । "मैं तो कुछ दूसरी ही आशायें लेकर आया था कि औषधालय में मरीजों की भीड लगी होगी और ... यहाँ तो यह सीढियाँ धो रहा है ।"[4] उसे काम करने के सिवा खाने की फुर्सत भी नहीं मिलती है । इस बीच भी गालियाँ मिलती हैं और बीवी खाने का अनुरोध भी करती है । "रोटी अब

---

1. बसन्ती - पृ: 33 - भीष्म साहनी ।
2. प्रेमचन्द : विरासत का सवाल - पृ: 147 - डा. शिवकुमार मिश्र ।
3. झरोखे - पृ: 79 - भीष्म साहनी ।
4. वही - पृ: 91.

कब खाऊँगा? यह कोई वक्त है? प्रधान जी का घर नए मुहल्ले में हैं। वहाँ से हवनकुंड उठाकर सैदपुरी मुहल्ले में ले जाना है। इधर औषधालय भी खुलने का भी वक्त हो जाएगा।"[1] निरीह तुलसी को आज्ञापालन के सिवा और कुछ नहीं मालुम है। "वैद्यजी की पत्नी को सफाई का बहुत शौक है। बीस-पच्चीस बाल्टियाँ तो रोज़ ही भरनी पडती हैं। पढने केलिए वक्त नहीं मिलता।"[2] यही उसकी नियति है। उसे जीवन भर ऐसी सेवा करके जो कुछ मिलता है वह है आर्यसमाजी प्रभाव। वह अपने आप कह जाता है कि "वैद्यजी कभी पढाते हैं? कभी नहीं पढाते। मुझे तो वक्त ही नहीं मिलता। . . . देवकी को गाँव में छोड आऊँगा। अपनेलिए दो रोटियाँ सेंक लिया करूँगा। फिर शायद पढ़ पाऊँगा।"[3] तुलसी वहाँ से बैंक का सिपाही बन जाता है परन्तु वहाँ से भी हटाया जाता है। इसप्रकार तुलसीराम का जीवन कहीं नहीं पहुँच पाता है। "कडियाँ" में वर्ग संक्रमण गौण रूप में चित्रित है। उससे बढ़कर उसमें नारी-शोषण पर ही अधिक बल दिया गया है। "तमस" का विश्लेषण साम्राज्यवादी सांप्रदायिक राजनीति के वक्त किया गया है जिसमें पूँजीवादी सभ्यता एवं शोषण की झाँकियाँ अवश्य मिलती हैं। "तमस" में सम्राज्यवादी-पूँजीवादी शक्तियों का गढबन्धन है और उसके बीच में पडकर आम आदमी अपने स्वजनों की हत्या करने केलिए तैयार होते हैं। इसकी ओर अन्त में दोनों सिपाहियों के संवाद के माध्यम से प्रकाश डालते हैं। इसके पहले तेजासिंह की पूंजी का इशारा करते हैं, रईस शाहन बाज़ - रघुनाथ - लक्ष्मीनारायण की मित्रता के आधार को भी खोल देते हैं। अन्त में कम्युनिस्ट देवदत्त के द्वारा मरनेवालों में अधिक से अधिक निम्नवर्ग है, उसकी ओर संकेत भी करते हैं। इस प्रकार उक्त उपन्यास में भी साम्राज्यवादी-पूंजीवादी शक्ति आम जनता को तहस-नहस कर देती है।

"जोत" नामक कहानी में एक पहाडी किसान का त्रासदीय जीवन है। "भय, क्षोभ और उत्कंठा से जानकू का गला बार-बार रूंध गया। वह कभी इतना अकेला, निस्सहाय और आश्रयहीन नहीं हुआ था। न मालुम कितनी देर तक दोराहे पर

---

1. झरोखे - पृ: 93 - भीष्म साहनी।
2. वही - पृ: 94.
3. वही - पृ: 96.

बैठा रहने के बाद वह कांपते पांव और दोनों हाथों से "सिंधी" को पकडे हुए, रेंजर के घर की ओर मुड पडा ।"[1] जानकू अपनी खेती की रक्षा केलिए रेंजर से अनुरोध करता है और क्षण-भर की रक्षा करके रेंजर खेती का सर्वनाश भी करता है । निरीह जानकू को क्या पता था कि "हाकिमों की निगाह भी देवता की निगाह की तरह गोपनीय होती है । यह गोपनीयता उसकी असहाय अवस्था के चरम बिन्दु पर क्रूरतम त्रास के ज्वालामुखी की तरह उसे घेर लेती है ।"[2] क्योंकि "देवता और हाकिम दोनों को एक ही चीज़ तृप्त कर सकती है, और वह उसके पास नहीं । वह देवता के क्रोध को कैसे शान्त कर पाएगा ।"[3] रेंजर ने जानकू का सर्वनाश करके अपना काम सीफा कर दिया है । "अब सडक को मिलाने केलिए पुल की ज़रूरत होगी, न केवल पुल की ही बल्कि दो-तीन दावारों की भी, और छन-छन करते पैसे रेंजर की जेब में जाएंगे ।"[4] अन्त में जानकू हाकिम शामदास और देवता को पहचानता है तब तक वह दब जाता है । "मुर्गी की कीमत" में बेरोज़गार एवं गरीब व्यक्ति अपने परिवार का पालन करने में कैसी कठिनाइयों झेलता है उसकी ओर गहरा संकेत है । गरीबी के अलावा कर, महसूल जैसे सरकारी तंत्र भी तंग करते हैं । श्रुंगी के पास पहुँचते ही अहमद की सारी कमाई बर्बाद हो जाती है । तब उसे "हर एक चीज़ निरुद्ध, गतिहीन और भयानक नज़र आने लगी । अब उसे इस मुर्गी से कोई आकर्षण नहीं था ।"[5] "सबकुछ खोकर अहमद की आश्वस्ति प्रेमचन्द के हल्कू की मानसिकता के ही मेल में हैं कि खेत जला सो जला, अब रात में जागकर देखभाल करे तो कुछ नहीं है ।"[6] "तमगे" में युद्धप्रिय शासक और आम आदमी की वैपरीत्य को दिखाकर उसके अंदर छिपे कारणों की ओर संकेत करते हैं । शासक कभी-कभी अपनी स्थिरता, कभी-कभी अपना यश बढाने केलिए युद्ध करता है और युद्ध में मरे, विकलांग होनेवाले को "तमगा" देता है जिससे वह एक महान कार्य पूरा करने का एहसास करता है । उसे जनता की जान पर चिन्ता नहीं, जिसका जीवन युद्ध के नाम पर

---

1. भाग्यरेखा - पृ: 15 - भीष्म साहनी ।
2. आधुनिक साहित्य और इतिहासबोध - पृ: 139 - डा. नित्यानन्द तिवारी ।
3. भाग्यरेखा - पृ: 16 - भीष्म साहनी ।
4. वही - पृ: 21.
5. वही - पृ: 64-65.
6. दस्तावेज़ - जनवरी, 1985 - सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ।

खतम किया जाता है । "निशाचर" में बेरोज़गारी की भयावहता का चित्रण है । मनुष्य जीने केलिए जितना साहस करता है कि वह अपने जीवन को भी खतरे में डाल देता है । इसमें माँ एवं बेटी बाज़ार से रात में रद्दी कागज़ें इकट्टा करके अपना जीवन बिताती हैं । ऐसे काम में एक ओर प्राकृतिक अडचनें हैं तो दूसरी ओर चौकीदार की कामुकता भी । "माँ समझ गयी कि बेटी टण्ड खा गयी है, उसे जूडी चढी है । आज सुबह बाहर निकलते पर ही बेटी के दांत कटकटा रहे थे पर केसरो ने समझा था कि चलती हुई जब गलियाँ लांघने लगेगी तो इसका शरीर गरमा-जाएगा । पर ऐसा नहीं हुआ था और यहाँ पहुँचकर उसे जूडी चढ़ गयी थी ।"[1]

"शिष्टाचार" में मालिक के सभी गुण-दोष, शोषण-अत्याचार सहनेवाला नौकर अपना शिष्टाचार दिखाकर मालिक को भी दुविधा में लाता है । "साग मीट" में ऐसा ही एक नौकर है जो अपना अस्वीकार आत्महत्या द्वारा प्रकट करता है । जगा अपनी बीवी के मुँह काला करने का विरोध बिलकुल मौन होकर ही करता है तो दूसरी ओर मालिक अपने भाई की रक्षा पैसे के माध्यम से करता है । "कुत्ते के मुँह में हड्ठी दिल रहो तो नहीं भूँकेगा . . . सौ-पचास दे दो, तो गरीब का मुँह बन्द हो जाता है ।"[2] मालिक सबकुछ जानकर अपने भाई को अवगत करने केलिए दूसरों की जान भी देता है । "मुझे तो पहले दिन से मालुम था । मैं हक्की -बक्की इनके मुँह की ओर देखने लगी । जवानी में सभी बेवकूफियाँ करते हैं, इसने कर थी, तो क्या हुआ ।"[3] "छिपें चित्र" और "अपने अपने बच्चे" भी मालिक-नौकर को साथ-साथ रखकर उसके शोषण कार्य, अमानवीयता, सुविधाभोगिता को दिखाती है । नौकरानी को मिलने केलिए उसके बच्चे को भी घर में प्रवेश करने की अनुमति देना पडता है । चालाक् मालिक उसके बच्चे से भी काम करवाता है । अपने बच्चे को आलीशान कोठरी गहरी नींद में छोडकर चार वर्षीय निक्कू से वह अपना शू-पालिश करवाता है, जिसके लिए एक बिस्कुट देता है । इस प्रकार की चीज़ें दिखाकर निक्कू का शोषण समर्थ ढंग से घरवाला करता है ।

---

1. निशाचर - पृ: 66 - भीष्म साहनी ।
2. वाङ्चू - पृ: 32 - वही ।
3. वही - पृ: 43.

इससे थोडा भिन्न होकर "राधा अनुराधा" में खुद चौदह वर्षीय नौकरानी का शोषण करता है । इसमें जीने केलिए मनुष्य मनुष्य को बेचता है । "पिकनिक्" भी नौकरानी-मालिक की कथा है पर इसकी नौकरानी प्रश्न करनेवाली है । गौरी को अपने बच्चे को डालने केलिए कोई "क्रुश" नहीं, उसकेलिए प्रकृति ही क्रुश का काम करती है । "गौरी अपने सबसे छोटे बच्चे को कन्धे पर से उतारकर बाबू हरगोपाल के घर के सामने वाली चौडी सूखी नाली में डालने जा रही थी, जब वह ठिठक गयी । कुछ दिनों वह इसे यहीं डाल दिया करती थी, क्योंकि एक बार बच्चे को नाली में डाल दो तो वह नाली में से निकल नहीं सकता, इनसान का बच्चा होने के कारण छिपकली की तरह रेंगकर बाहर नहीं आ सकता, और गौरी निश्चिन्त होकर घरों में चौका बर्तन करने चली जाती थी ।"[1] यहाँ से हरगोपाल बच्चों को तंग करता है तो पेड के नीचे से वकील की बीवी भी । ऐसे अमानवीय दृश्य देखकर गौरी में वर्गबोध उत्पन्न होता है कि "क्या नहीं चलेगा, बीवीजी ' . . . हम इधर बैठते हैं तो आपका क्या लेते हैं ' . . . यह आपका घर नहीं है, यह सडक है । . . . हम आपके घर में नहीं बैठे हैं, सडक आपकी नहीं है ।"[2] आगे वह ललकारती भी है कि "उठवा के देख लो, देखें तो हमें कौन यहाँ से उठवाता है ।"[3] इससे भी खरा वर्ग-बोध हम "संभलके बाबू" नामक कहानी में देख सकते हैं । सुविधाभोगी वर्ग अपने नौकरों को कभी मारता है तो कभी गालियाँ भी देता है । लेकिन आज का नौकर काम करता है, मालिक के मार-पीट का जवाब भी देता है । इसका नत्थू शिष्टाचार के नत्थू के समान नहीं, वह अपने अधिकारों के प्रति सजग है । अपने को मारते वक्त "नत्थू ने झट से अपना दायाँ हाथ आगे बढाकर रमेश की कलाई पकड ली, "संभलके बाबू, क्या बात है '."[4] पूछता है ।

भीष्मजी ने अत्याचारी शासक के स्वार्थ, आसक्ति एवं शोषण को व्यक्त करने केलिए लोक कथाओं का प्रयोग किया है । इसके द्वारा उन्होंने शासक की कूट नीति एवं उसके उद्देश्यों को दिखाया है, साथ ही अपने प्रगतिशील चिन्तन को व्यक्त करने

----

1. वाङ्चू - पृ: 45-46 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 53-54.
3. वही - पृ: 54.
4. निशाचर - पृ: 81 - वही ।

केलिए भी कहीं इसका प्रयोग किया है । "अनोखी हड्डी" में शासक की विषय वासना देश को दिशाहीन बना देती हैं । इससे शासक को हटाने केलिए एक बूढा आदमी अनोखी हड्डी का प्रयोग करता है । "महाराज, मेरे बूढे लहू में तो कोई स्पन्दन नहीं, कोई जीवन नहीं, पर एक युवक का लहू या एक सरल बालक के शरीर का लहू तो अपने स्पर्श मात्र से हड्डी को हिला लेगा ।"[1] इस प्रकार बूढा-युवा लहू याने मनुष्य जीवन के मूल्य का अवगाह देता है । "रानी महतों के द्वारा देश की प्रगति केलिए निस्वार्थ, संयमी एवं सशक्त शासन की अनिवार्यता की ओर संकेत करते हैं । राजा स्वार्थ एवं कामुक होने पर शासन ही नहीं पूरा देश ही बिगड जाएगा । "शोभायात्रा" में अत्याचारी शासक के जनवादी ढोंग का परदाफाश करते हैं तो "भटकती राख" अच्छे इतिहास के ज़रिए आगे की समृद्धि की कामना करती है । इसमें एक युवक समाज का रुदन सुनकर अपना घर छोड आता है और कहता है कि "मैं घर कैसे जा सकता हूँ माँ, झोंपडे में से रोने की आवाज़ जो आ रही है ।"[2] युवक घर, माँ-बाप सबकी उपेक्षा करके सामाजिक न्याय केलिए लडता है । "यह युवक उन लोगों के दल से जा मिला जो आततायी के साथ लोहा ले रहे थे । उसके बहुत से साथी मौत के घाट पर उतार दिए गए । अन्यायी उसे भी बार-बार काल कोठरी में डाल देते ।"[3] ऐसा युवक राजा बनने पर देश की प्रगति हुई है । दादी माँ उस राजा की राख की स्थायित्व की कामना करती है कि "तुम सदा यही मनौती करो कि राज की राख सदा चमकती रहे, देश में सुख-चैन बना रहे, वह हमारी खुशियों को देखकर मुस्कराते रहे ।"[4]

आजकल रिश्ता का आधार मानवीयता का खून का रिश्ता न होकर धन-दौलत और पोजीशन है । ऐसी व्यवस्था में मानवीयता के अंश मिट रहे हैं, व्यवसायिक दृष्टि वृद्धि कर रही है । "इसमें शक नहीं कि इनसानी रिश्तों में आर्थिक तत्व की बडी महत्वपूर्ण भूमिका होती है, विशेष रूप से ऐसे समाज में जहाँ विषमतायें

---

1. भाग्यरेखा - पृ: 43 - भीष्म साहनी ।
2. भटकती राख - पृ: 11 - वही ।
3. वही - पृ: 12.
4. वही - पृ: 15.

अधिक हो, जहाँ गरीब लोगों और धनी लोगों के बीच बहुत बडी खाई पायी जाती हो ।"[1] "खून का रिश्ता" में मंगलसेन अपने बडे भाई के साथ एक नौकर की हैसियत में जीता है । बडे भाई सबके संमुख उसे गालियाँ देता है और नौकर तक उसे तोल देता है । भाभी, बेटी, बडे भाई सब उस खून के रिश्तेवाले के समान नहीं मानते हैं । वीरजी की सगाई के वक्त चाचा को लेते वक्त माँ कहती है कि "हाय हाय बेटा, शुभ-शुभ बोलो ! अपने रईस भाइयों को छोडकर इस मरदूद को साथ "ले जाये' सारा शहर तू-तू करेगा ।"[2] साधारणतया खून के रिश्ते का बल ऐसे अवसरों पर होता था लेकिन आजकल खून का रिश्ता रिश्ता नहीं है । इसके विपरीत चाचा मंगलसेन का चाचा अपने रिश्तेदार बलराम के पास ठहरना नहीं चाहता है, क्योंकि आलीशान घर उसकेलिए मरण कोठरी के समान है । उसे अच्छा रिश्ता चाहिए, वीरजी के रिश्ते के पीछे उसे सामाजिक डर सताता है । "मुझे अपनी मिट्टी में मरने दो । . . . मुझे फिर लेने चले आये, पर मुझे माफ कर दो । मैं नहीं जाऊँगा । मरने पर मेरे मुँह में गंगाजल डालनेवाले यहाँ बहुत हैं । मुझे फूँक आएंगे ।"[3] "गीता सहस्सर नाम" में बूढी चाची ही नहीं सारा परिवार रिश्ते को धन के मापदंड से तोलता है । "पटरियाँ" का केशोराम की हालत भी यही है । उसका ध्यान, उद्योगपति ससुर नहीं करता है, उसके कारखाने का रसोइया भी उसे उसी लहजे में देखता है । केशोराम "अपने ससुर चोपडा साहिब से मिलने गया तो बातें करते हुए चोपडा साहिब ने अपना पाँव उठाकर उनकी कुर्सी पर रख दिया था ।"[4] वहाँ से उतरते ही उसे वास्तविकता का बोध होने लगा । "सबसे बडी चीज़ दुनिया में पैसा है, पोजीशन है । बाकी सब ढकोसला है । सब बकवास है । ताकत और पैसा और रोब-दाब, इनसे बढकर कोई चीज़ दुनिया में नहीं है ।"[5] केशोराम अपने के ऊपर की पटरी में बदलने की कोशिश कर रहा था परन्तु उसकेलिए दोनों पटरियाँ सदा समानान्तर ही चलती रहती है । इस प्रकार "कुछ और साल" की मित्रता भी

---

1. साहित्यिक साक्षात्कार - पृ: 269 - डा. रणवीर रांग्र ।
2. भटकती राख - पृ: 51 - भीष्म साहनी ।
3. निशाचर - पृ: 28-29 - वही ।
4. पटरियाँ - पृ: 13 - वही ।
5. वही ।

धन-दौलत एवं पोजीशन की नींव पर खड़ी है । "ललक" वर्ग-संक्रमण की बात को एक बालक के जरिए प्रस्तुत करती है । "चीफ की दावत" में वर्ग संक्रमण की बात को बहुत कलात्मक ढंग से चित्रित किया गया है । इसमें शामनाथ अपनी तरक्की और उससे आर्थिक उन्नति की आशा करता है और उसी लक्ष्य में वह चीफ को दावत देता है । "चीफ की दावत" में उन्होंने निम्नस्वार्थी मनोवृत्ति की आंखों में आदमी को वेस्ट मटेरियल के रूप में परिवर्तित होते और इस्तेमाल की आधारभूमि पर खड़े होते हुए संबन्धों के अमानवीकरण को बेलाग ढंग से बेनकाब किया है । दरअसल वे नई पीढ़ी में पनपती हुई ऋणात्मक आधुनिकता, स्वार्थपरता और संवेदन हीनता को बरदाश्त ही नहीं कर पाते और संबन्धों में मौजूदा विसंगति को उखाड़कर रख देते हैं ।"[1] "ललिता" में दो भिन्न वर्गों को सामने रखकर उच्चवर्ग की उच्छृंखलता और निम्नवर्ग की प्रतिशोध की भावना को भी पकड़ा है । "भाई बन्द" में नौकरी की तलाश करनेवाले पिता-पुत्र हैं जो विज्ञापन के भ्रम में आए हुए हैं ।

"गंगो का जाया" में गरीबी की कथा है । पेट पालने केलिए पति-पत्नी ही नहीं, तरुण-बालक भी काम करने केलिए बाध्य हो जाता है । जिसकेलिए स्कूल जाना चाहिए वह {रीसा} पालिश और ब्रुश लेकर गली में घूमता है । भाग्य रेखा में एक ओर जीवन बिताने केलिए मार्ग ढूढनेवाला ज्योतिषी है तो दूसरी ओर मई दिवस के मजदूरों के जुलूस में अपने भाग्य खोजनेवाला मजदूर है । "पास फेल" में वर्ग संक्रमण की बात कही है तो "सुनहरी किरण" में बनजारों का निस्वार्थ जीवन-यापन है, जिनमें स्वार्थ लोप कुछ नहीं है । "प्रोफसर" सच्चे प्रगतिशील कलाकार के गुण एवं निम्नवर्ग और कलोपासना के बीच की खाई को भी व्यक्त करती है । "वह तस्वीरों से अपना या अपनी माँ का पेट पालेगा' . . . मैं उसे तालीम इसलिए दे रहा हूँ कि अपने पावों पर खड़ा हो सके ।"[2] "फैसला", "कुछ और साल", एवं "खूँटे" में दफ्तरशाही राजनीतिक गठबन्धन के बीच पिसते कर्मचारी एवं आम आदमी को उभारा है तो "खिलौना" में आधुनिक समाज के नौकरी-पेशे दम्पति के बच्चे की नियति की बात पर प्रकाश डाला गया है ।

---

1. आधुनिक हिन्दी कहानी - पृ: 122 - सं. गंगाप्रसाद विमल ।

2. भटकती राख - पृ: 161 - भीष्म साहनी ।

"मौका परस्त" में राजनीतिक शोषण का एक भाग है । इसका "रामदयाल सामाजिक राजनीतिक क्षेत्र में आदमीयत के मुखौटे में पनपती हुई जनघाती अवसरवादी मनोवृत्ति का प्रतीक है । यह अवसरवादी मनोवृत्ति शवयात्रा को भी मौके का फायदा उठाने केलिए समारोह में बदल लेती है । यहाँ उजले प्रदर्शन के भीतर छिपे अन्धेरे का अर्थ खोलने में लेखक तटस्थ दर्शक न होते हुए संवेदनशीलता और सक्रियता के स्तर पर शोषित पीडित निरीह आदमी से संबद्ध है ।"[1] हमारे देश में जनता का शोषण आज इसप्रकार के जननायक ही करता है । उसके चाल में पडकर हम खुद उसकेलिए जीते हैं । "गलमुच्छे" में लेखक राजनीतिक लोगों के व्यवसायी बनने के पीछे की राजनीति को खोल देते हैं । मज़दूर संघटनों की सेवा करके नेता खुद व्यवसायी बन जाता है । "फिर धीरे-धीरे वह यूनियन के काम से दूर होता गया था और अपने व्यवसाय की ओर ज़्यादा ध्यान देने लगा था । . . . अब वह एक इन्स्टीट्यूट का डायरेक्टर था, जबकि मैं पहले की ही भाँति यूनियन और पार्टी के ही काम में लगा हुआ था ।"[2] इस तरह लेखक दो स्तर के दो राजनीतिज्ञों को एक साथ रखकर आश्वस्त हो रहे हैं कि एकाध सच्चे समाजसेवी हमारे देश में अब भी जीवित हैं । "नयामकान" में क्रान्तिकारी गिरिजा क्रान्ति में तल्लीन होकर एक नया मकान बनवाता है और उसमें एक इनक्विलाबी कमरा भी बनवाता है जहाँ शराब की बोतलें, सिगार और किताबें रखी हैं । "मुर्ग मुसल्लम" में राजनीतिक लोग और अफ्सरों के बीच का संबन्ध याने आपस की सहायता की बात है तो "रामचन्दानी" में सच्चे राष्ट्रवादी का सही चित्र है ।

भीष्मजी ने अपने कथा साहित्य में जीने केलिए संघर्षरत मानव और वर्तमान व्यवस्था में उसकी कारुणिक स्थिति को चित्रित करके अपनी प्रगतिशील चेतना का परिचय दिया है । उनके कथा साहित्य में विचारधारा का आधिक्य नहीं है । एकाध कहानियों को छोडकर उसमें राजनीतिक रंग भी अधिक नहीं है । साधारण जीवन की विषमताओं के चित्रों के द्वारा मनुष्य अपनी आर्थिक उन्नति की कोशिश कैसे कर रहा है,

---

1. आधुनिक हिन्दी कहानी - पृ: 122 - सं. गंगाप्रसाद विमल ।
2. वाड्चू - पृ: 68 - भीष्म साहनी ।

समाज में व्याप्त आर्थिक एवं सामाजिक पिछडेपन की दशा कैसी है, इन सबको उन्होंने मार्मिक ढंग से उभारा है । उनके कथा साहित्य में वर्ग-संघर्ष की अपेक्षा वर्ग-संक्रमण का उल्लेख अधिक हुआ है । उनके रचना संसार में नौकर-नौकरानी, धर्मभीरु लोग, अशिक्ष तथा वर्षों से शोषित नारी वर्ग एवं सच्चे राजनीतिक कार्यकर्ता सब तरह के लोग मिलते हैं । समय और समाज के परिवर्तनों के अनुसार मानव जीवन में आए परिवर्तनों को वे विभिन्न वर्गों के जीवन के द्वारा चित्रित करते हैं । वास्तव में उनकी रचनाओं का मंतव्य एक वर्गहीन एवं न्याययुक्त समाज ही है जिसमें मनुष्य मनुष्य के रूप में जी सकता है । भीष्म जी के कथा साहित्य में उनका जीवन दर्शन ही व्यक्त हुआ है जो उनकी प्रगतिशील चिन्तन ने स्थापित किया है ।

अध्याय - छः

भीष्म साहनी के कथा-साहित्य की शिल्पगत विशेषतायें

अंग्रेज़ी के "टेकनीक" शब्द के समानार्थक शब्द के रूप में हिन्दी में शिल्प शब्द प्रचलित है । अंग्रेज़ी में इसके क्रैफ्ट, स्ट्रक्चर, फार्म आदि पर्यायवाची शब्द हैं । हिन्दी में शिल्प शब्द ही अधिक उपयुक्त दीखता है । लेकिन हिन्दी के कुछ आलोचकों ने इस शब्द का अर्थ बहुत सतही तौर पर समझा है और इसका प्रयोग शैली विशेष केलिए किया है । मगर शिल्प का संबन्ध वास्तव में कृति की रचना प्रक्रिया से है[1], अतः शिल्प की आलोचना रचना-प्रक्रिया के प्रकाश में ही की जानी चाहिए । क्योंकि "रचना प्रक्रिया के भीतर न केवल भावना कल्पना बुद्धि और संवेदनात्मक उद्देश्य होते हैं, वरन् वह जीवनानुभव होता है, जो लेखक के अन्तर्गत का अंग है, वह व्यक्तित्व होता है, जो लेखक का अन्तर्व्यक्तित्व है, वह इतिहास होता है, जो लेखक का अपना संवेदनात्मक इतिहास है ।"[2]

सामान्यतया किसी वस्तु अथवा कला के निर्माण में जिन तत्वों का जिन साधनों का, जिन प्रणालियों का आद्यन्त उपयोग होता है, वही उस वस्तु की शिल्पविधि कहलाती है । शिल्पविधि के अन्तर्गत रचनाकार के बुद्धिकौशल का भी पूर्ण सहयोग रहता है । प्रयुक्त उपकरणों का समुचित प्रयोग एवं सुयोग्य रूप-निर्धारण बुद्धि कौशल पर ही

---

1. इस काल में मुख्य था कथ्य, सन्दर्भ, नयी यथार्थता, जिसमें शिल्प प्रयोग का प्रश्न ही नहीं था । बल्कि हम यों कह सकते हैं कि शिल्प इसकी रचना प्रक्रिया का एक अत्यन्त स्वाभाविक-सहज अंग था ।" - पृ: 102 - आधुनिक हिन्दी कहानी - डा. लक्ष्मीनारायण लाल ।

2. नए साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - पृ: 82 - ग. म. मुक्तिबोध ।

निर्भर रहता है । शिल्प का महत्व मनोवेगों और भावों को स्पष्ट आकार देने में सहायक सिद्ध होता है । अच्छी शिल्प-विधि वही है जो सही वस्तु को, सही समय, सही परिप्रेक्ष्य में सही ढंग से प्रस्तुत कर दे ।

अधिकांश आलोचक फार्म या रूपाकार को बाह्य मानते हुए भी विषय से अन्तरावलंबित मानते हैं । ई. एम. फॉस्टर किसी न किसी रूपक्रम को अनिवार्य मानते हुए उसे भीतरी सन्तुलन व्यवस्था का साक्ष्य और ऊपरी परत या खोल मानते हैं ।[1] प्रशस्त उपन्यासकार हेनरी जेम्स टेकनीक को साधन न मानकर साध्य की सीमा तक खींच कर ले गये । "टाइम एण्ड नॉवेल" में उनका कथन है कि "वह समय बीत गया जब शिल्प को मात्र साधन माना जाता था, जिसके द्वारा अनुभूत सत्य को गठित कर अपने हित में ढाल दिया जाता था ।"[2]

हिन्दी के आलोचकों ने भी शिल्प-संबन्धी अपनी-अपनी धारणायें व्यक्त की हैं । डा. सत्यपाल चुघ ने विषयवस्तु को कला-रूप में ढल जाने अथवा ढालने की प्रक्रिया को शिल्प विधि कहा है । उनके अनुसार "उपन्यास-रचना में जिस प्रक्रिया से लक्ष्य तथा संवेदनानुभूति उसके तत्वों, कथानक, पात्र, वातावरण आदि में परिणत हो, औपन्यासिक रूप का निर्माण करते हैं वही शिल्प विधि है ।"[3] डा. लक्ष्मीनारायण लाल के अनुसार "किसी भाव को एक निश्चित रूप देने केलिए जो विधान प्रस्तुत किए जाते हैं, वही उस कला की शिल्पविधि है ।"[4]

---

1. 'Form of some kind of imperętive. It is the surfgce crust of the inferred harmony, it in the cultural evidence of order'. - p.102 - Two Cheers for Democracy - E.M.Forster.

2. The time has long passed when technique could be taken simply to mean the ways in which a given body of experience may be organised and manipulated to the test advantage - p.234 - Time and the Novel - A.A.Mendilow.

3. प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प विधि - पृ: 10 - डा. सत्यपाल चुघ ।

4. हिन्दी कहानियों की शिल्प विधि का विकास - पृ: 2 - डा.लक्ष्मीनारायण लाल ।

शिल्प के संबन्ध में भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों की व्याख्याओं की एक सामान्य समानता यह है कि इनमें अधिकांश आलोचक फार्म या रूपाकार को बाह्य मानते हुए भी विषय से अन्तरावलंबित मानते हैं। शिल्परचना की आभ्यंतर स्थिति है। अतः जिस रचना का शिल्प शिथिल है, वह अपने कथ्य के महत्व के बावजूद अपूर्ण ही होती है। तब शिल्प कृति का बाह्य अवयव न रहकर उसकी आन्तरिक स्थिति बन जाती है जहाँ लेखक, उसका परिवेश, रचना का सामान्य सत्व आदि आलोचना के केन्द्र हो जाते हैं।

उपन्यास कोई ठोस वस्तु नहीं है। आवश्यकतानुसार रचनाकार नई नई शिल्पविधियों का विनियोग कर सकता है, जो उसके भिन्न-भिन्न कोणों से देखने की दृष्टि को स्पष्ट करने में सहायक होती है। वस्तुतः उपन्यास की शिल्पविधि का निर्धारण मुख्यतः उपन्यासकार के दृष्टिकोण पर ही अवलंबित होता है। इस संबन्ध में पर्सी लुब्बक का कथन है कि "उपन्यास कला की शिल्प विधि अथवा कारीगरी की जटिलता का निर्धारण मूलतः कथाकार के दृष्टिकोण पर निर्भर है। कथाकार का कथा के साथ जो दृष्टिपरक संबन्ध होता है, वही आखिर में उपन्यास का शिल्प निर्धारण करता है।"[1]

उपन्यास के शिल्प से तात्पर्य उसकी आभ्यन्तरीकृत विशेषताओं से है जो उपन्यास का समग्र रूप ही है। औपन्यासिक शिल्प औपन्यासिक कृति का वह आकलन है, जिसमें समकालीन स्थिति बोध से जनित लेखक के दर्शन की संवेदनात्मक परिणति है जो पात्रों के रूप में औपन्यासिक स्थिति के रूप में परिवर्तित होकर कृति की निर्मिति में सहायक होती है।

आधुनिक उपन्यास अपने कथ्य में ही नहीं शिल्प संरचना में भी परिवर्तन को स्वीकार करता ही है। "आधुनिक उपन्यासों में कथ्य और चरित्र की पूर्व, निर्धारित ठोस धारणायें नहीं रहतीं। आधुनिक उपन्यासकार इन तत्वों का नए

---

1. 'The whole intricate question of method in the craft of fiction, I take to be governed by the question of point of view the question of relation in which the narrator stands to story'- p.251 - The craft of Fiction - Percy Lubbock.

ढंग से संयोजन करता है । वह कथावस्तु और चरित्र को परस्पर घुला देने या संतुलित करने का प्रयत्न करता है । उसका काम परिवेश या परिस्थिति के टकराव के स्वरूप को प्रत्यक्ष करना या किसी मानव-स्थिति से उनके संबन्ध को रेखांकित करना है । इस तरह आधुनिक उपन्यासकार परिस्थिति को चरित्र में और चरित्र को मानव-स्थिति के उद्घाटन में अंतर्बद्ध करता है । परिस्थिति, चरित्र और मानव स्थिति उपन्यास में अलग से अपनी चमक नहीं दिखाते बल्कि वे परस्पर मिलकर औपन्यासिक अनुभव या विचार को गहराते हैं । इस तरह की रचनात्मक अन्तःसंबद्धता उपन्यास के आधुनिक पहलू की पहचान का एक महत्वपूर्ण बिन्दु है ।"[1] आधुनिक उपन्यास लेखक का 'भोगा हुआ यथार्थ' पर आधरित अधिक है । अपने विचार को केन्द्र में रखकर वह उसका चयन करता है । "आधुनिक उपन्यास के मूल में अनुभव या विचार ही है । अनुभव या विचार को केन्द्र में रखना और उसके गिर्द कथा या चरित्र का विधान करना और अनुभव को उसकी आन्तरिक शक्ति से या विचार के आधार पर खोलना और फैलाना आधुनिक हिन्दी उपन्यास और उसकी संरचना का एक विशिष्ट गुण है, जो परम्परागत उपन्यास के रचना विधान और तत्वनिरूपण से भिन्न एक सर्वथा स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान करता है ।"[2]

उपन्यास की शिल्प-संरचना

आधुनिक उपन्यास का शिल्पगत प्रयोग भीष्मजी के उपन्यासों में नहीं है । उनकी शिल्प-संरचना सायास प्रक्रिया नहीं है । इसलिए यह नहीं कह सकते हैं कि उन्होंने शिल्प के पुराने मायनों को ज्यों-का-त्यों स्वीकारा है । उनके उपन्यासों का शिल्प न अत्याधुनिक है और न परम्परागत । उनकी शिल्पगत विशेषतायें प्रमुखतः कथानक, पात्र-परिकल्पना, भाषा एवं शैली में देखी जा सकती हैं ।

---

1. आधुनिक हिन्दी उपन्यास - पृः । - सं. डा. नरेन्द्र मोहन ।
2. वही ।

कथानक

"मुझे कहानी का ताना-बाना बुनने की, प्लॉट बनाने की ज़रूरत नहीं है । मुझे केवल अपने अनुभवों को फिर से जीना है, जीवन को उसके अनगढ़ रूप में पेश कर देना है, वैसे ही जैसा मैं ने उसे देखा था, पाया था ।"[1] भीष्म जी का यह वक्तव्य उपन्यास और कहानी के कथानक के प्रति उनके दृष्टिकोण को पहचानने में सहायक हुआ है । वे अपने उपन्यासों में जीवनानुभवों को औपन्यासिक रूप देने का प्रयास करते हैं । इसलिए भीष्मजी के सभी उपन्यासों के कथानकों में विविधता दिखाई पडती है । इसके बावजूद उनके उपन्यासों के कथानक की एक सामान्य विशेषता उनकी कलात्मक चारुता है । चाहे सुसंगठित या असंगठित उनके उपन्यासों में कथानक कथ्य की प्रकृति के अनुरूप बनाया गया है । इसका प्रमाण यह है कि उनके चारों उपन्यासों में-जो विषयवस्तु की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न हैं - कथानक के चार नमूने देख सकते हैं । कथानक की यह विविधता उनके उपन्यासों को अधिक संवेदनीय बना देती है ।

"झरोखे" भीष्मजी का आत्म कथात्मक शैली में लिखित पहला उपन्यास है । इसके कथानक में खास प्रकार की नवीनता नहीं है । प्रस्तुत उपन्यास में लेखक के बचपन से लेकर यौवन तक के जीवन के महत्वपूर्ण पहलुओं का यथार्थ के धरातल पर चित्रण हुआ है । इन महत्वपूर्ण पहलुओं को अधिकाधिक स्वाभाविक बनाने केलिए कथानक में ऐसी क्षमता होनी चाहिए कि वह सरल एवं गतिशील हो । क्योंकि यहाँ लेखक एक कल्पित कथा को नहीं, बल्कि अपने ही जीवन को उसकी असलियत में प्रस्तुत किया है । इसलिए भीष्म जी ने कथानक में अधिक चमत्कार, कृत्रिमता लाने की चेष्टा न करके, घटनाओं को उसकी सादगी के साथ प्रस्तुत किया है ।

आत्मकथात्मक शैली में लिखित इस उपन्यास के कथानक में प्रारंभ, मध्य, क्लैमैक्स आदि तत्वों को खोजना मूर्खता होगी । ये सारे तत्व किसी कल्पना प्रधान उपन्यास में शायद देखने को मिलेंगे । इन तत्वों के अभाव के बावजूद प्रस्तुत उपन्यास में

---

1. अपनी बात - पृ: 189 - भीष्म साहनी ।

शिथिलता नहीं है, बल्कि रोचकता बनी रहती है । इसका प्रमुख कारण प्रस्तुत उपन्यास की कथा के प्रस्तुतीकरण की सफलता है । यह सफलता झरोखे को उपन्यास और आत्म-कथा के बीच ला खडा कर देती है । लेखक ने स्थितियों, पात्रों एवं घटनाओं को इस विदग्धता से प्रस्तुत किया है कि वह सचमुच आत्मकथा ही लगता है, उपन्यास थोडे ही ।

लेखक ने अपने बचपन से लेकर यौवन तक के करीब चौदह साल की कथा को औपन्यासिक रूप दिया है । एक लघु उपन्यास में यह अवधि इतनी लंबी होने के कारण उपन्यास में कुछ जगहों में बिखराव आया है, विशेषतः उत्तरार्द्ध में ।

"कडियाँ" में भी कथानक की दृष्टि से कोई नवीनता नहीं दिखाई पडती है । पूरा उपन्यास एक लंबी कहानी का रूप धारण कर लेता है । केवल अवान्तर स्थितियों को ही अलग किया गया है । कथानक की अनेक स्थितियाँ जुडकर एक बिंब की रचना करती है । महेन्द्र और सुषमा का संबन्ध, महेन्द्र और नाटा की मित्रता, प्रमिला और सतवन्त की मित्रता आदि के अलावा पारिवारिक विसंगति के बीच माँ-बाप के सन्दर्भ से कटा पप्पू का त्रासद जीवन का चित्र उभरता है ।

प्रस्तुत उपन्यास में भीष्म जी ने समन्वित कथानक के अपनाया है । कथानक का विकास संवादों और विश्लेषणों से हुआ है । उपन्यास में विचारों के साथ-साथ घटनायें भी हैं, अतः कथा की प्रवाहमयता बनी रहती है । ये घटनायें पात्रों की मनःस्थिति को उजागर करने में और कथा को आगे बढाने में सबसे अधिक सहायक होती हैं । उपन्यास के उत्तरार्द्ध की घटनायें इस दृष्टि से अधिक सक्षम हैं । पप्पू के स्कूल की घटनायें, महेन्द्र का प्रमिला के साथ के व्यवहार आदि इसके उदाहरण हैं ।

मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि भीष्म जी ने इस उपन्यास के कथा-विन्यास में यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाया है । नए-नए प्रयोगों के पीछे पडकर उपन्यास के कथ्य को दुरूह बना देने की जगह उन्होंने प्रचलित और परिमित साधनों के द्वारा "कडियाँ" का निर्माण किया है । उनके अन्य उपन्यासों से इसकी भिन्नता केवल इसमें है कि इस उपन्यास में उन्होंने सामाजिक पहलुओं की अन्दरूनी बारीकियों को उतना अधिक देखा-परखा नहीं है, जितना व्यक्ति मन और व्यक्ति संबन्धों की गहराइयों को । कथानक की बुनावट में उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण इस उपन्यास के कथानक में सबसे कम काम करता दिखाई पडता है ।

"झरोखे" और "कड़ियाँ" की अपेक्षा भीष्मजी के प्रसिद्ध उपन्यास "तमस" में कथानक की नवीनतायें देखी जा सकती हैं । "तमस" विभाजन पूर्व की तत्कालीन सांप्रदायिकता को लेकर लिखा गया उपन्यास है, जो बाद में विभाजन का कारण बन गया है । समय और स्थान की दृष्टि से "तमस" की कथावस्तु अत्यन्त सीमित है । विभाजन के पूर्व के पाँच दिन की कथा को पश्चिमी पंजाब के एक शहर और तीन गाँवों की सीमा में बांधा गया है ।

"तमस" में कथानक का विकास छोटे छोटे अनुभव खण्डों के संयोजन से हुआ है । अजीब-सी सादगी और तटस्थता से लेखक इन अनुभव खण्डों से पाठक को गुज़ारते हैं । ये अनुभव खण्ड स्वतंत्र अस्तित्व रखनेवाली छोटी-छोटी कहानियों के समान लगते हैं, जिनको भीष्मजी ने कुशलता से एकसूत्र में बाँधा है । उपन्यास में कहानियों का ऐसा संयोजन हिन्दी उपन्यास शिल्प में नवीन कहा जा सकता है । डा. नन्दकिशोर नवल भीष्मजी के कहानीकार-व्यक्तित्व को इसका कारण बताते हैं । "उपन्यास का मूल ढाँचा कमज़ोर है, लेकिन बीच की कहानियाँ बहुत शक्त । दरअसल भीष्म साहनी उपन्यासकार से अच्छे कहानीकार हैं । उपन्यास की वर्णनात्मक परम्परा के इस उपन्यास में ये कहानियाँ अपने नाटकीय शिल्प में - अनुभवों की जीवन्त दृश्यावलियों में - एक रचनात्मक उत्कर्ष पाती हैं ।"[1] नत्थू और मुराद अली की कथा, हरनामसिंह और बन्तो की कथा, रणवीर, देवव्रत आदि की कथा तथा रिचर्ड और लीज़ा की कथा इसके उदाहरण हैं । इन कहानियों का संयोजन भीष्मजी ने इस खूबी से किया है कि ये पूर्वापर संबन्धहीनता और क्रमहीनता के बावजूद सांप्रदायिकता के विकराल चेहरे को धीरे-धीरे अनाच्छादित करती हैं । इन कहानियों की और एक खासियत यह है कि अलग-अलग होने पर भी प्रत्येक कहानी मानवीय मन-स्थिति के किसी न किसी पक्ष का परिचय देने में सक्षम हैं । उपन्यास का आरंभ नत्थू द्वारा सुअर मारे जाने की घटना से होता है । यह घटना अपने आपमें पूर्ण होने पर भी उपन्यास की सारी घटनाओं का बीज बन जाती है । प्रस्तुत कथा-प्रकरण में नत्थू को वैयक्तिक मानसिकता की झलक भी मिल जाती है,

---

1. हिन्दी साहित्याब्द कोश (1973) - पृ: 81 - सं. गोपाल, देवेन्द्रनाथ शर्मा ।

परन्तु सांप्रदायिकता की शुरुआत को दिखाने के सिलसिले में नत्थू का व्यक्तिगत चरित्र फीका पड गया है । इसका प्रमाण अगले कथा खण्ड में मिलता है, जहाँ नत्थू का कहीं भी उल्लेख नहीं है, लेकिन यह दिखाया गया है कि नत्थू द्वारा बोये गये बीज से अब अंकुर फूट निकलने लगा है ।

"तमस"की कथावस्तु को दो खण्डों में विभाजित किया गया है । प्रथम खण्ड में अलग-अलग छोटी कहानियों या प्रकरणों के माध्यम से साप्रदायिकता की शहरी पृष्ठभूमि दिखायी गयी है तो दूसरे खंड में ऐसी कहानियों के माध्यम से सांप्रदायिकता का ग्रामीण पृष्ठभूमि पर चित्रण किया गया है । प्रथम खंड में सांप्रदायिकता रूपी जहर को उंडेलनेवाले व्यक्तियों, माध्यमों और उसके शिकार होनेवाले लोगों की मनोभूमियों को चित्रित किया गया है । अंग्रेज़ एवं उनके दलाल, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति के अलावा कांग्रेस, कम्युनिस्ट-सब सांप्रदायिकता के उत्पादक, उत्प्रेरक और शिकार की विभिन्न भूमिका अदा करते हैं । द्वितीय खण्ड में, जहाँ सांप्रदायिकता के परिणामों का चित्रण हुआ है, वहाँ अलग-अलग कथा खंडों द्वारा आतंक की दर्दनाक स्थितियों पर प्रकाश डाला गया है । औपन्यासिक कथाक्रम को छोटे-छोटे कथाखंडों में बांटने का प्रयोजन यहाँ सर्वाधिक दृष्टिगत होता है । भीष्मजी ने इन कथाखण्डों के माध्यम से अपने उद्देश्य तक पहुँचने का कार्य किया है, जिसमें वे पूर्णतया सफल हो गए हैं । हर एक कथाखण्ड में एक खास वर्ग के लोगों की कथा दी गयी है, जो उस वर्ग की खूबियों और खामियों को सांप्रदायिकता के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करता है । इसके अनेक उदाहरण हैं । रिचर्ड और लीज़ा की कथा के माध्यम से अंग्रेज़ी मानसिकता और सांप्रदायिकता की वृद्धि में उनके योगदान को बखूबी व्यक्त किया गया है । मुराद अली और नत्थू के प्रकरण से दलाली वृत्ति की, मौलादाद, हयात बख्श मुहमूद साहिब, पीर साहिब आदि के ज़रिए मुस्लिम लीग की, बख्शीजी, मेहता, अज़ीज़, हकीम, शंकर काश्मीरी लाल, जरनैल आदि की कथा से कांग्रेस की, वानप्रस्थिजी, देवव्रत, रणवीर, लक्ष्मीनारायण की कथा से हिन्दु महासभा की, देवदत्त, सोहन सिंह मीरदाद आदि के ज़रिए कम्यूनिस्टों को, तेजासिंह, निंहग सिंह जसबीर कौर आदि के माध्यम से सिख कौम की मानसिकता के प्रत्येक खण्ड में दिखायी गयी है । "तमस"का हर पात्र समाज के

किसी-न-किसी कौम का प्रतिनिधित्व करता है । पात्र-संकल्पना की इस विशेषता के कारण ये कथाखण्ड और भी महत्वपूर्ण हो गए हैं, क्योंकि इन कथाखंडों में वैयक्तिक चरित्रों के उद्घाटन की अपेक्षा सामाजिक पृष्ठभूमि की विकरालता उसकी असलियत में प्रस्तुत हुई है । लेखक का उद्देश्य भी इस विकरालता से पाठकों का परिचय कराना है, जिसकी सफलता केलिए कथाक्रम का ऐसा विधान सबसे उपयोगी ठहरा गया है ।

केवल सांप्रदायिकता की विकरालता को प्रस्तुत करने केलिए इन कथाखंडों का प्रणयन नहीं हुआ है । इनके बीच लेखक का आस्थावादी स्वर भी कहीं-कहीं मुखरित हो उठा है । नत्थू और उसकी पत्नी की कहानी, हरनाम-परिवार की कहानी, राजो-एहसन अली की कहानी आदि में लेखक का यह दृष्टिकोण स्पष्टतः झलक उठता है । यद्यपि नत्थू और उसकी बीवी की कहानी उपन्यास में प्रत्याशित प्रभाव डालने में उतना सहायक नहीं है, परन्तु हरनाम-दम्पती की कहानी अवश्य सांप्रदायिकता की विद्रूपता को और अधिक तीखी बना देती है । इन प्रसंगों के माध्यम से मानवीयता का एक और चेहरा - साफ-सुथरा एवं निष्कपट - धीरे धीरे स्पष्ट हो जाता है ।

कथानक की दृष्टि से "बसन्ती" भीष्म जी की सफलतम रचना है, इस दृष्टि से वह "कड़ियाँ" और "तमस" के बीच की कड़ी है । वह न "कड़ियाँ" की तरह पारिवारिक विघटन का उपन्यास है और न "तमस" की तरह सामाजिक । यद्यपि इस उपन्यास में बसन्ती नामक भोली एवं साहसी युवती की करुण जीवन-यात्रा यथार्थ के धरातल पर अंकित की गयी है, तथापि इसके साथ-साथ समानान्तर रूप से कुछ सामाजिक समस्याओं को भी मूर्त रूप दिया गया है । इन दो समानान्तर स्थितियों को लेखक ने इस खूबी के साथ एकसूत्र में बाँधा है कि वे अलग-अलग नहीं दिखाई पड़तीं, बल्कि एक दूसरे के पूरक के रूप में प्रस्तुत हुई हैं । उपन्यास के आरंभ में ही भीष्म जी ने अपने इस मन्तव्य की ओर इशारा किया है । यद्यपि उपन्यास का नाम बसन्ती रखा गया है, फिर भी उसके प्रारंभिक बीस - पच्चीस पृष्ठ झुग्गी-झोंपड़ियों के बुलडोज़र और सिपाहियों की क्रूरता के द्वारा उजाड़े जाने के दृश्यों से संबन्धित है । इसका वर्णन कलात्मकता और यथार्थपरकता से किया गया है जिसमें लेखक की सूक्ष्म प्रतिपादन-शैली व्यंजित हो उठती है

शायद यह भीष्म जी के सभी उपन्यासों की विशेषता हो कि आरंभ में ऐसे मार्मिक प्रसंग रखे जाते हैं जो अपनी सूक्ष्म और सुष्ठ प्रतिपादन शैली के कारण पाठकों का ध्यान पहले से ही उपन्यास की ओर खींच लेते हैं । "तमस" के प्रारंभ की सुअर-हत्या का वर्णन इसी तरह रोचक है । "बसन्ती" में ऐसी शुरुआत को देखकर यह कदापि नहीं लगता है कि इसमें बसन्ती नामक निम्नवर्गीय युवती की जीवन-यात्रा की कथ्य प्रस्तुत हुई है । क्योंकि जिस बसन्ती की कथा को एक व्यापक सामाजिक माहौल में रखने का लेखकीय प्रयास है, उस बसन्ती के बारे में खास विवरण इन आरंभिक पृष्टों में नहीं मिलता है । लेकिन बाद के पृष्ठों में बसन्ती की कथा धीरे-धीरे उद्घाटित की गयी है । उपन्यास का अन्त भी प्रारंभ के समान तोड-फोड के साथ हुआ है । इस दोहरे कथानक के प्रयोग के पीछे दो कारण हैं । इसका प्रमुख कारण यह है कि लेखक ने जिस बसन्ती की कथा को औपन्यासिक रूप देना चाहा है, उसकी संपूर्ण सफलता केलिए सामाजिक अन्तविरोधों एवं असंगतियों से जुडे एक वातावरण की ज़रूरत थी, जिसका बसन्ती के जीवन को यों व्यथापूर्ण बनाने में बडा हाथ था । दूसरा कारण स्वयं लेखक की सामाजिक प्रतिबद्धता है । सामाजिक अन्तर्विरोधों के चित्रों को यदि उपन्यास से हटाते हैं तो प्रस्तुत उपन्यास लेखक की "राधा अनुराधा" नामक कहानी की याद दिलाएगा । लेकिन उसे औपन्यासिक रूप देने केलिए बसन्ती की सामाजिक पृष्ठभूमि भी आवश्यक है । तभी उपन्यास लेखक के प्रत्याशित लक्ष्य तक पहुँच सकेगा । इसलिए भीष्मजी ने सामाजिक अन्तर्विरोधों का संयमित बल्कि प्रभावपूर्ण वर्णन करके उस संश्लिष्ट परिस्थिति में पली बसन्ती के वैयक्तिक जीवन को सामाजिक पृष्ठभूमि में दिखाने का प्रयास किया है ।

बसन्ती के कथानक की कुछ निजी विशेषतायें हैं । "तमस" की अपेक्षा "बसन्ती" के कथानक में संयम और रोचकता अधिक है । "तमस" के माध्यम से भीष्मजी ने निहायत सादगी के साथ अपनी उपस्थिति का एहसास भर कराया था । लेकिन "बसन्ती" में इस एहसास को गहरा ही नहीं, व्यापक भी बनाते हैं । यही नहीं, इस उपन्यास के ज़रिए उन्होंने अपने दृष्टिकोण और कलात्मक कौशल के बारे में एक नया विश्वास पैदा किया है ।"[1] इस सूक्ष्मता और कलात्मकता का परिचय भीष्मजी ने उपन्यास के प्रारंभिक कुछ पृष्टों में बस्ती के वर्णन से दिया है । अपने चारों ओर के परिवेश के माध्यम से पात्र की मनःस्थितियों पर प्रवेश करने का सराहनीय कार्य बसन्ती में लेखक ने भली-भांति किया है ।

---

1. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना - पृ: 139 - सं. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर

'बसन्ती" में निम्नवर्ग की दुर्बलताओं और द्वन्द्वों को सहज मानवीयता के धरातल पर खींचने का प्रयास किया गया है, वह 'तमस" के नत्थू के द्वन्द्व या दुर्बलताओं से अधिक विश्वसनीय है । जब बस्ती तोडने की प्रक्रिया में कुछ बस्तीवाले भी शामिल होते हैं, तब उनकी ये दुर्बलतायें साकार हो उठती हैं । अपने ही हाथों बनाए गए मकान को उसी व्यक्ति के द्वारा तोडा जाना देखकर एक आदमी पूछता है कि "तै ने भी तो अपनी कोठरी बनायी थी ।"[1] तो वह उत्तर देता है कि "बनायी सी तो बनायी थी, ऊपर से जवाब आया, सरकार तो इन्हें तोडेगी ही । हम अपनी मजूरी क्यों छोडें । हम नहीं तोडेंगे तो कोई दूसरा आकर तोडेगा ।"[2] विडंबना यह है कि झोंपडियाँ किसी-न-किसी तरह तोडी जायेंगी लेकिन अगर बस्तीवाले इसमें साथ देते हैं तो उनको मजूरी के रूप में बीस रूपए मिलेंगे । इस प्रलोभन की ओर कुछ बस्तीवाले टूट पडे थे तो उनके अभावों एवं द्वन्द्वों के कारण । मानवीय नियति के ऐसे सूक्ष्मतम पहलुओं का चित्रण "बसन्ती" के कथानक की विशेषता है ।

पात्र संकल्पना

भीष्म साहनी सामाजिक यथार्थ के कथाकार हैं । पात्र संकल्पना की दृष्टि से सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करनेवाले उपन्यास बहुसंख्यक पात्रों के ज़रिए अपना उद्देश्य की पूर्ति करते हैं । ऐसे उपन्यासों में सशक्त पात्रों की सृष्टि केवल सफल उपन्यासकार ही कर सकता है, क्योंकि इनमें अनेक पात्रों की मनस्थितियों और परि-स्थितियों से लेखक को गुज़रना पडता है । भीष्म जी ने अपने चारों उपन्यासों में इस महान कार्य को उठाया है और उस प्रयास में वे काफी हद तक सफल भी हुए हैं ।

भीष्म जी के सभी पात्र उनके अनुभव की गहराइयों से उद्भूत हैं । इनके चरित्रांकन में उन्होंने कल्पना का अपेक्षाकृत कम सहारा लिया है । उनके पात्रों की एक सामान्य विशेषता यह है कि उनका टाइप चरित्र होना । इस तथ्य के बारे में खुद

---

1. बसन्ती - पृ: 22 - भीष्म साहनी ।
2. वही ।

भीष्म जी ने लिखा है कि "शायद मेरा एक ही प्रिय पात्र है जो कभी स्त्री का, तो कभी युवक अथवा युवती का रूप लेकर पन्नों पर उतरता है । जब भी उसके बारे में सोचता हूँ तो उद्वेलित-सा महसूस करता हूँ । कहीं पर वह व्यक्ति अपने परिवेश में सही नहीं बैठता । उखड-सा जाता है, उसमें रस-बस नहीं पाता । अपने परिवेश में रहते, साँस लेते हुए भी उसके साथ उसका मेल नहीं बैठता । शायद उसी में उसके भाग्य की विडंबना होती है । शायद मेरे सभी पात्र ऐसी स्थितियों में पनपते, रूप लेते हैं ।"[1]

भीष्मजी की पात्र - संकल्पना की खासियत से परिचित होने केलिए उनके कुछ विशिष्ट पात्रों के चरित्रांकन पर संक्षिप्त रूप में प्रकाश डालना पडेगा । "तमस" उपन्यास की मानवीयता - अमानवीयता की चर्चा के वक्त जरनैल सिंह, नत्थू, हरनाम और बन्तो इत्यादि के अलावा कुछ अन्य चरित्रों का अंकन किया गया है । अतः उन्हें यहाँ दुहराता नहीं है ।

पात्र-संकल्पना की दृष्टि से "झरोखे" में कोई नवीनता नहीं दिखाई पडती है । इसमें पात्र बहुत कम है । आत्मकथात्मक उपन्यास होने पर भी इसमें लेखकीय चरित्र मुख्य पात्र के रूप में नहीं उभरता है । परिवेश की वजह व्यक्ति चरित्र के कुंठित होने की प्रस्तुति में वह पात्र सफल हुआ है । उपन्यास का एक मुख्य पात्र के रूप में तुलसी, जो उनका प्रिय पात्र है, उभरता है । वह वास्तविक पात्र है । "तुलसी मेरे बचपन के दिनों में हमारे घर में नौकर था । चौका-बर्तन करता, भैंस दोहता, घर में झाड-पोंछ करता पर साथ ही वह हमारे साथ खेलता भी था, और जब कभी गुरुजी हिन्दी-संस्कृत पढाने आते तो वह भी हमारे साथ बैठ जाता था । परिवार के लोग जब हवन करने बैठते तो वह भी मंत्रोच्चारण करता, उसकी भारी -खरज आवाज़ सबसे ऊँची होती, और बडी अटपटी लगती । हम बच्चे आँखें बन्द किए हुए भी हँसने लगते थे । बचपन से यौवन तक वह एक नौकर का कुर्ता ओढता रहा । इस दौरान उसके मन में

---

1. अपनी बात - पृ: 113 - भीष्म साहनी ।
2. वही ।

परिवेश एवं शिक्षा की वजह उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व चलता रहा । वह वैद्यगिरी, ट्यूशन, नौकर हर काम करता है, लेकिन नियति उसे हर कहीं नौकर ही बना देती है ।

पात्र-सृष्टि की दृष्टि से तुलसी का चरित्र उपन्यास में सबसे प्रभावशाली लगता है । लेखक उसके चरित्रांकन में ईमानदार रहे हैं । साथ ही उसकी विशेषता उसके वर्गपात्र की परिणति में है ही । तुलसी को उसकी दुर्बलताओं एवं सफलताओं के साथ अवतरित किया गया है ।

"कड़ियाँ" में भी पात्र संकल्पना में उन्होंने कोई नए प्रयोग नहीं अपनाए हैं । लेकिन इसमें चरित्र-सृष्टि में लेखक की सूक्ष्मता द्रष्टव्य है । "कड़ियाँ" में मध्यवर्गीय दाम्पत्य की असंगतियों को शब्दबद्ध करने का प्रयास हुआ है जिसकेलिए पात्रों को प्रतीकवत् करना या उनके अन्तर्मन के सूक्ष्म तलों को परखना असंगत होगा । इस तथ्य को जानते हुए ही साहनी ने पात्रों का चरित्र-चित्रण बड़े स्वाभाविक ढंग से किया है ।

"कड़ियाँ" में पात्रों की संख्या कम है । इसलिए प्रमुख पात्रों की खूबियों और खामियों को परिवेश-सापेक्ष ढंग से प्रस्तुत करना आसान हो गया है । प्रमुख पात्र केवल तीन हैं महेन्द्र, प्रमिला और सुषमा, और इनके बीच दब्बू बन गया पप्पू भी है । कथा का विन्यास इन पात्रों से संबद्ध होकर हुआ है । फिर भी महेन्द्र और प्रमिला लेखकीय कुशलता के अधिक भागी हो गए हैं । इन पात्रों की मनोदशा को चित्रित करते समय कृत्रिमता से बचाने केलिए लेखक ने संलापों का अधिक सहारा लिया है ।

उपन्यास के आरंभ से ही प्रमिला की चरित्रगत विशेषताओं - भोलापन, जल्दबाजी, परम्परावाद आदि - को संलापों और स्थितियों के वर्णन के द्वारा प्रस्तुत करने में लेखक सक्षम हुए हैं । वह अपने निजी संस्कारों और संवेदनाओं को छोड़ने केलिए तैयार नहीं है, जो उसके पति महेन्द्र के संस्कारों से काफी भिन्न है । उसके अनुसार व्यावहारिक जीवन में बदलते जीवन मूल्यों का कोई स्थान नहीं है । इसलिए पति-पत्नी के बीच तर्क-वितर्क, मन-मुटाव आदि स्थान पाते हैं । प्रमिला के तर्क में उसकी परम्परावादी दृष्टि स्पष्ट झलकती है । वह महेन्द्र से कहती है "मेरी माँ जब मरी थी तो मेरे

पिता तीस बरस के थे । उन्होंने दूसरा ब्याह नहीं किया, उन्होंने कहा मैं अपने बेटे-बेटी को पालूँगा । और तुम . . . अभी तो मैं जीती हूँ ।"[1] प्रमिला पुरुष मन को ही नहीं, आधुनिक परिवर्तित जीवन को भी नहीं समझ पाती है और उसने हृदय एवं भावुकता से काम लेने की गलती भी की है । ज्यों-ज्यों उपन्यास आगे बढता है, त्यों-त्यों प्रमिला के चरित्र का विकास भी होता जाता है । बाद की कई घटनायें - तलाक् उसका पागल हो जाना, दूसरी बार की प्रसूती - उसके चरित्र को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ढंग से प्रभावित करती हैं । अन्त में प्रमिला में आत्मविश्वास बढता है और अपने पाँव पर खडे होने की ताकत होती है । उपन्यास के अन्त में भी प्रमिला के बदलती नारी रूप को ही देख सकते हैं ।

महेन्द्र प्रमिला के ठीक विपरीत मनःस्थिति का मर्द है । अपने दाम्पत्य जीवन के आरंभ में उसे प्रमिला के परम्परावाद, भोलेपन एवं प्रकृत रूप में स्निग्धता मिलती थी । लेकिन जैसे जैसे दिन बीत जाते हैं उसे स्निग्धता के बदले ऊब का एहसास होने लगा । महेन्द्र को उसके स्थान और यश के अनुसार प्रमिला में भी परिवर्तन चाहिए, लेकिन प्रमिला उसकेलिए तैयार नहीं होती है । इस प्रकार दोनों के बीच फासला उमडता है और सुषमा का आगमन उसे चौडा भी कर देता है । अपने दाम्पत्य में जिस लय की कमी थी, सुषमा में उसे प्राप्त करने की कोशिश महेन्द्र करने लगा । कुछ देर केलिए वह उसमें अडिग रहता है, फिर बाद में वह सुषमा में भी परिवर्तन की कामना करता है । महेन्द्र में आधुनिक मनुष्य की सबलताओं की अपेक्षा दुर्बलतायें अधिक हैं । उसमें चिन्तन-मनन और सामंजस्य का बोध नहीं है । उसमें शंका, अपराध बोध, डर, दुरभिमान और परिवर्तन के मोह में पडे विभ्रम है । इसलिए वह अपने जीवन में हर कहीं नहीं पहुँच पाता है । उसका चिन्तन अल्पायु होता है । "जिन्दगी के पैंतीस वर्षों तक जिस निष्ठा को सर्वोपरि मानकर संजोये हुए था, उसे एक दिन मैं लुटा आया हूँ, मैं कितना कमज़ोर आदमी हूँ ।"[2] फिर भी वह इससे मुक्ति प्राप्त करने में असमर्थ निकलता है । इसका ही दूसरा रूप मिसेज़ भगत के साथ, और पप्पू के स्कूल के उसके व्यवहार में मिलता है । इसप्रकार लेखक महेन्द्र का चरित्रांकन यथार्थवादी दृष्टि के साथ करते हैं ।

---

1. कडियाँ - पृ: 32-33 - भीष्म साहनी ।

2. वही - पृ: 16.

उपन्यास के अन्य पात्रों में सुषमा, नाटा, नारंग साहिब सत्वन्त आदि पात्रों का चरित्र प्रासंगिक रूप में आकर बहुत आकर्षक बन गया है । सुषमा में आधुनिक परिवर्तित नारी स्वरूप के साथ नारी-जनित अच्छे गुण भी दर्शाते हैं । नाटा आधुनिक पुरुष, जो सामन्तवादी संस्कार का बौद्धिक प्रतीक, बनकर आया है । नारंग साहिब में आर्यसमाजी परम्परावादी चिन्तन ही है ।

"झरोखे" और "कड़ियाँ" से भिन्न प्रकृति का उपन्यास है "तमस" । इसमें संश्लिष्ट सामाजिक यथार्थ की प्रस्तुति विशाल सामाजिक पृष्ठभूमि में की गयी है । इसकी विशेषता यह है कि इसका मुख्य पात्र परिवेश है और उसके पोषक रूप में अनेक पात्र और भी है । यथार्थवादी उपन्यास में परिवेश का मुख्य पात्र होना अस्वाभाविक तो नहीं है । "तमस" के माध्यम से लेखक का उद्देश्य भी इस परिवेश का यथासंभव सफल एवं सबल चित्रण ही है । "सम्पूर्ण उपन्यास में कोई केन्द्रीय पात्र न होकर यहाँ पूरा परिवेश ही चरित्र के रूप में प्रमुखता पाता है और उपन्यासकार अपना कैमरा जिस ओर भी घुमा देता है, हमें वह दृश्य दिखाई देने लगता है, यही भीष्म साहनी की सफलता है ।"[1] "तमस" के इस भीषण परिवेश के मूर्तीकरण पर लेखक ने अधिक ध्यान दिया है अतः पात्र संकल्पना गौण हो गयी है । ऐसे परिवेश में कुछ पात्र कुछ देर केलिए मात्र अपना दर्शन कराते हैं, मगर ये पात्र इस कुछ समय के अन्तर्गत ही अपने अपने रूप को प्रकट करने में सफल हुए हैं । ऐसे पात्रों में रिचर्ड, लीज़ा, नत्थू, मुराद अली, हरनाम सिंह, राजो, देवदत्त, देवव्रत, लाला लक्ष्मीनारायण, रणवीर, शाहन वाज़, जरनैल सिंह, मेहता, बख्शी जी, हयात बख्श, मौलादाद, तेजासिंह आदि मुख्य हैं ।

डिप्टी कमीशनर रिचर्ड अंग्रेज़ी सत्ता का पुर्जा है । वह भारतीय इतिहास का अध्येता एवं अनुकर्ता भी है । इसके फलस्वरूप उसके मन में एक ओर भारत के प्रति घृणा है तो दूसरी ओर भारतीय इतिहास के प्रति प्रेम भी । उसका निष्कर्ष यह है कि "भारतीय अपने इतिहास को जानते नहीं, उसे केवल जीते भर है ।"[2] उपन्यास के

---

1. उपन्यास समीक्षा के नए प्रतिमान - पृ: 108 - डा. दंगल झाल्टे ।
2. तमस - पृ: 37 - भीष्म साहनी ।

आरंभिक भाग में रिचर्ड के चरित्र में मानवीयता है । लेकिन उसका वास्तविक रूप बाद में व्यक्त होता है । वह सही साम्राज्यवादी ही नहीं कुशल शासक भी है, जो भेदनीति अपनाकर शासन को कायम रखता है । संपूर्ण उपन्यास में रिचर्ड के दोहरे व्यक्तित्व का आभास मिलता है । एक ओर से वह अंग्रेज़ी सरकार के ईमानदार सेवक और भारतीय इतिहास के अध्येता के रूप में अवतरित हुआ है तो दूसरी ओर उसका काला चेहरा भी साफ-साफ उद्घाटित हुआ है । इसमें सन्देह नहीं कि अंग्रेज़ी साम्राज्य वादी सत्ता को प्रतिनिधित्व करनेवाला पात्र रिचर्ड के चरित्रांकन में लेखक सफल हुए है ।

विदेशियों में मानवता है, इसका प्रमाण लेखक रिचर्ड की बीवी लीज़ा द्वारा देते हैं । उसमें मनुष्य सहज अकेलापन ऊब एवं जिज्ञासा है, साथ ही अमानवीयता के प्रति असन्तोष भी । इससे बढ़कर लेखक लीज़ा के चरित्र की प्रस्तुति इसलिए करते हैं कि वह रिचर्ड के पूर्ण चरित्र को प्रदान करने में सहायक सिद्ध होता है । रिचर्ड और लीज़ा को एक साथ रखकर लेखक अपनी चरित्र सृष्टि में नए आयाम खोल देते हैं ।

राजो के द्वारा लेखक हमें मानवीयता एवं सत्यवक्ता का एक मूर्त रूप देते हैं । और यह दिखाते हैं कि मानवीयता धार्मिक भेदभावों से परे अपना प्रकाश फैलाती है । राजो सारे खतरों को जानकर भी हरनाम दम्पति को शरण देते हुए कहती है कि "सुनो सरदारजी, मैं तुमसे कुछ छिपाऊँगी नहीं, मेरा घरवाला और बेटा दोनों गाँववालों के साथ बाहर गए हुए हैं । वे अभी लौटते होंगे । मेरा घरवाला तो अल्लाह से डरनेवाला आदमी है, तुम्हें कुछ नहीं कहेगा, पर मेरा बेटा लीगी है, और उसके साथ और लोग भी हैं । तुमसे वे कैसा सलूक करेंगे, मैं नहीं जानती ।"[1] राजो दोनों प्राणियों को रात तक पनाह देकर रात में गाँव की सीमा तक ले जाती भी है जिससे वे खतरे से बचकर सुरक्षित स्थान पर पहूँचे ।

---

1. तमस - पृ: 189 - भीष्म साहनी ।

बख्शीजी, जरनैल सिंह, सोहन सिंह, देवदत्त, मीरदाद आदि अमन केलिए सदा काम करते हैं और उसमें से कुछ उसकेलिए अपना जीवन खो देते हैं तो कुछ हारकर अपने आप मौन हो जाते हैं । दूसरी ओर हयात बख्श, मौलादाद, देवव्रत, रणवीर और तेजासिंह है जो अंग्रेज़ी चाल में पूर्णतः पडकर विभाजन के नारे लेकर जनता की हत्या करने को तुले हुए हैं । इनसे अलग शाहनबाज, लाला लक्ष्मीनारायण, रघुनाथ के ज़रिए लेखक यह सिद्ध करते हैं धन का रिश्ता तोडने में संप्रदाय भी असमर्थ निकलता है । लेखक मुराद अली को प्रस्तुत करके दलाली वृत्ति एवं दलालों पर सतर्क रहने की चेतावनी देते हैं ।

इसप्रकार हम देख सकते हैं कि भीष्म जी ने "तमस" की पात्र-संकल्पना में यथासंभव अपनी प्रतिभा एवं कुशलता के साथ अनुभव का भी परिचय दिया है । चरित्रांकन के वक्त स्वयं उन्होंने टिप्पणियों का उपयोग कम किया है । प्रायः सभी पात्रों का चरित्र विशिष्ट स्थितियों में उनकी भूमिका या दूसरों की प्रतिक्रिया द्वारा उभारा गया है ।

पात्र परिकल्पना में भीष्म जी का वैदग्ध्य "बसन्ती" में चरम सीमा तक पहुँचा है । "बसन्ती" के औपन्यासिक पहलुओं में पात्र परिकल्पना का अपना महत्व है । इसका मुख्य चरित्र बसन्ती के माध्यम से लेखक परिवेश के माध्यम चरित्र कैसे उभरता है, उसपर अपनी दक्षता प्रकट करते हैं । बसन्ती का चरित्र उपन्यास में न केवल अपनी चरित्रगत उपलब्धियों को उद्घाटित करता है, बल्कि सामाजिक पक्ष में उसका चरित्र निम्नवर्गीय समाज का प्रतीक भी बन जाता है । इसके बारे में वीरेन्द्र मोहन का कथन द्रष्टव्य है कि "जन सामान्य का प्रतिनिधि चरित्र बसन्ती एक पाजिटीव कैरक्टर है, जो अपमान, शारीरिक शोषण और अमानवीय शिकंजों को एकबारगी तोड देती है, उनसे लोहा लेती है ।"[1]

---

1. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना - पृ: 120 - सं. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर ।

बसन्ती की अल्हडता, बेफिक्री और साहस को पूरे संयम और सादगी से चित्रित करनेवाले लेखक ने उसके मानवीय पक्षों की गहराइयों को भी बखूबी चित्रित किया है । हिन्दी कथा-साहित्य में प्रेमचन्द के बाद निम्न वर्गीय नारी-पात्र का इतना विस्तृत बल्कि सूक्ष्म चरित्रांकन शायद हुआ ही नहीं है । बसन्ती की जिजीविषा इतनी गहरी है कि अपमान के जहर, तिरस्कार और लांछन को वह अपनी उन्मुक्त हंसी में बेमानी साबित करती है । वह किसी के सामने भिक्षा नहीं मांगती, घरों में काम करती है और बाद में तन्दूर भी चलाती है । उसके सामने "कल" शब्द नहीं है, वह केवल आज केलिए जीती है । इसलिए नियति उसकेलिए रास्ता साफ कर देती है, और वह भाग्यवाद पर प्रश्न भी करती है । जिस समाज में स्त्री बेचनेवाली वस्तु, भोग की वस्तु, अन्यों की सेवा करने की वस्तु मानी जाती है उसके लिए बसन्ती का चरित्र एक चुनौती है ही । वह इन सबसे लोहा लेकर जीती है तब तक उसके जीवन के अधिकांश भाग बीत गये हैं । "इस समूची परिस्थिति के बीच बसन्ती का उदात्त सर्वहारा चरित्र और भी अधिक निखरकर सामने आता है । बसन्ती हिन्दुस्तान की उस नयी औरत की प्रतीक है, जो अभी असंगठित मजदूरों की जमात के रूप में ही एक बिखरी हुई ताकत है । एक दिन बडे पैमाने के सार्वजनिक उद्योग के संसर्ग में आकर इसी जमात में से वर्गचेतना से संपन्न संगठित सर्वहारा के क्रान्तिकारी नारी-चरित्र ढलेंगे । इसमें भी कोई सन्देह नहीं ।"[1] उपन्यास में बसन्ती के व्यापक चरित्रांकन के सन्दर्भ में उपर्युक्त प्रत्याशा सार्थक है ।

बसन्ती के व्यापक चरित्रांकन के आलोक में अन्य चरित्र अधिक चमकते नहीं हैं । फिर भी ये चरित्र छोटी अवधि में अपनी चरित्रगत विशेषताओं को प्रकट करने में सफल हुए हैं । इन चरित्रों में चौधरी, बुलाकी राम, दीनू एवं श्यामा बीवी मुख्य हैं । चौधरी के माध्यम से लेखक एक ऐसे पात्र को प्रस्तुत करते हैं, जो परिवेश एवं व्यवस्था के कारण क्रूर, रुष्ट एवं अमानवीय लगता है । वह अपनी बीवी को, बेटियों को या और

---

1. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना - पृ: 152 - सं. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर ।

किसी को दर्द देने में हो या सताने में हिचकता नहीं है । चौधरी अर्थ के लिए ही सब कुछ करता है । इसकी खोज के बीच वह मानवीयता, करुणा, सहानुभूति इत्यादि के परे हो गया है । दूसरी ओर लंगडा बुलाकी राम है जो अपनी असमर्थताओं के प्रति सजग है । बुलाकी राम तीन व्याह कर चुका है पर एक भी उसके साथ नहीं रहती है । इसलिए रूपए देकर वह बसन्ती को खरीदता है, उसकी चरित्रगत विशेषताओं को जानकर भी । उसे किसी न किसी तरह बीवी चाहिए, बच्चा चाहिए । साथ ही उसमें स्नेह एवं ममता के साथ क्षमा भी है । दीनू आलसी एवं कामुकता में पडा एक युवक है, जिसकी शरण में बसन्ती पहुँचती है । वह अपनी पत्नी की कमायी से जीवन बिताता ही नहीं, अपनी पहली बीवी को भी उसीसे पालता है । साथ ही रूपए केलिए उसे बेच भी देता है । इन सब निम्नवर्गीय पात्रों के बीच लेखक ने श्यामा बीवी को रखा है । श्यामा बीवी आधुनिक मध्यवर्ग के दुहरे मुख की अधिकारी है । उसमें एक ओर झूठी सहानुभूति एवं स्नेह है तो दूसरी ओर शंका, भय एवं नियतिवाद है । बसन्ती एवं श्यामा बीवी को साथ साथ रखकर लेखक ने दोनों चरित्रों के साम्य-वैषम्य को पकडा है ।

इसप्रकार "बसन्ती" में भीष्म जी ने पात्र-परिकल्पना की सभी प्रणालियों का परिचय दिया है । एक ओर निम्नवर्ग के सहज चरित्र हैं तो दूसरी ओर मध्यवर्ग के दुहरे चरित्र भी । बसन्ती के सभी पात्र अपने अपने परिवेश की उपज हैं ।

उपन्यासों की भाषिक संरचना

रचनाशीलता की सार्थकता में भाषा का अस्तित्व सबसे प्रमुख है । समसामयिक साहित्य में भाषा वर्णन के माध्यम से बढ़कर संप्रेषण का माध्यम है । भाषा में नवीन शक्तियाँ, जैसे-सांकेतिकता, प्रतीकात्मकता, बिंबात्मकता एवं व्यंजना को लाते हुए रचनाकार अपनी सूक्ष्म एवं संश्लिष्ट संवेदनाओं को साहित्यिक रूप दे रहा है । स्वातंत्र्योत्तर युग में समूचे साहित्य पर भाषागत विभिन्न प्रयोग हुए हैं । कोई भी साहित्यिक विधा इन भाषागत खोजों से मुक्त नहीं है ।

उपन्यास में अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा भाषा की सम्पूर्ण शक्तियों से काम लेना पडता है क्योंकि उपन्यास में जीवन की जटिलता एवं संश्लिष्टता को व्यापकता के साथ अभिव्यक्ति मिलती है । "उपन्यास में भाषा प्रयोग दुहरी समस्या है । एक तो गद्य की सामान्य प्रकृति के हिसाब से उसे वर्णन करना है, और दूसरा उससे अधिक मुश्किल काम है, सूक्ष्म और जटिल अनुभवों को संप्रेषित करना ।"[1]

भीष्म साहनी की भाषा उनकी सृजनशीलता का परिचायक है । उनकी भाषा में सादगी और सरलता के साथ-साथ कलात्मकता भी है । "उनकी सादगी में भी जैसी कलात्मक वक्रता और जैसी गतिशील तरलता है, वह उनके समकालीनों में बहुत कम देखने को मिलेगी ।"[2] उनकी विशेषता यह है कि वे जन-साधारण के वार्तालाप की भाषा को भी अत्यन्त संवेदनशील और सृजनात्मक रूप देते हैं ।

भाषा की सरलता एवं सजगता की दृष्टि से "झरोखे" भीष्मजी का सफल प्रयास है । अपने परिचित पात्रों, स्थितियों एवं परिवेश को औपन्यासिक रूप देने के प्रयास में सरल, अकृत्रिम और सपाट भाषा-शैली को उन्होंने अपनाया है । "झरोखे" की भाषा की एक प्रमुख विशेषता उसमें झलकती आंचलिकता है । भीष्म जी ने प्रस्तुत उपन्यास में अपने घर और आसपास के परिवेश की कहानी बतायी है, जिसकी संपूर्ण सफलता केलिए उस परिवेश की निजी विशेषताओं को भी उसी प्रकार उभारना है । उन्होंने उपन्यास के संवादों और बीच-बीच में प्रयुक्त लोकगीतों के सहारे उस परिवेश को यथासंभव खींचा है । साथ ही उसमें विद्यमान संस्कृत मंत्र परिवेश की विश्वसनीयता को और भी मजबूत कर देता है । उपन्यास के प्रारंभिक पृष्ठों में लेखक की माँ द्वारा और गाँव के बच्चों द्वारा गानेवाले गीत इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं । कुछ गीत इसके अलावा भावपूर्ण और लेखकीय मनस्थिति की अभिव्यंजना में सफल दिखाई पडते हैं । उदाहरण केलिए :

---

1. आधुनिक हिन्दी उपन्यास - पृ: 49 - सं. डा. नरेन्द्र मोहन ।
2. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना - पृ: 163 . सं. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर ।

"फूलों में हम आती हैं, आती हैं
ठंडी मौसम में ।
ठंडी मौसम में ।
तुम किसको लेने आती हो,
ठंडी मौसम में ।
ठंडी मौसम में ।"[1]

प्रस्तुत गीत उपन्यास के प्रारंभ में लडके-लडकियों के बीच खेल के गीत के रूप में मिलता । तो अन्त में उसके दुहराने पर वह भावपूर्ण एवं मर्मस्पर्शी बन जाता है । इससे पाठक को ऐसा लगता है कि उस बचपन ने लेखक को वे अगणित स्मृतियाँ प्रदान की है, जिनको एकदम भूलना उनकेलिए आसान नहीं हो गया है । भाषागत सजगता की दृष्टि से उपन्यास के संवाद भी महत्वपूर्ण हैं । संवादों द्वारा आंचलिकता, पात्रों के वर्ग इत्यादि को सफलता पूर्वक स्पष्ट किया गया है । किशोरावस्था के बालकों के संवादों द्वारा भाषा में निहित जिज्ञासा एवं कुतूहलता को भी उन्होंने व्यक्त किया है -

"यह दोस्त कौन-सा है तेरा?
"तुम उसे जानते हो ! कुलदीप ! धर्मदेव का छोटा भाई ।
उसे भी वीर्यपात होता है?
मैं नहीं जानता । मैं अपने वीर्यपात की बात किसी से नहीं कहता ।
. . . और उसमें लिखा है, स्त्री की तरफ नहीं देखना चाहिए ।
. . . .
कभी-कभी देखता हूँ, पर जान बूझकर नहीं देखता । जब गली में कोई औरत बुर्का उठाती है तो ज़रूर नजर पड जाती है ।"[2]

---

1. झरोखे - पृ: 11 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 98-99.

ये संवाद पात्रों की मनःस्थिति के गहरे पक्ष को भी उद्घाटित करते हैं । इस प्रकार की भाषा, जो किशोरावस्था की मानसिकता को स्पर्श करनेवाली सीधी सादी भाषा का प्रयोग हिन्दी उपन्यास में बहुत कम ही दिखायी पडती है ।

"झरोखे" में बिंबों और प्रतीकों का प्रयोग बहुत कम ही हुआ है । इसके बावजूद भाषागत सौन्दर्य और शक्ति को मूर्तता प्रदान करने केलिए उपन्यास के बीच-बीच में जो शब्द-चित्र दिए गए हैं, वे सार्थक प्रतीत होते हैं । उपन्यास का आरंभ इसी प्रकार के एक शब्द चित्र के साथ होता है "विस्मृति की अन्धेरी खोह में पडे अतीत के चित्रों के अंश, कागज़ के पुर्जों की तरह कभी कभी उडने लगते हैं । दे-एक पुर्जे उड जाएँ तो एक तसवीर-सी उभरती जान पडती है । खोह का अन्धेरा छनता-सा जान पडता है । पर ध्यान से देखे तो चित्र सहसा अपने रंग खोने लगता है, अपना अर्थ और महत्व खोने लगता है, . . . जि़न्दगी पर कुछेक झरोखे, लगता है, अपने हाथों से खोल रहा हूँ ।"[1]

"कडियाँ" में उनकी भाषा का सरलतम रूप देखा जा सकता है। इसकी भाषा सरल, सपाट एवं मुहावरेदार है । कहीं-कहीं विवरणात्मकता विद्यमान है तो, कहीं-कहीं उपन्यास की भाषा यह एहसास देती है कि कोई मनोवैज्ञानिक उपन्यास हो । जैसे - "कभी सोचता, मैं प्रमिला के साथ किस लहजे में बात करूँ, औपचारिक ढंग से, जैसे एक अजनबी से करता है, या आत्मीयता से, जैसे मित्र-संबन्धी करते हैं' . . . उस दिन को याद करके भी उसे बडा सूना-सूना लगता था, "मत जाओ", "मत जाओ ना कहती हुई, और पहली बार उसे हिस्टीरिया का दौरा पडा था । . . . क्षोभ, उत्कण्ठा, उपेक्षा, तरह-तरह की भावनायें उसके दिल को मथती रही थीं ।"[2]

"कडियाँ" में भाषा कहीं-कहीं प्रतीकात्मक भी हो गयी है । ये भाषिक प्रयोग स्थितियों को विवरण या संवादों के बिना व्यक्त करने में सक्षम हैं । महेन्द्र को अपने अनेक अनुभवों के बाद लगता है कि जिन्दगी में एक ही चीज़ निश्चित है, वह है वासना ।

---

1. "झरोखे" - पृः 7 - भीष्म साहनी ।
2. "कडियाँ" - पृः 131 - वही ।

इसको प्रतीकात्मक ढंग से व्यक्त किया गया है । इसके अलावा महेन्द्र और प्रमिला के बीच का संबन्ध छूट जाने के बाद वे एकाध बार सामंजस्य केलिए मिलते है । तब बालकनी में टहलते महेन्द्र रेलवे स्टेशन पर एक दृश्य देखता है, वह उसके दाम्पत्य का प्रतीकात्मक चित्रण है । "बाहर रेलवे-यार्ड में सहसा हरकत हुई । एक गाडी मुसाफिरों से भरी धीरे-धीरे प्लेटफार्म पीछे छोडकर, यार्ड के किनारे-किनारे सिगनलों की ओर बढ रही थी । महेन्द्र की नज़र एक आदमी पर पडी जो गाडी के साथ-साथ धीरे-धीरे भागता जा रहा था, और डिब्बे की खिडकी में से सामान की छोटी-छोटी चीज़ें अन्दर फेंक रहा था और डिब्बे की खिडकी में से किसी स्त्री का सिर बाहर निकला, उसके सिर पर से साडी का पहलू उतरा हुआ था, और वह हाथ हिलाकर बडी घबराहट में उस आदमी को गाडी में चढ़ जाने का आग्रह कर रही थी । फिर वह आदमी उचलकर पिछले डिब्बे के पायदान पर चढ़ गया था, और हंसे जा रहा था, स्त्री अपने डिब्बे की खिडकी में से सिर निकाले अभी भी उसकी ओर देखे जा रही थी, और हाथ हिलाकर उसे अन्दर चले जाने का आग्रह कर रही थी ।"[1] महेन्द्र के मन की वासना को इसमें कहीं-कहीं सांकेतिक रूप में उभारा गया है ।

प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने महेन्द्र की मानसिक स्थिति को दिखाने केलिए बिंबों का प्रयोग भी किया है । महेन्द्र पारिवारिक विघटन के बाद सुषमा में अपनी वासना-पूर्ति कर रहा था । उसमें उसे मानसिक शान्ति नहीं मिलती है और उसके मन से पापबोध मिटता भी नहीं है । महेन्द्र की इस संश्लिष्ट मन:स्थिति को एक मूर्त बिंब के द्वारा यों स्पष्ट किया गया है - "हवा में पतझड की गन्ध थी । सडक के किनारे माली ने बहुत सूखे पत्ते बटोरकर जला दिए थे, और उनकी कडवी गन्ध हवा में फैल गयी थी । दीवारों पर से दोपहर की झीनी-सी धूप की परत झरकर गिर गयी थी, मृतप्राय रोगी के चेहरे पर आयी क्षणिक कान्ति की तरह और आकाश में से अवसाद के साये उतरने लगे थे ।"[2]

---

1. कडियाँ - पृ: 141 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 128-129.

"तमस" में भीष्मजी ने भाषिक संरचना की सारी शक्तियों का इस्तेमाल किया है । उपन्यास में दंगे की भयावहता, हत्या, आतंक सबकुछ हैं अतः भाषा में विविधता का होना अनिवार्य है । इसमें एक प्रकार की आंचलिकता है । भाषा का प्रयोग करते समय लेखक ने अपने पात्रों के स्तर पर, स्थान व स्थितियों का ख्याल अवश्य रखा है । जिस स्थान पर घटनायें घटित होती है उस अंचल में प्रयुक्त भाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया गया है । लेखक ने पंजाबी शब्द, लोकोक्तियाँ, मुहावरे, काव्य-पंक्तियाँ एवं गालियाँ भी उक्त अंचल अनुसार ही प्रयुक्त किए हैं । उदाहरण के दर्जी खुदाबख्श और सरदार हाकिम सिंह की बीवी के बीच का यह संवाद द्रष्टव्य है "बे बख्शिया तूँ कपडे की देसे मरसे या फेरे ही पवांदा रहसे' "जद्द मैं कहँदा रिहा बीवी भेजो कपडे भेजो कपडे, तुझाँ कुझ न कीता, सारियाँ सरदियाँ लंघा दितियाँ । हुण वकत ताँ लगदै । सौलह हत्थ ताँ नहीं मेरे ।"[1]

इसी प्रकार हिन्दुओं की गति-विधियों को चित्रित करते समय हिन्दू परिवेश, मुसलमानों की गति-विधियों को चित्रित करते वक्त उर्दू बहुल हिन्दी का प्रयोग किया गया है । हिन्दू परिवेश का भास वानप्रस्थिजी के आश्रम के वर्णन के वक्त हम देख सकते हैं - "अन्त में शान्तिपाठ हुआ और सारा हॉल पुरुष-स्त्रियों के कंठ से गूंजने लगा, क्योंकि शान्तिपाठ का मंत्र सभी को कंठस्थ था -

"ॐ द्यौ शान्ति पृथ्वी शान्तिराप:
शान्तिरौषधय: शान्ति वनस्पति:"[2]

यहाँ संस्कृत निष्ठ हिन्दी एवं शुद्ध संस्कृत का प्रयोग किया गया है । लीज़ा-रिचर्ड के प्रसंगों में अंग्रेज़ी शब्दों के प्रयोग बीच-बीच में आए हुए हैं -

---

1. तमस - पृ: 90 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 59.

"यू आर नो हिन्दू, यू टोल्ड ए लाई ।
नो मैडम आई एम ए हिन्दू, ए ब्राह्मण हिन्दू ।
ओ नो, दैन वेयर ईज़ युअर टफ्ट[1]"।

तमस में अनेक स्थलों पर लेखक ने अपनी मुहावरेदार शैली का प्रयोग किया है । इस प्रकार की भाषा-शैली के कारण उपन्यास में रोचकता और यथार्थबोध आया है । उदाहरण स्वरूप हम देख सकते हैं कि –

"नहीं बन्दापरवर, कभी यों भी हुआ है, आप पढे-लिखे खानदानी लोग हो, हम आपसे झाडू लगवायेंगे, तो वह इस्तफार ! लाइए मुझे दीजिए, हमें क्यों दोज़ख की आग में धकेलते हो ।"[2]

"तुम्हारा क्या है, तुम तो साधु वैरागी हो, तुम्हारी न रन्न न कन्न । . . . फिर भी तुम आस्तीन का सांप पाल रहे हो । उधर मुबारक अली लीगियों के साथ साँठ-गाँठ कर रहा है ।"[3]

इसप्रकार तमस की भाषिक संरचना अनेक विशेषतायें ली हुई है । यथार्थधर्मिता, बिंबात्मकता, प्रतीकात्मकता भाषा के गुण हैं । अनेक घटनायें दृश्य रूप में प्रदर्शित की गयी हैं । उपन्यास का आरंभ ही एक बिंबात्मकता के साथ हुआ है, जिससे नत्थू के जीवन एवं मन की अचंचलता, जो बाद में होती रहती है, को द्योतित किया गया है । कहीं कहीं भाषा प्रतीकात्मक एवं व्यंग्यात्मक भी हो गयी है । इसके बारे में राजकुमार सैनी का कथन है कि "इस उपन्यास की ताकत देश-व्यापी गृह-दाह में ईंधन जुटानेवाली प्रतिगामी शक्तियों के आलम को बेनकाब कर देने वाली, उस व्यंग्यात्मक शैली में निहित है, जो भाषा की व्यंजनात्मक शक्ति का भरपूर इस्तेमाल करती हुई फिरकापारस्ती, कट्टरधर्मिता, धर्मान्धता आदि की मनःस्थितियों के सामाजिक सन्दर्भों को पर्त-दर-पर्त उघाडती चलती है ।"[4]

---

1. तमस – पृ: 86-87 – भीष्म साहनी ।
2. वही – पृ: 50.
3. वही – पृ: 81.
4. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना – पृ: 127 – सं. राजेश्वर सक्सेना – [illegible] ।

"बसन्ती" में भीष्म जी की भाषापरक क्रियाशीलता एवं कलात्मकता का नवीनतम परिचय मिलता है। इसकी भाषा समाज के बदलते साँस को पकड़ती है। अतः इसकी भाषा में सार्वजनीनता के साथ अंग्रेज़ी शब्द, जो आधुनिक जीवन में सदा प्रयुक्त करते हैं, भी आए हैं। भाषा की स्वाभाविकता को ज्यों-का-त्यों उन्होंने उपन्यास में प्रस्तुत किया है। "बोलो तो मीठा, भाई हमारे साथ बोले तो मीठा," "बरसेगा, आज ज़रूर बरसेगा", "नियेगी पियेगी बसन्ती की माँ, यह कोका-कोला पियेगी" आदि वाक्यों में शब्दों को दुहराकर स्वाभाविकता की भंगिमा को सुरक्षित रखा गया है। इस प्रकार भाषा की व्यंग्यात्मकता के अनेक पहलू भी प्रस्तुत उपन्यास में मिलते हैं। "तभी से बुलाकी ने दूल्हे का अंगरखा नहीं उतारा। क्या मालूम कब ब्याह का मुहूरत निकल आये।"[1] बुलाकी राम जो साठ वर्ष का लंगडा पुंसत्वहीन आदमी है, सदा दुल्हा के वेश में चलता है। भीष्मजी का व्यंग्य कभी-कभी बहुत गहरा भी होता है। चौधरी सूरी साहिब से कहता है कि "लडकी ने शहर की हवा खायी है।"[2] इसमें शहरी जीवन पर उनका अर्थपूर्ण व्यंग्य है।

"बसन्ती" में प्रतीकात्मकता एवं बिंबात्मकता का अभाव तो नहीं है। उपन्यास में दो बार बस्ती उजाडने का बिंबात्मक चित्र उभरकर आया है। इसके माध्यम से लेखक निम्नवर्ग के जीवन की असली हालत की ओर संकेत करते हैं। उसी तरह बसन्ती के जीवन के उतार-चढ़ाव को बस्ती के तोडने एवं पुनः जुडने के सामानान्तर प्रतीकात्मक ढंग से दिखाया है।

कहानियों की शिल्प-विधि

नए कहानीकारों में भीष्म जी कलापक्ष पर अधिक जोर देनेवाले कथाकार नहीं है। अतः उनकी कहानियों में शिल्पगत नए-नए प्रयोग कम ही हुए हैं उन्होंने शिल्प पक्ष की उपेक्षा की है ऐसी बात नहीं है। वे कलापक्ष को अनदेखा करना नहीं चाहते हैं।

---

1. बसन्ती - पृ: 63 - भीष्म साहनी।
2. वही - पृ: 127.

नयी कहानी के शिल्पगत प्रयोगों में कथानक का ह्रास, कथा विन्यास की विविधता, सांकेतिकता, बिंबात्मक प्रयोग, प्रतीक एवं भाषागत प्रयोग ही मुख्य हैं । ये सभी गुण भीष्म जी की कहानियों में भी है । लेकिन उनकी प्रारंभिक कहानियों में अपेक्षाकृत ये गुण कम ही है । "भटकतीराख", "पटरियाँ" और "वाङ्चू" संग्रहों में उनके कथ्य के समान शिल्प भी अधिक सम्पन्न हुए हैं ।

कथानक का ह्रास

नयी कहानी और पुरानी कहानी के शिल्प में काफी अन्तर दिखाई पडता है । उसमें एक मुख्य परिवर्तन उसकी कथा के गठन में ही हुआ है । पुरानी कहानी कुतूहलपूर्ण, मनोरंजक एवं नाटकीय घटनाओं को कथानक में स्थान मिला था । तब उसका उद्देश्य मनोरंजन एवं उपदेश मात्र था । नयी कहानी का उद्देश्य यथार्थ को अभिव्यक्ति देना है अतः उसमें सुघटित कथानक की जगह किसी मूड, प्रसंग, विशिष्ट व्यक्ति चरित्र ने ले ली है । इसमें कथारंभ, उत्कर्ष और अन्त भी नहीं है । इन सबका गायब होना नई कहानी के कथानक की विशेषता है । "ह्रास कथानक का नहीं, बल्कि कथा का हुआ है और जीवन का एक लघु प्रसंग, प्रसंग-खण्ड, मूड, विचार अथवा विशिष्ट व्यक्ति चरित्र ही कथानक बन गया है, अथवा उसमें कथानक की क्षमता मान ली गयी है ।"[1]

भीष्म जी कहानियों का कथानक भी नई कहानी की इस विशेषता का अपवाद नहीं है । उन्होंने अपनी कहानियों में कहीं-कहीं विशष्ट व्यक्ति-चरित्र, मूड, प्रसंग या विचार को ही अपने कथानक के रूप में चुन लिया है । "वाङ्चू", सरदारनी, दहलीज़, अहं ब्रह्मास्मि, जैसी कहानियों में एक खास व्यक्ति चरित्र ही कथानक का रूप धारण कर लेता है । "मौकापरस्त", अमृतसर आ गया है, "चीफ की दावत", "ढोलक" जैसी कहानियों में कोई न कोई प्रसंग ही कथानक-रूप धारण कर लेते हैं । "जख्म" जैसी कहानियों में एक मूड ही इस प्रकार कहानी का कथ्य बन गया है । इस प्रकार के बदलाव से कहानी में कथानक बच जाता है, कथ्य का मौलिक हास मात्र होता है । "शिल्प-

---

1. कहनी : नयी कहानी - पृ: 15 - डा. नामवर सिंह ।

विधि की दृष्टि से कथानक का मौलिक ह्रास कहानी कला का उत्थान है, जहाँ कहानी अपने कथानक तत्व में बाह्य उपकरणों से आगे बढ़कर आन्तरिक उपकरणों तथा स्थूल से सूक्ष्म तत्वों को क्रमशः अपना उपजीव्य बनाती चलती है ।"[1] इस प्रक्रिया में कहानी में चरित्र ही मुख्य हो जाता है ।

कथा-विन्यास अथवा शैली

भीष्म जी का प्रयोग, चाहे या अनचाहे हो, कथा-विन्यास में अधिक दृष्टिगत होता है । उन्होंने कहानी की सीमाओं के अन्तर्गत प्रायः सभी नवीन गद्यविधाओं को समाहित किया है । इसलिए उनकी शैली में विविधता है साथ ही नवीनता भी है । उनकी अधिकांश कहानियाँ प्रथम पुरुष द्वारा आगे चलती हैं, कहीं कहीं उसमें संवाद, ब्यौरा, संलाप भी हो । इसके अलावा लोक-कथाओं का समर्थ प्रयोग उन्होंने किया है । इन दोनों शैली के सिवा यात्रा वृत्तान्त, एकालाप, पूर्वदर्शन, संस्मरण आदि पद्धति को उन्होंने अपनाया है । कथा-विन्यास की विभिन्न शैली केलिए उनका "वाड्चू" नामक संग्रह ही काफी है । इसमें "वाड्चू" संस्मरण शैली में लिखी गयी है तो "खण्डहर" में पूर्वदर्शन पद्धति को अपनायी है । "सागमीट" में एकालाप की शैली और "ओ हरामजादे" यात्रा-वृत्तांत की शैली अपनायी गयी है । इनमें भी बीच-बीच में रेखाचित्र जैसा विवरण भी स्थान प्राप्त करता है । वाड्चू के चरित्र-चित्रण के वक्त उसका शारीरिक अंग-प्रत्यंग वर्णन रेखाचित्र जैसा ही लगता है ।

"भटकती राख", "अनोखी हड्डी", "शोभायात्रा" और "राणी महतो" में राजा-महाराजा की लोककथाओं के ज़रिए यथार्थ को पकड़ने का प्रयास किया गया है । "भटकती राख" में अतीत के ज़रिए वर्तमान की चेतावनी एवं आस्थावादी चिन्तन है तो अन्य तीनों कहानियों में अत्याचारी शासन को दिखाकर मौजूद व्यवस्थागत यथार्थ को पकड़ने का प्रयास है । भीष्मजी की कहानियाँ में अनुभव की गहराई अधिक है । उक्त गहराई को तीव्र बनाने केलिए ही उन्होंने अधिकांश कहानियों में वक्ता द्वारा कहानियों को आगे बढ़ा दिया है । उनकी श्रेष्ठ कहानियों में - अमृतसर आ गया है, मौका परस्त,

1. आधुनिक हिन्दी कहानी - पृ: 72 - लक्ष्मीनारायण लाल ।

अहं ब्रह्मास्मि, तमगे आदि में इसी प्रणाली को ही अपनाया है । भीष्म जी के कथा-विन्यास के बारे में डा. विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है कि "भीष्म साहनी का कथानक-विन्यास नीरन्ध्र होता है । वे वर्णन-विवरण देते हैं । दृश्यता को अंकित करने केलिए अलंकार वगैरह यूँ ही आ जाएँ तो आ जाएँ । पात्रों की अपनी संवाद-शैली है, वर्णन-विवरण का प्रसंगानुसार ढंग है । लेखक की अपनी कोई विशिष्ट शैली नहीं ।"[1]

पात्र संकल्पना

भीष्म जी के पात्रों में इतनी विविधता है कि उनकी दृष्टि से कोई चरित्र समाज में नहीं बचा हो । उनकी कहानियों के पात्र जीवन के यथार्थ को उसकी संपूर्णता एवं व्यापकता के साथ प्रस्तुत करने में समर्थ निकलते हैं । उसमें स्त्री और पुरुष है, स्वदेशी है विदेशी है, बूढा-बूढी है, बच्चा-बच्ची है, नौकर-नौकरानी है, मालिक-मालिकिन है, ब्राह्मण और चमार है, आलसी एवं कर्मण्य है, मरीज एवं सुखी है, माता एवं विधवा है । लेकिन उनको प्रिय पात्र सदा शोषित, पीडित एवं थके-हारे होते हैं । ऐसे पात्रों को उजागर करने केलिए वे अन्य पात्रों की सृष्टि करते हैं । ऐसे पात्रों में संभलके बाबू" का नत्थू, "पिक्निक" की गौरी, "सागमीट" का जग्गा, "राधा अनुराधा" की राधा, "खून का रिश्ता" एवं "चाचा मंगल सेन" के मंगल सेन, "जोत" का जानकू "मुर्गी की कीमत" का अहमद् जैसे अनेक पात्र आते हैं । दूसरी ओर "मौका परक्त" का रामदयाल, "नया मकान" का गिरिजा, "जोत" का रेंजर, "कुछ और साल" का मधुसूदन, "राधा अनुराधा" की श्याम बीवी, "पिक्निक" की गिह्वानी एवं वकील की बीवी जैसे अनेक प्रतिपक्ष पात्र भी हैं ।

भाषा

भाषा संप्रेषण का माध्यम है । लेखक अपने मंतव्य को इसके जरिए संप्रेषित करना चाहता है । भाषा मात्र माध्यम नहीं वह भावें, एवं संवेदनाओं को रूप भी दे सकती है । "अर्थात भाषा को भावों की अनुगामिनी न मानकर भावों और संवेदनों की

---

1. समकालीन भारतीय साहित्य - जुलाई-सितंबर, 1990 - पृ: 184.

प्रकृति का भाषा-द्वारा अनुशासित और निर्धारित होना माना जाए ।"[1] भाषा को रचनाकर समाज से ग्रहण करता है और उसे दूसरे रूप में पाठक व श्रोता के सम्मुख प्रकट करता है । इस बीच भाषा लेखकीय व्यक्तित्व, विचारधारा से भी प्रभावित अवश्य होती है । "रचनाकार को सृजन के पूर्व और बाद, दोनों ही स्थितियों में भाषा का प्रयोग करना है । पहला रूप वह मुख्यत: समाज से ग्रहण करता है, और दूसरे रूप में वह अपने व्यक्तित्व को भी मिश्रित कर देता है, पर उसी हद तक कि उसकी भाषा उसके समाज केलिए प्रेषणीयता बनाये रख सके ।"[2]

नयी कहानी में भाषा का नया रूप ही दिखाई देता है । वह कहानीकार की मानसिकता पर आधारित है । भीष्म जी को "वह भाषा पसन्द है, जो लेखक के अनुभवों को ओजस्विता से व्यक्त करे और पाठकों को भी काठ का उल्लू नहीं समझे, और उसके अस्तित्व को भी नहीं नकारे ।"[3] भीष्मजी अपनी कथा-यात्रा के अनुसार भाषा की खोज भी करते रहे हैं । क्योंकि जीवन के अनुसार भाषा में संप्रेषण क्षमता की वृद्धि की आवश्यकता है । इसके बारे में कमलेश्वर का मत सही लगता है कि "हर लेखक को भाषा की खोज करनी पडती है, क्योंकि आदमी के अन्दर और बाहर जो खामोशी है, और उसके अन्दर और बाहर जो शोर है, वह हर समय एक-सा नहीं होता और उसी को कथाकार शब्द देता है ।"[4]

भीष्म साहनी की कथा-भाषा मोटे तौर पर सरल एवं सहज कह सकते हैं । वह साधारण होने पर भी सार्थक है । उसके द्वारा सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मनोभावों और जटिल से जटिल स्थितियों का अंकन संभव है । "मैं लगभग बीस बरस के बाद उससे मिलने जा रहा था । आम तौर पर मैं पुराने दोस्तों से मिलने से कतराता हूँ । उनसे मिलने पर पुरानी

---

1. भाषा और संवेदना - पृ: 97 - डा. रामस्वरूप चतुर्वेदी ।
2. वही - पृ: 98.
3. मोहन राकेश : सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि - पृ: 75 - मोहन राकेश ।
4. नई कहानी की भूमिका - पृ: 167 - कमलेश्वर ।

सुखद स्मृतियों का प्रभाव बहुत-कुछ टूट-फूट जाता है, और वर्तमान की वास्तविकता भी कहीं-न-कहीं मन में अकुलाहट-सी पैदा करती है । चेहरे पर समय के साये, खिचड़ी बाल, धूसर च्येहरा देखकर मन को कोफ़्त होती है । फिर आँखों के भाव में पुरानी सहजता के स्थान पर अनुभव का पैनापन आ चुका होता है, संशय का भाव आ चुका होता है, और आँखें बार-बार एक दूसरे को तौलती-सी नजर आती हैं कि तुम कहाँ तक पहुँचे । और धीरे-धीरे सारा उत्साह और स्नेह एक प्रकार की ठण्डी औपचारिकता में सिमटकर रह जाता है ।"[1] इससे व्यक्ति के चरित्र के साथ कहानी के मतंव्य का संकेत मिलता है । भीष्म जी में गद्य में काव्यत्व भरने की क्षमता है । कहीं कहीं वर्णनात्मकता के वक्त ऐसे अंश मिलते हैं । "मन्दिर तक पहुँचते-पहुँचते चार बज गए । पहाड़ी के नीचे एक ओर को चौड़ी-झील बिछी थी । ऊपर आकाश का रंग ताँबे-जैसा लाल हो रहा था । यही यहाँ का सूर्यास्त माना जाता होगा । आस-पास की छोटी-छोटी पहाड़ियाँ भी आकाश की लालिमा से ढकी थीं । इसी लाली के कारण नीचे की झील किसी दहकते द्रव्य का बहुत बड़ा कुण्ड लग रही थी । चारों ओर फैली इस लाली की पृष्टभूमि में अनेक पक्षी अपने पतले-पतले, काले पंख फैलाए, जैसे आग की लपटों से बच पाने केलिए भागे जा रहे थे . . . ।"[2] भीष्म जी के स्वभाव का असर उनकी भाषा पर पड़ने के कारण भाषा कहीं-कहीं मंद और धीमी हो गयी है, पर संप्रेषण में समर्थ भी । "भीष्म जी की यह भाषा दैनिक जीवन की खड़ीबोली है जिसे उन्होंने सृजनात्मक रूप दे दिया है । उसमें बीच-बीच में उर्दू और पंजाबी के प्रयोग-शब्द और मुहावरे-मिलते हैं, जिससे वह भाषा अधिक सरल हो गयी है ।"[3] उनकी भाषा ईर्ष्या, द्वेष, खीझ इत्यादि भावों को रूप देने में समर्थ हुई है । "देख, गरीबों के बच्चे कितने मज़बूत होते हैं । इतनी ठण्ड में भी पानी से खेल रहा है ।"[4] प्रारंभिक कहानियों की अपेक्षा बाद की कहानियों में व्यंग्य की वृद्धि हुई है । साथ ही भाषा में कठोरता एवं

---

1. वाङ्चू - पृ: 68 - भीष्म साहनी ।
2. वही - पृ: 168.
3. प्रेमचन्द का नया सौन्दर्य शास्त्र - पृ: 157 - डा. नन्द किशोर नवल ।
4. वाङ्चू - पृ: 48 - भीष्म साहनी ।

मुहावरों का प्रयोग भी । "हम तो कुत्ते से कुत्ते के नाते, सच्चे प्रजातंत्रवादियों की तरह प्यार करते थे । हमें क्या मालूम था कि यह गुल खिलेगा ।"[1] उन्होंने भाषा की संवाद-शक्ति का प्रयोग भी किया है । संवादों द्वारा व्यक्ति चरित्र उभरकर आएगा, साथ ही कहीं कहीं नाटकीयता भी । जैसे -

"कौन-सा स्टेशन था यह' डब्बे में किसी ने पूछा । बजीराबाद, किसी ने उत्तर दिया । जवाब मिलने पर डब्बे में एक और प्रतिक्रिया हुई ।"[2]

"सरदार ने आगे बढ़कर दोनों जेबें टओल लीं ।
मुझे क्या मालूम कहाँ रखे हैं ।
छातियों के बीच छिपा रखे होंगे ।"[3]

इसप्रकार "शब्दों को संचार का माध्यम"[4] माननेवाले लेखक की भाषा का हर शब्द अथवान होता है ।

सांकेतिकता

नये कहानीकार यथार्थ को ज्यों-का-त्यों अभिव्य नहीं करते हैं । उसे कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करने केलिए संकेतों, बिंबों, प्रतीकों का सहारा लेते हैं । वे अपने कार्य को सीधे नहीं कहते उसका संकेत मात्र देते हैं । वे परिवेश एवं चिरत्रों द्वारा अपना उद्देश्य को अभिव्यक्ति देते हैं । संकेतों द्वारा अपना मतव्य को प्रकट करने के कारण ही निर्मलवर्मा ने नई कहानी को "बीटिंग एरौंड द बुश" कहा है । कहानी में सांकेतिकता का प्रयोग प्रेमचन्द की अन्तिम कहानियों में देखने को मिलता है । इस समय कहानी में संकेत कहानी के अन्त में मात्र सीमित रहा था । लेकिन नई कहानी "आधारभूत विचार का केवल अन्त में संकेत नहीं करती, बल्कि नयी कहानी का समूचा रूप-गठन§स्ट्रेक्चर§ और

---

1. भटकती राख - पृ: 32 - भीष्म साहनी ।
2. पटरियाँ - पृ: 25 - वही ।
3. वही - पृ: 99.
4. मोहन राकेश : सांस्कृति और साहित्यिक दृष्टि- पृ: 72 - मोहन राकेश । §"मैं शब्दों को संचार का माध्यम मानता हूँ . . . और साहित्य को सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग भी - भीष्म साहनी§ ।

शब्द-गठन {टेक्चर} ही सांकेतिक है ।"[1] याने नई कहानी आरंभ से अन्त तक संकेतों द्वारा अपना काम लेती है, और उपयुक्त प्रसंग में ये संकेत अपने को और भी स्पष्ट करते हैं ।

भीष्म जी अपने उद्देश्य को इस प्रकार के संकेतों द्वारा व्यक्त करते हैं । कहीं उनका संकेत शीर्षक से शुरु होकर कहानी के अन्तिम शब्द तक व्याप्त होता है । उनकी प्रारंभिक कहानियों में संकेत कहानी के अन्त में ही रूप लेता है । "जोत", "मुर्गी की कीमत" जैसी कहानियों में लेखक ने यही कार्य किया है । "जोत" में जानकू की जिन्दगी की विडंबना को और "मुर्गी की कीमत" में अहमद् के जीवन की विडंबना को परिवेश एवं परिस्थिति के संकेतों द्वारा मार्मिक ढंग से व्यक्त किया है । साथ ही इनमें उनका संकेत शोषक वर्ग की अमानवीयता एवं स्वार्थ लाभ को भी व्यक्त करता है । भाग्यरेखा में संकेत का सतही रूप मिलता है तो "चीफ की दावत", पटरियाँ, अमृतसर आ गया है, साये, भटकती राख, जख्म, क्रिकेट मैच, सागमीट, गलमुच्छे, नयामकान, निशाचर, विकल्प, पोखर, खिलौना, अनोखी हुड्डी, राणी महतो, शोभायात्रा, ललक जैसी अनेक कहानियों में सांकेतिकता का सूक्ष्म एवं व्यापक प्रयोग हुआ है । "चीफ की दावत" का संकेत वर्ग-सक्रमज की इच्छा की अमानवीयता पर है, और "ललक" में वह और भी व्यापक रूप में दिखाई देता हैं । "अमृतसर आ गया है" की भयावहता को बडे सांकेतिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है । "अपने समय के सामाजिक, पारिवारिक परिवेश में पारम्परिक, सामाजि, नैतिक मूल्यों के बिखराव को यह कहानी सांकेतिक रूप में व्यक्त करती है ।"[2] पटरियाँ में सांकेतिक प्रयोग शीर्षक से लेकर अन्त तक विद्यमान है । वह दो वर्ग के समानान्तर चलते रहने की ओर इशारा करता है । दूसरी ओर यह कहानी वर्ग सक्रमण की भावना को सांकेतिक रूप में अभिव्यक्ति देने में सफल हुई है । इसका संकेत कहानी की अन्तिम पंक्तियों में और भी पूर्णता प्राप्त करता है । "उसे लगा, जैसे टूटे

---

1. कहानी : नयी कहानी - पृ: 36 - डा. नामवर सिंह ।
2. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य : मूल्यों से प्रयाण - पृ: 60 - डा. रघुवीरसिंहा, शकुंतला सिन्हा ।

सपनों के टुकडे, जो इधर-उधर बिखर गए थे फिर से जुडने लगे हैं और कटरा राधोमल, पीछे छूटता जा रहा है और बस लाजपत नगर की ओर बढे जा रही है, बढे जा रही है ।"[1] पीढीगत संघर्ष को "जख्म" बहुत ही कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करती है तो पति-पत्नी के बीच के संघर्ष को उभारने में क्रिकेट मैच समर्थ हुई है । नई पीढी की उन्नति पुरानी पीढी को जख्में करती जाती है, इसकी ओर जख्म संकेत देती है तो क्रिकेट मैच मैदान में नहीं पारिवारिक जीवन में चलता है उसकी ओर इशारा करती है "क्रिकेट मैच" नामक कहानी । कैसे मैदान में शानदार बल्लेबाज गेंद मारता है इसे दिखाकर पति पत्नी को पारिवारिक जीवन रूपी खेल में मार देता है उसका अंकन करता है । "साये" नामक कहानी पति-पत्नी संघर्ष को उनके बच्चे के माध्यम से पूर्ण शक्ति के साथ प्रकट करने में सफल हुई है । "संकेत संपन्नता और भाव-सघनता की दृष्टि से "साये" इस एक महत्वपूर्ण कहानी है जहाँ पति-पत्नी में कलह की छाया के अस्वस्थ प्रभाव की बात उनके बडे होते हुए बच्चे के ऊपर बडे कलात्मक रूप में कही गयी है ।"[2] "भटकती राख" के शीर्षक से शुरु होनेवाली सांकेतिकता, कहानी के बीच-बीच में लेखक की प्रगतिशील चेतना प्रकट करके अन्त में अपना मंतव्य पूरा कर सकती है । "पौ फट रही थी । पेडों पर पक्षी गाने लगे थे । किसान युवती देर तक मंत्रमुग्ध-सी हथेली पर रखे राख के जर्रे की ओर देखती रही और फिर बडी श्रद्धा से उन्हें अपने माथे पर लगा लिया ।"[3] इस तरह भीष्मजी की कहानियाँ अपने सांकेतिक शिल्प में मार्मिक लगती हैं ।

समर्थ कथाकार ही सशक्त संकेतों का प्रयोग कर सकते हैं । अपने व्याप एवं गहरे अनुभव के सहयोग से भीष्मजी की बुद्धि एवं पैनीदृष्टि समर्थ सांकेतिक प्रयोगों : सफल हुई हैं । "सांकेतिकता कथाकार के व्यक्ति-मन और परिवेश को भी अच्छी तरह

---

1. पटरियाँ - पृ: 19 - भीष्म साहनी ।
2. आज की हिन्दी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया - पृ: 114 - मधुरेश ।
3. भटकती राख - पृ: 14 - भीष्म साहनी ।

व्यक्त करती है । इसके नियोजन केलिए कथानक, चरित्र, संवेदना, वातावरण के अन्तर संबन्धों की जानकारी आवश्यक है ।"[1] भीष्मजी की कहानियों में प्रयुक्त सांकेतिकता इसका प्रमाण ही है ।

बिंब और प्रतीक योजना

बिंब कहानी की भी एक सार्थक शिल्पगत विशेषता है । प्रायः प्रतीक से बिंबों का निर्माण होता है । बिंब मानसिक स्थिति को व्यक्त करने में समर्थ है तद्वारा चरित्र को भी । भीष्मजी की कहानियों में बिंबात्मक प्रयोग कम ही दिखाई पडते हैं । "अमृतसर आ गया है", पोखर, पटरियाँ जैसी कहानियों में बिंबात्मकता का निदर्शन होता है । "पोखर" में कहानीकार एक रैलवे डिब्बे का दृश्य बिंब दिखाकर भारतीय जनता की सडी हुई मनस्थिति को दिखाता है ।

भीष्मजी संश्लिष्ट यथार्थ को सघन बनाने केलिए प्रतीकों का प्रयोग करते है जिसके साथ कहानी की कलात्मकता भी बढ रही है । "प्रतीक एक प्रकार का संकेत ही है, पर संकेत और प्रतीक दोनों में व्यापकत्व और संकोचन का अन्तर है । प्रत्येक प्रतीक संकेत हो सकताहै, पर प्रत्येक प्रतीक संकेत नहीं हो सकता । संकेत का सांचा प्रतीक से अधिक अनिश्चित और अनेकविध होता है ।"[2] कहानी की सांकेतिकता को अर्थपूर्ण एवं सार्थक बनाने केलिए प्रतीकों का प्रयोग होता है । कहानी में कहीं आधुनिक समाज के प्रतिनिधि चरित्र को प्रतीकों द्वारा प्रस्तुत करते हैं तो कहीं कहानी पूर्णतः प्रतीकात्मक बन जाती है । कुछ कहानियों की प्रतीकात्मकता शीर्षक पर है तो कहीं प्रतीकात्म वस्तु, बिंब, घटनायें भी आती हैं । प्रतीक कहानी को अतिरिक्त अर्थवत्ता प्रदान कर सकता है । "बीवर" नामक कहानी में कुत्ता ईमानदारी का प्रतीक बनकर अभिजात वर्ग पर व्यंग्य करती है । "चीफ की दावत" में पुराने गीत एवं फुलवारी प्राचीन संकृति का

---

1. नई कहानी के विविध प्रयोग – पृः 142 – डा. पांडेय शशिभूषण "शीतांशु" ।
2. वही – पृः 143.

उपसंहार

प्रगतिशील कथा-साहित्य और भीष्म साहनी

साहित्य में सामाजिक यथार्थ की संकल्पना एवं कथा साहित्य का आविर्भाव दोनों आधुनिक युग की देन है । समय के अनुसार समाज में परिवर्तन होते रहते हैं । इसके समानान्तर ही सामाजिक यथार्थ और उससे जान लेनेवाला कथा-साहित्य भी । जीवन एवं यथार्थ सादगी से संश्लिष्ट की ओर संक्रमण करने लगे । इस संश्लिष्ट जीवन यथार्थ को संप्रेषित करने के प्रयास में उपन्यास एवं कहानी दोनों यथार्थ का मुकाबला अधिक निकट से करने लगे । बीसवीं सदी के चौथे दशक में मार्क्सवाद का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पडने लगा, साथ ही सामाजिक यथार्थ की पटरी पर चलनेवाले साहित्य को एक वैचारिक आधार मिला । इसके साथ उसकी दृष्टि स्वस्थ एवं पैनी हो गयी और गति उद्देश्यपूर्ण भी । मार्क्सवाद के प्रभाव-स्वरूप हिन्दी साहित्य में कुछ देर तक यथातथ्य को यथार्थ मानने का भ्रम था । इस समय का कथा-साहित्य लगभग विचारों का संवाहक के स्तर तक पहुँचा था । स्वातंत्र्योत्तर युग में प्रगतिशील कथा साहित्य को एक सार्थक एवं साफ-सुथरी दृष्टि मिली ।

कथा साहित्य में प्रेमचन्द के आविर्भाव से सामाजिक यथार्थ बल पकडने लगा । उनके बाद यशपाल, रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन, भैरवप्रसाद गुप्त, नागार्जुन जैसे लेखकों ने सामाजिक यथार्थ पर अधिक रंग भरने का काम किया था । लेकि स्वातंत्र्योत्तर युग में भीष्म साहनी, अमरकांत, शेखर जोशी, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह आदि लेखको ने सामाजिक यथार्थ के बल पर ही कथा साहि को आगे बढाया । इनमें कुछ लेखक आधुनिकता के भ्रम में पडकर कभी-कभी अपनी अि को बनाए रखने में असर्थ हो गए हैं, और कुछ लेखक या तो उपन्यास में नहीं तो कहान में मात्र सफल दीखते हैं । लेकिन भीष्म साहनी का कथा साहित्य सामाजिक यथार्थ

पटरी पर ही अपनी प्रगतिशील चेतना की गाडी को आगे बढाने में समर्थ निकलता है। भीष्म जी नए कहानीकारों के साथ शुरु करके आधुनिकता के भ्रम से अपने को बचाकर सामाजिक संस्पर्श से जान लेनेवाली कहानियाँ लिख रहे थे। साठ के बाद उनके समकालीन अन्य लेखकों के कालगत होने पर भी उनकी क्षमता कर्मवत रही। सत्तर के आसपास उपन्यास लेखन शुरु करके संपूर्ण कथा साहित्य में अपनी वैयक्तिक पहचान बनाने में वे समर्थ निकले। सात कहानीसंग्रहों एवं चारों उपन्यासों में वे अपने प्रगतिशील विचार को बनाये रखने में वे सफल हुए हैं। अब भी वे उसी पटरी पर आगे चलते हैं।

हमारा परिवेश एक ओर धर्म, नियतिवाद, भाग्यवाद, सदाचार, नैतिकता इत्यादि के गढ़बन्धन से बन्धा हुआ है तो दूसरी ओर उच्च वर्ग की ओर ताकने की प्रेरणा भी देता है। आधुनिक मध्यवर्ग सामाजिक सत्य के प्रति अवगत है। पर वे उसकेलिए काम न करके समझौता करने में तल्लीन दिखाई पडते हैं। आदर्श, यथार्थ एवं नैतिकता के बीच अन्तर्विरोध एवं विसंगतियाँ सदा ही उमडते हैं। राजनीति के क्षेत्र में जनतंत्र के नाम पर पूंजीवादी शासन चल रहा है और धार्मिक क्षेत्र में धर्म निरपेक्षता के नाम पर सांप्रदायिक शक्तियाँ बलवती होकर मानव जीवन को अन्धकार में डालती हैं। सांस्कृतिक क्षेत्र में अनुशासन एवं नैतिकता के स्थान पर उसके उल्टा ही हो रहा है, चाहे व्यक्ति एवं सामाजिक जीवन में हो या शासन तंत्र में। समाज की इन शक्तियों, स्थितियों एवं शोषणों से मनुष्य को मनुष्य बनाने का कार्य भीष्म जी के कथा साहित्य का मंतव्य है। उनके साहित्य को उसकी दक्षता है, इसीलिए ही नकारात्मक शक्तियाँ कभी कभी उनका एवं उनके साहित्य का विरोध करती रही हैं।

भारतीय जनता धार्मिक वृत्ति की है। धर्म के मूल में मनुष्य को संस्कृत करने का कार्य है। लेकिन शोषक वर्ग उसमें प्रक्षिप्तों को जोडकर, गलत व्याख्या देकर जनता को धर्म के अफीम देते हैं। इस अफीम के नशे में लोग अपने को ही नहीं भविष्य, वर्तमान एवं इतिहास को भूलते हैं, परिवार, देश एवं देश की उन्नति को भूलते हैं। धर्म से उत्पीडित मनुष्य का सदुपयोग शोषक वर्ग अपने गंतव्य को साफ करने केलिए ही नहीं, बल्कि अपने मंतव्य को प्राप्त करने केलिए भी करते हैं। इस प्रकार धार्मिक लोगों के शोषण में साम्राज्यवादी चाल में पडे राजनीतिक धार्मिक नेता ही तल्लीन हैं।

धर्मभीरू लोग जाने-अनजाने ही शोषक की कठपुतली बन जाते हैं । इसकेलिए शोषक वर्ग इतिहास और पुराण को ही नहीं, बल्कि कानून व संविधान को भी काना बना देते हैं । इसको दिखाने में भीष्मजी का रचना संसार सदा व्यग्र दिखाई पडता है । भाग्यरेखा से लेकर उनकी सभी रचनाओं में वे इसके कोने-कोने झंकने का प्रयास कर रहे हैं । 'पहला पाठ,' 'एष धर्मः सनातनाः', 'कांटे की चुभन', 'अमृतसर आ गया है', 'जहूरबख्श', 'सरदारनी' जैसी कहानियाँ एवं 'तमस' उपन्यास इसको प्रत्यक्ष उदाहरण हैं । इनके अलावा प्रासंगिक तौर पर उन्होंने इस भीषण यथार्थ के प्रति जनता को बोधगम्य होने की आवश्यकता की ओर संकेत किया है । "तमस" में साम्राज्यवादी सांप्रदायिक राजनीति के गठबन्धन में पडे लोगों की असली स्थिति दिखाकर वे चेतावनी देते हैं । फिर भी लोग उससे मुक्त नहीं होते हैं । क्योंकि ये शोषक शक्तियाँ जनता को उसी पटरी में बांधने का अनथक प्रयास कर रही हैं । विघटनवाद, जातिवाद - सबका खाल उतारने के प्रयास में वे अब भी निरत है, इसका प्रमाण है हाल ही में प्रकाशित "झुटपुटा" नामक कहानी ।

नारी शोषण नयी बात नहीं है । शताब्दियों से नारी मानसिक और शारीरिक दोनों रूप में पिडित एवं शोषित है । प्राचीन काल से लेकर अब तक नारी की महिमाओं के बारे में बातें हो रही हैं । लेकिन असली स्थिति अब तक पुरानी ही है । पिता, पति एवं पुत्र के अधीन नारी बेटी, पत्नी एवं माँ के रूप में रहती चली आयी है । यह प्रथा ही उसकेलिए शाप बन गयी है । सुरक्षा एवं नैतिक-अनुशासन के बहाने हो रहे शोषण के अलावा परम्परावाद भी उसे दासी के रूप में खडा कर देता है । नारी घर में या और कहीं पुरुष के नीचे ही रहने को बाध्य होती है । वह हर कहीं दासी और पुरुष स्वामी भी है । भीष्म जी के कथा साहित्य का दूसरा मुख्य मुद्दा नारी की कारुणिक स्थिति ही है । उसके यथार्थ को पकडने के प्रयास में वे अपने आत्मकथा को भी प्रस्तुत करते हैं । "झरोखें" उपन्यास में घर के चार-दीवारों के बीच बन्दी बनी लडकियों का सही चित्र उन्होंने दिया है । नारी शिक्षा एवं उत्थान केलिए ही आर्य समाज की स्थापना हुई थी । एक आर्यसमाजी परिवार में नारी की ऐसी स्थिति दिखाकर भीष्म जी नारी की वास्तविक स्थिति की ओर संकेत करते हैं ।

"बसन्ती" नामक उपन्यास नारी शोषण पर प्रहार करने वाला उपन्यास है । इसमें लेखक बसन्ती नामक निम्नवर्ग की लडकी के माध्यम से शोषक उपादानों - परम्परावाद, समज-व्यवस्था पुरुष सत्ता धर्मिक एवं नैतिक बन्धन, सुरक्षा की आड - सब को तोड देते हैं । बसन्ती सारी नीतियों एवं विश्वासों का उल्लंघन करके नारी जीवन केलिए एक नया नमूना प्रस्तुत करती है । सांप्रदायिक अन्धकार में उबलते "तमस" में भी भीष्म जी नारी चरित्र को संवारने में विशेष ध्यान देते है । उसका प्रमाण है सरदारनी, राजो आदि । ढाँचा-बद्ध चिन्तन एवं जीर्ण संस्कार नारी जीवन को कैसे कुचल देते हैं, इसकी ओर संकेत है "कडियाँ" की प्रमिला । इन सबके अलावा राधा, अनुराधा, एक रोमांटिक कहानी, निशाचर, भटकतीराख, सरदारनी, पिकनिक्, जोत, नयी नवेली, यादें जैसी कहानियों में उनकी गहरी संवेदना द्रष्टव्य है । भीष्म जी की नारी संवेदना गहरी एवं व्यापक हैं । उसमें पारिवारिक जीवन के अन्तर्गत रहकर अपने कर्तव्य निभानेवाली सरदारनी है, पारिवारिक एवं सामाजिक, नैतिक एवं अनुशासन संबन्धी मान्यताओं को तोडनेवाली राधा है, सामन्ती सभ्यता के विरुद्ध अकेली होकर लडनेवाली शिक्षित सुनन्दा है, मायके एवं ससुराल से उपेक्षित युवतियों का विद्रोही स्वर है, परम्परा एवं संस्कृति की महिमा लेकर जीनवाली माँ, दादी माँ, चाची हैं और आधुनिक-फैशन, धन और सुरक्षा के पीछे पडनेवाली आधुनिका भी हैं ।

भीष्म जी मध्यवर्ग के व्यक्ति हैं । अतः स्वभावतया उनकी रचनाओं में मुख्त स्थान उस वर्ग को ही मिला है । उपन्यास एवं कहानियों में इस वर्ग की सूक्ष्म परीक्षा उन्होंने की है । अर्थ के प्रति लालच मध्यवर्ग का लक्षण बन गया है । भीष्म जी का मध्यवर्ग वर्गसंक्रमण की उत्कट इच्छा लेकर भटकता रहता है । अपने लिए वह अप्राप्य समझकर भी यह मध्यवर्ग उसकी ओर ताकता ही रहता है । भीष्मजी के अनुसार यह मध्यवर्ग ही सामाजिक अवनति का मुख्य कारण है, जो सदा संकर्ष के स्थान पर समझौता करता चलता है । मध्यवर्ग के लोगों के बीच नैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक सम्मान अधिक है । लेकिन अपनी आर्थिक इच्छा के भटकाव में पडकर वे उपर्युक्त गुणों को खोखला बना देते हैं । इस तरह सामाजिक जीवन में अन्तर्विरोध एवं विसंगतियाँ उभरते हैं । आर्थिक उन्नति केलिए मध्यवर्ग मानवीयता को कुचल देता है और अनचाहा कार्य भी करने लगता है । इसप्रकार उच्चवर्ग की ओर ताकनेवाले मध्यवर्ग एवं उसकी यंत्रणा को भीष्म जी का कथा साहित्य उभारता है ।

इन सबके अलावा शिल्पपक्ष में भी उनका प्रगतिशील चिन्तन द्रष्टव्य है । आधुनिकता के भ्रम में पडकर कुंठित प्रयोगों से बचकर वे कथा-साहित्य केलिए जीवन की भाषा को अपनाते हैं । उसमें उर्दू, पंजाबी, अंग्रेज़ी शब्द और मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ मिलाकर बहते जीवन के अनुकूल बना देते हैं । साथ ही उसे समर्थ एवं शक्त बनाने केलिए उन्होंने संकेत, बिंब एवं प्रतीकों का सहारा भी लिया है । इस समय उन्होंने प्रगतिशील कथा-साहित्य को अखबारी भाषा एवं किस्सागोई शैली से बचाकर कलात्मक एवं जीवन्त बना दिया है ।

भीष्म जी के कथा साहित्य की विशेषता यह है कि उसमें कलात्मकता को बनाये रखकर अपने प्रगतिशील चिन्तन के संप्रेषण करने की क्षमता है । इसतरह एक ओर वे अन्य प्रगतिशील लेखकों केलिए आदर्श बन गए हैं तो दूसरी ओर ईर्ष्या के पात्र । क्योंकि आधुनिकता के भ्रम में पडकर कुछ लेखक जीवन के संस्पर्श से दूर होते जा रहे हैं । भीष्म जी के कथा साहित्य को उनके जीवन दर्शन का ही स्थापन कह सकते हैं । महानगर के मध्य-वर्गीय जीवन में पूंजीवादी व्यवस्था और उससे उत्पन्न आधुनिक सोच की वजह जो विकृतियाँ एवं विसंगतियाँ उभर रही हैं उनकी छानबीन करके भीष्म जी ने मध्यवर्ग का रचनात्मक बनाये रखने की भौतिक परिस्थितियों का इतिहास-सम्मत चित्रण किया है । साथ ही साथ लेखकीय संयम एवं विनम्रता उनकी रचनाओं में भी विद्यमान है । उनके कथा साहित्य में उनके वैज्ञानिक चिन्तन, इतिहासबोध एवं प्रगतिशील विचार के साथ लंबा जीवनानुभव ने भी स्थान पा लिया है । ये सब गुण उनके समकालीन अन्य कथाकारों और उनकी रचनाओं में प्रभावकारी रूप में नहीं दिखाई देते हैं । वास्तव में भीष्म जी सच्चें प्रतिबद्ध कथाकार हैं ।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1.	अक्षत की रेखायें प्र. सं. 1985	डा. इन्दुवशिष्ठ अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर-14.
2.	अठारह उपन्यास प्र. सं. 1981	राजेन्द्र यादव अक्षर प्रकाशन, दिल्ली ।
3.	अधूरे साक्षात्कार प्र. सं. 1960	नेमिचन्द्र जैन अक्षर प्रकाशन, दिल्ली-6.
4.	अपनी बात प्र. सं. 1989	डा. भीष्म साहनी वाणी प्रकाशन, दिल्ली ।
5.	अशोक के फूल बारहवाँ सं. 1978	आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1
6.	आँखिन देखी प्र. सं. 1981	सं. कमला प्रसाद वाणी प्रकाशन, दिल्ली-7.
7.	आईने के सामने प्र. सं. 1965	सं. मोहन राकेश अक्षर प्रकाशन, दिल्ली-6.
8.	आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व और कृतित्व - प्र. सं. 1977	डा. शैव्या झा अनुपम प्रकाशन, दिल्ली ।
9.	आज की हिन्दी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया - प्र. सं. 1971.	मधुरेश ग्रंथ निकेतन, पटना-6.

10	आज़ादी की कहानी प्र. सं. 1965	मौलाना आज़ाद ओरिएन्ट लौंगमेन्स लिमिटेड ।
11.	आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास प्र.सं. 1980	डा. रामविनोद सिंह अनुपम प्रकाशन, पटना-4.
12.	आधुनिक हिन्दी उपन्यास प्र.सं. 1975	सं. डा. नरेन्द्र मोहन मैकमिलन कम्पनी लिमिटेड ।
13.	आधुनिक हिन्दी गद्यसाहित्य प्र.सं. 1972	डा. हरदयाल आदर्श साहित्य प्रकाशन, दिल्ली-31.
14.	आधुनिक साहित्य तृ.सं. 1960	आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी भारती भंडार, इलाहाबाद ।
15.	आधुनिक हिन्दी काव्य में यथार्थवाद प्र.सं. 1960	डा. परशुराम शुक्ल "विरही" ग्रंथम, कानपुर-12.
16.	आधुनिक साहित्य और इतिहासबोध प्र. सं. 1982	डा. नित्यानन्द तिवारी वाणी प्रकाशन, दिल्ली-2.
17.	आधुनिक भावबोध की संज्ञा प्र. सं. 1972	अमृतराय हंस प्रकाशन, इलाहाबाद ।
18.	आधुनिक हिन्दी कहानी सं 1989	डा. लक्ष्मीनारायण लाल वाणी प्रकाशन, दिल्ली-2.
19.	आधुनिक हिन्दी कहानी प्र. सं. 1978	सं. डा. गंगाप्रसाद विमल मैकमिलन कम्पनी लिमिटेड ।
20.	आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में प्रगति चेतना - प्र. सं. 1972	डा. लक्ष्मणदत्त गौतम कोणार्क प्रकाशन, दिल्ली-7.

21.	आधुनिकताबोध और आधुनिकीकरण प्र. सं. 1969	डा. रमेश कुंतल मेघ अक्षर प्रकाशन, दिल्ली-2.
22.	आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य : मूल्यों से प्रयाण - प्र. सं. 1980	डा. रघुवीर सिन्हा शकुन्तला सिन्हा। मैकमिलन कम्पनी लिमिटेड ।
23.	आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ छठा सं. 1983	डा. नामवर सिंह लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1.
24.	आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता - प्र. सं. 1977	नवल किशोर प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली-26.
25.	इतिहास और आलोचना प्र. सं. 1982	डा. नामवर सिंह राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।
26.	इतिहास विचारधारा और साहित्य प्र. सं. 1983	डा. राजेश्वर सक्सेना कोणार्क प्रकाशन, दिल्ली ।
27.	उपन्यास का सिद्धान्त सं. 1981	जार्ज लुकाच मैकमिलन कम्पनी ओफ इंडिया लिमिटे
28.	उपन्यास समीक्षा के नए प्रतिमान प्र. सं. 1987	डा. दंगल झाल्टे वाणी प्रकाशन, दिल्ली-2.
29.	उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा प्र. सं. 1976	डा. परमानन्द श्रीवास्तव नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।
30.	एक दुनिया समानान्तर तृ. सं. 1974	राजेन्द्र यादव अक्षर प्रकाशन दिल्ली-6.

31. एक साहित्यिक की डायरी — गजानन माधव मुक्तिबोध
सं० 19 — भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली ।

32. कथारंग — डा. सुरेन्द्र तिवारी
प्र. सं. 1987 — किताबघर, दिल्ली-1

33. कथा विवेचन और गद्यशिल्प — डा. रामविलास शर्मा
प्र. सं. 1982 — वाणी प्रकाशन, दिल्ली-2.

34. कमलेश्वर — सं. मधुकर सिंह
प्र. सं. 1977 — शब्दकार, दिल्ली ।

35. कवि की दृष्टि — भारतभूषण अग्रवाल
प्र. सं. 1977 — मैकमिलन कम्पनी ओफ इन्डिया लिमिटेड ।

36. काव्यालोचन की समस्यायें — डा० विजेन्द्र नारायण सिंह
प्र. सं. 1985 — वाणी प्रकाशन, दिल्ली-2.

37. काव्य के रूप — डा. गुलाब राय
च. सं. 1958 — आत्मराम एण्ड सन्ज़, दिल्ली ।

38. कहानी : स्वरूप और संवेदना — राजेन्द्र यादव
द्वि. सं. 1977 — नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।

39. कहानी : नई कहानी — डा० नामवर सिंह
प्र. सं. 1966 — लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

40. कुछ विचार — प्रेमचन्द
सं. 1961 — सरस्वती प्रेस, बनारस ।

41. क्योंकि समय एक शब्द है — डा. रमेश कुंतल मेघ
प्र. सं. 1975 — लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

42. गद्य की सत्ता — डा. रामस्वरूप चतुर्वेदी
प्र. सं. 1977 — मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लिमिटेड ।

43. चिन्तामणी- ।।। — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (सं. नामवर सिंह)
प्र. सं. 1983 — राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

44. तीसरा यथार्थ — डा. शंभुनाथ
प्र. सं. 1984 — प्रभा प्रकाशन, इलाहाबाद ।

45. दर्शन, साहित्य और आलोचना — बेलिंस्की
सं. 1958 — पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।

46. रूपांतर — डा. नरेन्द्र मोहन
प्र. सं. 1985 — किताबघर, दिल्ली ।

47. नयी कविता: स्वरूप और समस्यायें — डा. जगदीश गुप्त
द्वि. सं. 1969 — भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ।

48. नयी कहानी सन्दर्भ और प्रकृति — सं. देवीशंकर अवस्थी
प्र. सं. 1973 — राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-।

49. नई कहानी की भूमिका — कमलेश्वर
सं. 1978 — शब्दकार, दिल्ली ।

50. नई कहानी के विविध प्रयोग — डा. पांडेय शशिभूषण "शीतांशु"
प्र. सं. 1974 — लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

51.	नया साहित्य : नए प्रश्न तृ० सं० 1963	आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी विद्यामन्दिर, वाराणसी ।
52.	परिवेश की चुनौतियाँ और साहित्य प्र. सं. 1984	हेतु भारद्वाज पंचशील प्रकाशन, जयपुर ।
53.	प्रगतिवाद प्र. सं. 1966	डा. शिवकुमार मिश्र राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।
54.	प्रगतिवादी हिन्दी उपन्यास प्र. सं. 1987	डा. बदरी प्रसाद ओम प्रकाशन, दिल्ली ।
55.	प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड प्र. सं. 1954	डा. रांगेय राघव सरस्वती पुस्तक मन्दिर, आगरा ।
56.	प्रगतिशील आलोचना सं. 1962	डा. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव साहित्य भवन, इलाहाबाद ।
57.	प्रगतिवाद और समानान्तर साहित्य प्र. सं. 1978	रेखा अवस्थी मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लि
58.	प्रगतिवाद की रूपरेखा सं. 1952.	मन्मथनाथ गुप्त आत्माराम एण्ड सन्ज़, दिल्ली ।
59.	प्रश्न और प्रसंग प्र. सं० 1988	प्रतीप पंत सुनिल साहित्य सदन, दिल्ली ।
60.	प्रेमचन्द और समसामयिक हिन्दी कथा साहित्य - प्र. सं. 1983	डा. कुंवरपाल सिंह धरती प्रकाशन, बीकानेर ।

61.	प्रेमचन्द परिचर्चा सं. 1979	सं. कल्याण मल लोढ़ा लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।
62.	प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि प्र. सं. 1968	डा. सत्यपाल चुघ इकाई प्रकाशन, इलाहाबाद ।
63.	प्रेमचन्द का नया सौन्दर्य शास्त्र प्र. सं. 1982	डा. नन्दकिशोर नवल संभावना प्रकाशन, हापुड़ ।
64.	प्रेमचन्द : विरासत का सवाल प्र. सं. 1981	डा. शिवकुमार मिश्र पीपुल्स लिटेरसी, दिल्ली ।
65.	बकलम खुद प्र. सं. 1974	मोहन राकेश राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली ।
66.	बातों बातों में प्र. सं. 1983	मनोहरश्याम जोशी राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।
67.	बिन्दु प्रति बिन्दु प्र. सं. 1984	डा. विश्वंभरनाथ उपाध्याय पंचशील प्रकाशन, दिल्ली ।
68.	भारतीय साहित्य कोश प्र. सं. 1981	सं. डा. नगेन्द्र नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।
69.	भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास तृ. सं. 1986	रामगोपाल सुलभ प्रकाशन, लखनऊ ।
70.	भारत विभाजन और हिन्दी उपन्यास प्र. सं. 1981	डा. हरियश अनन्य प्रकाशन, दिल्ली ।

71. भारत का राजनीतिक इतिहास — राजकुमार
सं. 1962 — हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी ।

72. भारतीय नारी : दशा , दिशा — आशारानी व्होरा
प्र. सं. 1983 — नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।

73. भाषा और संवेदना — डा. रामस्वरूप चतुर्वेदी
प्र. सं. 1964 — भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी ।

74. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना — सं. डा. राजेश्वर सक्सेना - प्रताप ठाकुर
प्र. सं. 1982 — वाणी प्रकाशन, दिल्ली ।

75. मध्यवर्गीय चेतना और हिन्दी उपन्यास — भूपसिंह भूपेन्द्र
प्र. सं. 1987 — श्याम प्रकाशन, जयपुर ।

76. मार्क्सवाद — यशपाल
सं. 1954 — विप्लव कार्यालय, लखनऊ ।

77. मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन : इतिहास तथा सिद्धांत - प्र. सं. 1973 — डा. शिवकुमार मिश्र
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल ।

78. मानक हिन्दी कोश — सं. रामचन्द्र वर्मा
प्र. सं. 1965 — साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

79. मोहन राकेश : सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि - प्र. सं. 1975 — मोहन राकेश
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली ।

80. रेखायें और चित्र — उपेन्द्रनाथ अश्क
सं. 1955 — नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद ।

81. राष्ट्रीयता और समाजवाद — आचार्य नरेन्द्र देव
द्वि. सं. 1973 — ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी ।

82. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध — आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
प्र. सं. 1965 — विद्यमन्दिर, वाराणसी ।

83. विचार और अनुभूति — डा. नगेन्द्र
च. सं. 1965 — नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।

84. विचार और वितर्क — आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी
सं० 1966 — सुषमा मन्दिर, जबलपुर ।

85. विद्रोह और साहित्य — सं. डा. नरेन्द्र मोहन, देवेन्द्र इस्सर
प्र. सं. 1974 — साहित्य भारती, दिल्ली ।

86. विश्व इतिहास की झलक — जवाहरलाल नेहरू
तृ. सं. 1962 — सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली ।

87. शाश्वती — अज्ञेय
प्र. सं. 1979 — राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली ।

88. संकलित रचनायें - । — मार्क्स, एंगेल्स
प्रगति प्रकाशन, मास्को ।

89० संस्कृति के चार अध्याय — डा. रामधारी सिंह दिनकर
तृ. सं. 1962 — उदयाचल प्रकाशन, पाटना ।

90. संवाद सेतु — गिरिराज किशोर
प्र. सं. 1983 — नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।

91. समकालीन साहित्य : एक नयी दृष्टि — डा. इन्द्रनाथ मदान
प्र. सं. 1977 — लिपि प्रकाशन, दिल्ली ।

92. समकालीन हिन्दी उपन्यास की भूमिका — डा. रणवीर रांग्रा
प्र. सं. 1986 — जगत्राम एण्ड सन्ज़, दिल्ली ।

93. समकालीन कहानी : समान्तर कहानी — डा. विनय
द्वि. सं. 1977 — मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लिमिटेड

94. समकालीन नाटककार — गिरीश रस्तोगी
प्र. सं. 1982 — लिपि प्रकाशन, दिल्ली

95. समकालीन लेखन : एक वैचारिकी — डा. चन्द्रभान रावत,
प्र. सं. 1982 — डा. रामकुमार खण्डेलवाल
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।

96. समकालीन कहानी युगबोध का सन्दर्भ — डा. पुष्पपाल सिंह
प्र. सं. 1986 — नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।

97. समानान्तर — रमेशचन्द्र शाह
सं. 1973 — सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद ।

98. सह:चिन्तन — अमृत राय
प्र. सं. 1967 — सर्जना प्रकाशन, इलाहाबाद ।

99. साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास — डा. पारुकांत देसाई
प्र. सं. 1984 — सूर्य प्रकाशन, दिल्ली ।

100. साहित्यिक साक्षात्कार — डा. रणवीर रांग्रा
प्र. सं. 1978 — पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली ।

101.	साहित्य और यथार्थ प्र. सं. 1984	हावर्ड फास्ट पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली ।
102.	साहित्य और सामाजिक मूल्य प्र. सं. 1985	डा॰ हरदयाल विभूति प्रकाशन, दिल्ली ।
103.	साहित्य का समाजशास्त्र प्र. सं. 1982	डा. नगेन्द्र नेशन पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।
104.	साहित्य और समाज : परिवर्तन की प्रक्रिया में - प्र. सं. 1985	सं. अज्ञेय नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।
105.	साहित्य : अध्ययन की दृष्टियाँ प्र. सं. 1980	सं. उदयभानु सिंह आदि नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।
106.	साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति प्र. सं. 1988	आचार्य नरेन्द्र देव प्रभात प्रकाशन, दिल्ली ।
107.	साहित्यः विधाओं की प्रकृति प्र. सं. 1981	सं. देवीशंकर अवस्थी मैकमिलन कम्पनी ओफ इंडिया लिमिटेड
108.	सिक्का बदल गया सं. 1975	सं. डा. नरेन्द्र मोहन सीमान्त पब्लिकेशनस, दिल्ली ।
109.	सिलसिला प्र. सं. 1979	मधुरेश प्रकाशन संस्थान, दिल्ली ।
110.	स्त्री : देह की राजनीति से देश की राजनीति तक - प्र. सं. 1987	मृणाल पांडे राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली ।

111.	स्मृति लेखा प्र. सं. 1982	अज्ञेय नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।
112.	हमारा राष्ट्रीय अन्दोलन तथा संवैधानिक विकास - तृ. सं. 1968	डा. रामानन्द अग्रवाल मेट्रोपोलिटिन बुक कम्पनी (प्र) लिमिटेड, दिल्ली ।
113.	हम हशमत प्र. सं. 1982	कृष्णा सोबती राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।
114.	हस्तक्षेप प्र. सं. 1979	धनंजय वर्मा विद्या प्रकाशन मन्दिर, दिल्ली ।
115.	हिन्दी उपन्यास : उत्तरशती की उपलब्धियाँ - प्र. सं. 1983	डा. विवेकी राय राजीव प्रकाशन, इलाहाबाद ।
116.	आधुनिक हिन्दी कहानी में प्रगति चेतना - प्र॰ सं. 1978	डा॰ लक्ष्मणदत्त गौतम कोणार्क प्रकाशन, दिल्ली ।
117.	हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास - च. सं. 1974	डा. लक्ष्मी नारायण लाल साहित्य भवन, इलाहाबाद ।
118.	हिन्दी साहित्याब्द कोश (1973)	सं. देवेन्द्रनाथ शर्मा, गोपाल ग्रंथ निकेतन, पाटना
119.	हिन्दी साहित्य और उसका उद्भव और विकास - सं. 1952	आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी यू. सी. कपूर एण्डसन्ज़, दिल्ली ।
120.	हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद प्र. सं. 1947	विजयशंकर मल्ल सरस्वती मन्दिर, बनारस ।

121. हिन्दी समीक्षा : स्वरूप और सन्दर्भ — डा. रामदरश मिश्र
प्र० सं. 1974 — मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लिमिटेड

122. हिन्दी कहानी के आन्दोलन, उपलब्धि और सीमायें - प्र. सं. 1966 — डा. रजनीश कुमार
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।

123. हिन्दी कथा साहित्य में भारत विभाजन — डा. हेमराज निर्मम
प्र. सं. 1987 — संजय प्रकाशन, दिल्ली ।

124. हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ — डा. शशिभूषण सिंहल
प्र. सं. 1970 — विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा ।

125. हिन्दी उपन्यास : अन्तरंग पहचान — डा. प्रेमकुमार
प्र. सं. 1983 — गिरनार प्रकाशन, महेसाना ।

126. हिन्दी उपन्यास का परिचयात्मक इतिहास - प्र. सं. 1967 — डा. प्रताप नारायण टंडन
विवेक प्रकाशन, लखनऊ ।

127. हिन्दी साहित्य का इतिहास — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
सं. 1962 — नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

128. हिन्दी साहित्य का इतिहास — सं. डा. नगेन्द्र
सं. 1979 — नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।

129. हिन्दी साहित्य का अस्सी वर्ष — शिवदान सिंह चौहान
द्वि. सं. 1961 — राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

130. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद — डा. त्रिभुवन सिंह
च. सं. 1965 — हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी ।

131.	हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष प्र. सं. 1984	सं. डा. रामदरश मिश्र गिरनार प्रकाशन, महेसाना
132.	हिन्दी उपन्यास : पहचान और परख प्र. सं. 1973	सं. डा॰ इन्द्रनाथ मदान लिपी प्रकाशन, दिल्ली
133.	हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा द्वि. सं. 1982	डा. रामदरश मिश्र राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।
134.	हिन्दी उपन्यास साहित्य का विकास प्र. सं. 1962	डा. एस. एन. गणेशन राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली ।
135.	हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - प्र. सं. 1986	डा॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।
136.	हिन्दी साहित्यकोश-1 द्वि. सं. 1963	सं. डा. धीरेन्द्र वर्मा ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी ।
137.	हिन्दी वाङ्मय : बीसवी शती प्र. सं. 1975	सं. डा. नगेन्द्र विनोद पुस्तक मन्दिर, आग्रा ।
138.	हिन्दी उपन्यास का शास्त्रीय विवेचन प्र. सं. 1961	डा. श्रीनारायण अग्निहोत्री सरस्वती पुस्तक सदन, आग्रा ।
139.	हिन्दी उपन्यास साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन - प्र. सं. 1972	डा. रमेश तिवारी रचना प्रकाशन, इलाहाबाद ।
140.	हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और विवेचन - प्र. सं. 1963	सं. डा. महेन्द्र, डा. माखनलाल शर्मा साहित्य रत्न भंडार, आग्रा ।

141. हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास — डा. सुरेश सिन्हा
प्र. सं. 1965 — अशोक प्रकाशन, दिल्ली ।

142. हिन्दी साहित्य : आधुनिक परिदृश्य — अज्ञेय
प्र. सं. 1967 — राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली ।

143. हिन्दी उपन्यास में मध्यवर्ग — डा. मंजुलता सिंह
प्र. सं. 1971 — आर्य बुक डिप्पो, नई दिल्ली ।

144. हिन्दी उपन्यास : महाकाव्य के स्वर — डा. शान्तिस्वरूप गुप्त
प्र. सं. 1971 — अशोक प्रकाशन, दिल्ली ।

145. हिन्दी उपन्यास : युगचेतना और पाठकीय संवेदना - प्र. सं. 1970 — डा. मुकुन्द द्विवेदी
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

<u>सृजनात्मक ग्रंथ</u>

1.	अमृत और विष	अमृतलाल नागर
2.	काले कोस	बलवंत सिंह
3.	पार्टी कामरेड	यशपाल
4.	मुर्दों का टीला	रांगेय राघव
5.	युद्ध और शान्ति	गुरुदत्त
6.	लौटे हुए मुसाफिर	कमलेश्वर
7.	विस्मृत यात्री	राहुल सांकृत्यायन
8.	सत्तीमैया का चौरा	भैरवप्रसाद गुप्त
9.	सीधी सच्ची बातें	भगवतीचरण वर्मा
10.	स्वराज्य दान	गुरुदत्त

भीष्म साहनी की सृजनात्मक कृतियाँ

उपन्यास

झरोखे

कड़ियाँ

तमस

बसन्ती

मय्यादास की माडी

कहानी संग्रह

भाग्यरेखा

पहला पाठ

भटकती राख

पटरियाँ

वाड्चू

शोभायात्रा

निशाचर

पाली

नाटक

हानूश

कबिरा खड़ा बाज़ार में

माधवी

1.	Advanced Study in the History of Modern India - Vol.II(1813-1919) Edition - 1971	Dr.G.S.Chhabra Sterling Publishers (P) Ltd., New Delhi.
2.	Ajayakumar Gosh and Communist Movement in India - Edition-1987	Pyoter Kulsobin Sterling Publishers (P) Ltd., New Delhi.
3.	Anti-Dühring Edition - 1978	Marx - Engels Peoples Publishing House, Moscow.
4.	An Introduction to the English Novel - Vol.I - Edition-1969	Arnold Kettle Hutchinson & Co. Ltd., London.
5.	Art and Social Life Edition - 1953	G.V.Plekhanov Peoples Publishing House, Bombay.
6.	Comparative Literature Edition - 1951	H.Levin
7.	Discovery of India Edition - 1985	Jawaharlal Nehru Oxford University Press, London.
8.	Documents of Modern Literary Realism - Edition - 1963	George.J.Becken Princeton Press, London.

9.	India and Pakistan Edition - 1973	V.B.Kulkarni Jaico Publishing House, Bombay.
10.	India and World Civilization Vol.II - Edition - 1984	D.P.Singal Rupa & Co., Calcutta.
11.	India : Curzon to Nehru and After - Edition - 1969	Durga Das Collins, St.James Place, London.
12.	Manifesto of the Communist Party - Edition - 1977	Marx & Angels Progress Publishers, Moscow.
13.	Marxist Philosophy Edition - 1980	V.G.Afanasyev Progress Publishers, Moscow.
14.	Modern Hindi Short Story Edition - 1974	Editors - Mahendra Kulasresh & Others, National Publishin House, Delhi.
15.	Modern India Edition - 1984	Bipin Chandra National Counsil of Education & Training, New De

16. Modern Reference Encyclopedia - Vol.16 - Grolier Universal Encyclopedia.

17.	Mount Batten and Partition of India - Edition - 1982	Larry Collins & Dominique Lapierre, Vikas Publishing House (P) Ltd., New Delhi.

18. Novel and the People — Ralf Fax
Edition - 1956 — Foreign Language Publish: House, Moscow.

19. On Literature — Maxim Gorkey
Edition - 1976 — Foreign Language Publish: House, Moscow.

20. The Art of Fiction — Henry James
Edition - 1934

21. The Concise Encyclopedia of World History - Edition - 1978 — Editor - John Bowle

22. The New Encyclopedia of Britanica - Vol.26 - Edition - 1985.

23. The Progress of Romance — Clarra Reave

24. The Rise of the Novel — Lan Watt
Edition - 1967 — Chatto and Windus Ltd., London.

25. The Theory of Novel — Philip Sterick
Edition - 1967 — Macmillian, New York.

26. Time and the Novel — Editor - A.A.Mandilow
Edition - 1952

28. The Craft of Fiction — Percy Lubback
Edition - 1933

-पत्रिकायें

आजकल

आलोचना

गगनांचल

गवाह

दस्तावेज़

दीर्घा

नई कहानी

भाषा

संचेतना

11. समीक्षा

12. सारिका

13. समकालीन भारतीय साहित्य

14. इंडिया टुडे (मलयालम)

15. इंडिया टुडे (अंग्रेज़ी)

16. वीक (अंग्रेज़ी)

17. इलस्ट्रेटड वीक्ली ऑफ इंडिया (अंग्रेज़ी)

18. कलाकामुदा [illegible]मम)

19. इंडियन एक्सप्रस (अंग्रेज़ी)

20 नवभारत टाइम्स